युगनिर्माता सत्यार्थप्रकाश सन्दर्भ दर्पण

प्रो॰ उमाकान्त उपाध्याय

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित ग्रन्थरत्न 'सत्यार्थप्रकाश' युगान्तरकारी, युगनिर्माता, विश्वधर्म-विचार-कोष है। ग्रन्थ के निर्माण की कथा जैसी चित्त-रमणीय है, उससे अधिक रमणीय है इसके प्रचार-प्रसार की कहानी। प्रशासनिक एवं साम्प्रदायिक झञ्झावात प्रचण्ड आक्रान्ता का रूप लेकर घनघोर गर्जन-तर्जन के साथ आते रहे और यह कालजयी ग्रन्थ, सर्वथा अडिग, धीर-वीर-गम्भीर सब कुछ झेल गया, साथ ही अप्रतिम तीव्र गति से निरन्तर आगे ही आगे बढ़ता गया।

विरोधियों ने भी लेखनी उठाई किन्तु महर्षि भक्तों की प्रकाण्ड विद्वत्ता के सम्मुख सभी ने हथियार डाल दिये।

प्रो० उमाकान्त उपाध्याय ने इन सभी प्रसङ्गों को प्रामाणिक रूप में एवं सुरुचि पूर्ण शैली में इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। प्रो० उपाध्याय ने अनेकों ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं, रिपोर्टों के आधार पर इन प्रसङ्गों पर प्रकाश डाला है। सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में, सामान्यरूप से, अनेक ज्ञातव्य प्रसङ्ग इस ग्रन्थ से ज्ञात हो जाँयगे। ग्रन्थ का यह सन्दर्भ-दर्पण, प्रो० उपाध्याय के प्रयास से ज्ञातव्य-मात्र का ज्ञान कराने में सक्षम है।
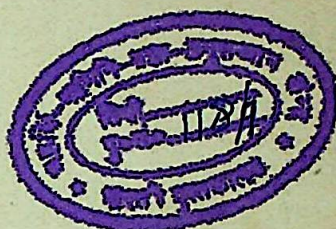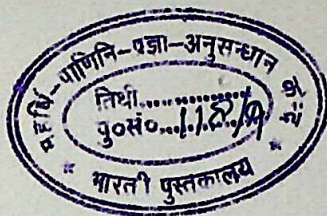
युगनिर्माता सत्यार्थप्रकाश : सन्दर्भ दर्पण

युगनिर्माता सत्यार्थप्रकाश
सन्दर्भ दर्पण
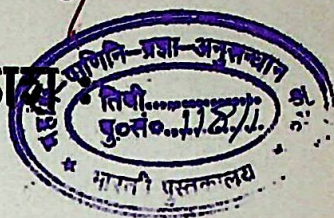
डा० प्रज्ञा देवी व्याकरणाचार्या
गुरुकुल- पाणिनी कन्या विद्यालय
को सादर समर्पित

[illegible signature]
उपमंत्री

लेखक :
प्रो० उमाकान्त उपाध्याय
आचार्य
आर्यसमाज कलकत्ता

प्रकाशक :
आर्यसमाज कलकत्ता
19, विधान सरणी
कलकत्ता-6

प्रकाशक :

यशपाल वेदालंकार
मन्त्री, आर्यसमाज कलकत्ता
19, विधान सरणी, कलकत्ता-700 006

प्रकाशन तिथि :
20 दिसम्बर 1990

मूल्य : सत्तर रुपये

मुद्रक :
चन्द्रकान्त झा
एसोशियेटेड आर्ट प्रिण्टर्स
7/2, बीडन रो, कलकत्ता-6

समर्पण

महर्षिभक्तों, सत्यार्थप्रकाश के
अध्येताओं, नई पीढ़ी के
उपदेशक-प्रचारकों
की सेवा में
सादर सप्रेम
समर्पित

—उमाकान्त

सन्दर्भ-क्रम

सप्तम अध्याय :

अष्टम अध्याय :

आत्म-निवेदन

मैं 'सत्यार्थप्रकाश' का भक्त हूँ। कई बार इस ग्रन्थरत्न का स्वाध्याय किया है। कोई 10 वर्ष की मेरी आयु रही होगी, जब मेरे पूज्यचरण अग्रज, आचार्य, जीवन निर्माता-(आचार्य पं० रमाकान्तजी शास्त्री) ने यह ग्रन्थ मुझे पढ़ने के लिए दिया था। इसका प्रतिपद स्वाध्याय करता हूँ। कोई 30-35 वर्षों से विभिन्न समाजों में इसकी कथा करता आ रहा हूँ। इसमें व्याख्यात विषयों पर व्याख्यान देता आ आ रहा हूँ। उपदेशक विद्यार्थियों को कई वर्षों तक इसके कई अंश पाठ्यक्रम में पढ़ाता रहा हूँ। कई प्रिय शिष्यों को प्रतिपद पढ़ाने का सौभाग्य मिला है—ये शिष्य प्रायः बी० ए०, बी० काम० (आनर्स), एम० काम० के सुयोग्यतम विद्यार्थी रहे हैं। प्रायः अनेक बार, अनेक व्याख्या प्रसङ्गों पर, यह बात ध्यान में आती रहती थी कि सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में मोटी-मोटी सामान्य जानकारी कराने वाला कोई ग्रन्थ तैयार करना चाहिए। ये सूचनाएँ अनेकत्र बिखरी पड़ी हैं। उन्हें सन्दर्भक्रम से एकत्र कर देने से एक उपयोगी कार्य सम्पन्न हो जाता है।

ग्रन्थ-परिचय के कुछ स्थलों को छोड़कर, शेष सामग्री हमने विशाल साहित्य-उपवन से संकलित करके यह प्रयास प्रस्तुत किया है। यदि गुलदस्ते में सुन्दरता दिखाई पड़े, तो, यह प्रभुकृपा का प्रसाद एवं पूर्व विद्वान् मनीषी लेखकों के परिश्रमसाध्य साहित्यिक कार्यों के एकत्रीकरण की सुन्दरता है। मैं सभी विद्वानों का धन्यवादी हूँ, कृतज्ञ हूँ—नमः ऋषिभ्यः पूर्वेभ्यः।

ग्रन्थ परिचय लिखते समय लेखनी की नोक को कुछ अधिक तेज़ रखने का मन था। किन्तु युग की धारा देखकर मन मसोसने की सीमा तक संयम को साधना करता रहा हूँ। शान्ति और सुव्यवस्था के नाम पर निर्ममता से सत्य और न्याय का गला घोंटा जा रहा है। फिर तीव्रता की यथोचित उपेक्षा करके भी सन्दर्भों के साथ न्याय कर पाने का मन में सन्तोष है।

इस प्रकार के सन्दर्भ कार्यों में पूर्णता और सर्वशुद्धता का दावा मैं अपने सौभाग्य का अंश नहीं मानता। यह तो किसी और समानधर्मा ऋषिभक्त का प्राप्तव्य बन सके, मुझे इसीमें प्रसन्नता है। यथोपलब्ध सामग्री का यथाशक्ति-यथामति उपयोग करके भी कई स्थलों पर कई प्रकार की अपूर्णता का बोध बना रहा है। इस प्रकार के कार्य के गौरव के लिए यह ठीक भी है।

आर्यसमाज कलकत्ता ने इस व्ययसाध्य प्रकाशन कार्य को बड़ी उदारता एवं आत्मीयता से अंगीकार किया है। समाज ने इस प्रयास का प्रस्ताव बड़ी सहृदयता एवं उदारता से स्वीकार करके मुझे टाइपिस्ट भी दे दिया। मेरे लिए ग्रन्थ लिखने की समस्या तो थी, किन्तु, इसके प्रकाशन के लिए समाज ने आरम्भ से ही आश्वस्त कर रखा था। समाज के वर्त्तमान प्रधान श्री रुलियाराम गुप्त, मन्त्री श्री यशपाल वेदालङ्कार, भूतपूर्व प्रधान श्री सीताराम आर्य, मन्त्री श्री राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल, आदि सभी कार्यकर्त्ताओं का मेरे प्रति भरपूर सम्मान का भाव है। इतनी विकट मँहगाई के समय भी, इस पुस्तक को इतने सुन्दर आकर्षक रूप में प्रकाशित करके समाज ने मुझे तो कृतज्ञताबाधित किया ही है, साथ ही समाज की सुन्दर सेवा की है। आर्यसमाज कलकत्ता बधाई का पात्र है, अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं।

आदरणीय श्री गजानन्द आर्य, मन्त्री, परोपकारिणी सभा और प्रिय सत्यानन्द आर्य, उप-प्रधान, केन्द्रीय आर्य प्रतिनिधि सभा (दिल्ली) के माध्यम से मैंने कई सूचनाएँ एकत्र की हैं। ये दोनों सहोदर आर्यसमाज

के लिए समर्पित निधि हैं और मेरे स्नेहपात्र हैं। प्रभु इनकी श्रद्धा-भक्ति एवं समर्पण भावना को बनाये रखें, यह मंगल कामना है।

मेरी सेवा-शुश्रूषा में आयुष्मान् शिवकुमार चौधरी के योगदान के प्रति प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि यह गुरु-शिष्य का सम्बन्ध घनिष्ठतम बना रहे और प्रिय शिवकुमार का जीवन महिमामण्डित एवं आर्यसमाज के लिए समर्पित रहे।

मेरी पुत्रियों आयुष्मती राजश्री तथा मनीषा ने एवं पुत्र आयुष्मान् सदसस्पति ने ग्रन्थ की पाडुलिपि तैयार करने में तालिकाएँ बनाने और सूचियों की प्रतिलिपि करने में बड़ी श्रद्धा एव तन्मयता से कार्य किया है। प्रभु इनकी ऋषिभक्ति को चिरस्थायी रखें, यह आशीर्वाद है।

ग्रन्थ की सुन्दर छपाई और साजसज्जा के लिए श्री राजकुमार मल्लिक, पाण्डुलिपि तैय्यार करने और टाइप करने के लिए श्री श्यामलाल मौर्य, मुद्रण के लिए एसोशियेटेड प्रेस के श्री चन्द्रकान्त झा का धन्यवाद करता हूँ।

ज्ञात-अज्ञात कितने स्रोतों से सहयोग मिला है, सबके प्रति 'सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः' करके अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

'ईशावास्यम्'
P-30 कालिन्दी,
कलकत्ता-700089
पौष अमावास्या 2047 वि०
16-12-1990 ई०

विनत :
आर्यसमाज का सेवक
उमाकान्त उपाध्याय

प्रकाशकीय

सत्यार्थप्रकाश मानव-कल्याण हेतु अन्यतम ग्रन्थ है। यह युगान्तरकारी स्वामी दयानन्द सरस्वती की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें उनकी उत्कण्ठाओं और वैचारिक भावनाओं का प्रस्फुटन है। उनका संन्यासी मन स्वदेशी शासन, स्वदेशी वस्तुएँ, स्वदेशी भाषा—हिन्दी, नर-नारी समता, सामाजिक न्याय, मन्दिर-मसजिद-गिरजा के पाखण्ड, साम्प्रदायिक परस्पर विद्वेष आदि की पीड़ा से उद्वेलित हो रहा था। 'धर्म' शब्द का दुरुपयोग हो रहा था। इन सारे सामाजिक और साम्प्रदायिक प्रदूषणों के दूरीकरण हेतु सहृदय स्वामीजी ने कलम उठायी और सत्य-सत्य अर्थ को प्रकाश में लानेवाला ग्रन्थ—'सत्यार्थप्रकाश' लिख डाला। इसका प्रथम संस्करण प्रकाशक की भीरुता और अविवेक के कारण त्रुटिपूर्ण था। त्रुटियों का परिमार्जन दूसरे संस्करण में हो गया।

भारतवर्ष एक विशाल देश है। इसमें भाषाओं जैसी मत-सम्प्रदायों, की बहुलता है। अबतक देश की ऊर्जा और सारस्वत सम्पदा पारस्पारिक साम्प्रदायिक उलझनों में जूझ रही थी। मत-सम्प्रदाय बढ़ रहे थे।

जब यह युगान्तरकारी अमरग्रन्थ प्रकाश में आया तो हिन्दू, मुसलमान ईसाई, बौद्ध सभी तिलमिला उठे और इसपर टूट पड़े। ग्रन्थ में स्वामीजी की सम्यक् आलोचना और सम्यक् दर्शन उनके बुद्धि-विवेक के परे थी। अतः स्वामीजी को इनसे कई शास्त्रार्थ करने पड़े। स्वामीजी की

लेखनी आग उगलती थी और भाषण अग्निवर्षण करते थे। प्रभाव बढ़ता गया, समाज में मान्यता प्राप्त होने लगी। समर्थन के सङ्ग-सङ्ग विरोध भी बढ़ता गया और इतना बढ़ा कि इन्हें विषपान द्वारा मृत्यु की गोद में सुला दिया गया।

स्वामीजी को अपने इस कालजयी ग्रन्थ की उपादेयता पर इतना भरोसा और विश्वास था कि उन्होंने न केवल इसके प्रचार-प्रसार पर बल ही दिया बल्कि इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन के लिए किसी के साथ किसी समझौते पर राजी नहीं थे।

औषधियाँ रोगी को रोगमुक्त तो अवश्य करती हैं, किन्तु वे होती हैं कड़वी। इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश के बहुआयामी सिद्धान्त युगान्तरकारी तो अवश्य हैं किन्तु हैं वे अविद्या और मलिनता से आक्रान्त लोगों की मनःस्थिति के विरुद्ध। अतः इस पर सामाजिक और राजनीतिक प्रहार ही नहीं हुए, कोर्टों में मुकदमे भी चले, किन्तु ज्यों-ज्यों विरोध बढ़ता गया, इसकी गौरव-गरिमा प्रकाश में आने लगी। समाज सुधारक, देशोद्धारक ही नहीं, अपितु क्रान्तिकारियो के लिए भी यह प्रेरणा-उत्स रहा।

इस महामहिम ग्रन्थ की उपादेयता और लोकप्रियता क्रमशः बढ़ती गयी और इतनी बढ़ी कि अबतक यह देश-विदेशों की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में अनूदित हो चुका है और इसकी प्रायः बीस लाख प्रतियाँ बिक चुकी हैं। इनसे करोड़ों पिपासित जनमानस शान्ति-जलपान से तृप्त हो चुके हैं।

ग्रन्थ प्रणयन का लक्ष्य जनता में सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाशन करना, मानव मन्तव्यों की शिक्षा देना और चिरविस्मृत आर्ष परम्पराओं का उद्धार कर उन्हें पुनः प्रतिष्ठापित करना है। इसमें विषय-बाहुल्य है। इसमें विद्या है, वेदों और ऋषियों की शिक्षा है और है षड्दर्शनों का अभिनव दृष्टिकोण। अतः जनसाधारण में विषयवस्तु को सुबोध बनाने के लिए आवश्यकता है भाष्य, व्याख्या और टिप्पणियों की।

प्रस्तुत पुस्तक उस महिमामय ग्रन्थ का सन्दर्भ-दर्पण है। उस ग्रन्थ में निहित लक्ष्यों और उद्देशों की प्रयोजनीयता और व्याख्यावलोकन हेतु एक स्वच्छ दर्पण है। ग्रन्थ में निहित रहस्य-मञ्जूषा को खोलने की कुञ्जी है। यह अपने-आप में एक सर्व सूचना-सम्पन्न कोश है।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रो० उमाकान्त उपाध्याय के श्रम, स्वाध्याय, ऋषि-मन्तव्यों की मर्मज्ञता और व्याख्याकारिता का प्रतिफलन है। हम उनके प्रति सर्वात्मना कृतज्ञ हैं।

अन्य वस्तुओं के साथ पुस्तक मुद्रण और बन्धन सामग्रियों का भी मूल्य आसमान छू रहा है। फिर भी निम्नतम मूल्य रखने का प्रयास किया गया है।

सुज्ञ ऋषिभक्त और साहित्यप्रेमी इसे अपनाकर लाभान्वित होंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

विनीत :

रुलियाराम गुप्त	यशपाल वेदालंकार
प्रधान	मन्त्री

॥ ओ३म् ॥

युगनिर्माता सत्यार्थप्रकाश

सन्दर्भ दर्पण

प्रथम अध्याय

इस प्रयास की कथा

देश-विभाजन के पश्चात् साम्प्रदायिक तनाव में पर्याप्त कमी आ गयी थी। पाकिस्तान के इस्लामी राष्ट्र बन जाने के पश्चात् भारत के मुसलमानों ने धर्मनिरपेक्षता की नीति के साथ समझौता-सा कर लिया था, किन्तु भारत सरकार की तुष्टीकरण नीति से साम्प्रदायिक मुसल्मानों ने सरकार की राजनीतिक दुर्बलता का अनुमान लगा लिया और उन्हें निश्चय हो गया कि कांग्रेसी सरकार बड़ी दूर तक मुसलमानों के मतों को अपना "मत-बैंक" समझती है। शासक दल ने थोड़ी-थोड़ी साम्प्रदायिक सुविधाएँ देते-देते मुसलमानों का हौसला बढ़ा दिया और मृत-प्राय मुस्लिम लीग फिर से जीवित हो उठी।

आर्यसमाज सिद्धान्ततः विश्वव्यापक वैदिक धर्म का प्रचार करता है और इसी नाते स्वामी दयानन्द ने एक ईश्वर, एक धर्म और एक

ईश्वरीय ज्ञान का प्रचार किया। फलतः ईसाइयों और मुसलमानों के साथ कई सिद्धान्तों पर विवाद के मुद्दे बन गये। जिस तरह से ईश्वर के स्वरूप का वर्णन वेद में है, कुरान और बाईबिल में ईश्वर के उससे भिन्न स्वरूप का वर्णन है। इसी प्रकार वैदिक धर्म की जो मान्यताएँ हैं, ईसाई और मुसलमानों की मान्यताएँ उनसे भिन्न हैं। अतः ईश्वर का क्या स्वरूप है, धर्म का क्या स्वरूप है, ईश्वरीय ज्ञान वेद है या कुरान और बाईबिल, इत्यादि कई विवाद के मुद्दे बन गये। स्वामी दयानन्द के जीवन में भी कई बार ईसाइयों और मुसलमानों से शास्त्रार्थ हुए। इन शास्त्रार्थों में प्रायः नोक-झोंक की बातें आ जाना अस्वाभाविक न था, किन्तु उनसे झगड़ा या शत्रुता का रूप नहीं बनता था। कई उच्च विचारों के मुसलमान और ईसाई भी स्वामी दयानन्द को बड़े आदर-भाव और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। यह साम्प्रदायिक सहिष्णुता की बात थी।

एक ओर यदि साम्प्रदायिक सहिष्णुता थी तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक कट्टरता विरोध के रूप में भी कभी-कभी उजागर हो जाती थी। मुसलमानों और ईसाइयों ने हिन्दू धर्म और हिन्दू मान्यताओं के विरुद्ध पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं। स्वामी दयानन्द ने जब "सत्यार्थ प्रकाश" प्रकाशित किया था उससे पूर्व भी ईसाई और मुसलमानों ने हिन्दुओं के मत की आलोचना में तथा हिन्दुओं ने मुसलमान और ईसाई मत की आलोचना में छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी थीं, किन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने युगान्तरकारी अमर ग्रन्थ "सत्यार्थप्रकाश" में जहाँ हिन्दुओं, बौद्धों, जैनों आदि की समालोचना की, वहीं उन्होंने ईसाई और मुसलमान मान्यताओं की भी समालोचना की। इन समालोचनाओं का सुस्पष्ट रूप तो यह बना कि क्या हिन्दू, क्या जैन, क्या मुसलमान, और क्या ईसाई सब स्वामी दयानन्द के इस अपूर्व ग्रन्थ "सत्यार्थप्रकाश" पर टूट पड़े। सम्भवतः किसी एक ग्रन्थ के विरोध-समर्थन में इतने अधिक ग्रन्थ शायद ही निकले होंगे। इन सत्यार्थप्रकाश विरोधी

ग्रन्थों पर हम विचार अन्यत्र करेंगे।[1] यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि चाकू चाहे खीरे पर गिरे और चाहे खीरा चाकू पर गिरे दोनों दशाओं में कटता खीरा ही है। बिल्कुल इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश विरोधी ग्रन्थों से भी सत्यार्थ प्रकाश का इतना प्रचार और प्रसार हुआ जो सम्भवतः विरोधी ग्रन्थों के प्रकाशन के अभाव में हो पाता या नहीं, इसमें सन्देह है।

सत्यार्थप्रकाश पर राजनीतिक प्रहार हुए।[2] सत्यार्थप्रकाश पर कोर्टों में मुकदमे चले,[3] किन्तु ज्यों-ज्यों विरोध बढ़ता गया त्यों-त्यों ग्रन्थ का गौरव, महिमा और प्रचार-प्रसार भी बढ़ता गया। लाखों की संख्या में इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ, अनेकों भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। सत्यार्थप्रकाश के आयाम और विस्तार पर हम अन्यत्र विचार करेंगे।[4] यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि सत्यार्थप्रकाश अद्वितीय ग्रन्थ के रूप में जनप्रिय प्रमाणित हुआ। यह युगान्तरकारी, अमर और कालजयी ग्रन्थ प्रमाणित हुआ। समाज सुधार और देशोद्धार करने वालों के लिए यह धर्म ग्रन्थ और अनेक देशभक्त क्रान्तिकारियों के लिए प्रेरणा-स्रोत और आदर्श प्रदाता ग्रन्थ सिद्ध हुआ।[5]

सत्यार्थप्रकाश की यह जनप्रियता विरोधियों को खलती रही और कभी बौद्धिक, कभी राजनीतिक, कभी प्रशासनिक विरोध भी होते रहे, किन्तु जितना ही विरोध बढ़ता गया उतना ही ग्रन्थ का प्रचार भी बढ़ता गया। कहा जाता है कि प्रत्येक क्रिया की प्रति-

---

1. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ में सत्यार्थप्रकाश वाङ्मय अध्याय-6
2. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ में प्रशासनिक एवं साम्प्रदायिक आक्रमण, अध्याय-4
3 द्रष्टव्य—वही
4. द्रष्टव्य—सत्यार्थ प्रकाश का विस्तार, अध्याय-5
5. द्रष्टव्य—अमर शहीद रामप्रसाद 'बिस्मिल' की आत्मकथा। बिस्मिल काल कोठारी में भी इसे अपने पास रखते थे और जिन दिनों वे फाँसी की सज़ा की प्रतीक्षा कर रहे थे, उस समय काल कोठरी में भी वे सत्यार्थप्रकाश का स्वाध्याय किया करते थे।

क्रिया बराबर की शक्ति लेकर होती है। किन्तु सत्यार्थप्रकाश के विरोध की प्रतिक्रिया ग्रन्थ के अनुकूल कहीं अधिक सिद्ध हुई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् साम्प्रदायिक तनाव एक बार कुछ घटा। हम इसी अध्याय में लिख आये हैं कि शासन की तुष्टीकरण नीति और उनके 'मत-बैंक' के महत्त्व ने मुसलमानों का साम्प्रदायिक हौसला फिर बढ़ा दिया। जो हौसला आजादी से पूर्व न था, वह विभाजन के पश्चात् दिखाई पड़ा।

कलकत्ता की घटना

यहाँ कलकत्ता में आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव पिछले लगभग 35-40 वर्षों से स्थानीय मोहम्मद अली पार्क में होता आ रहा है। इस पार्क का नाम तो है ही मोहम्मद अली पार्क। इसमें मुसलमानों के अखाड़े और खेलने के संगठन आदि भी हैं। बड़ी मस्जिद और मुसलमानी अञ्चल के समीप तो यह पार्क है ही, फिर भी स्वतन्त्रता से पूर्व या पश्चात् कोई उल्लेखनीय तनाव इस पार्क में नहीं हुआ था। एक वर्ष जब इस सम्पूर्ण अञ्चल में धारा 144 लगी हुई थी, उस वर्ष भी हमारे आग्रह पर इस पार्क को 144 धारा से मुक्त कर दिया गया था और बड़ी शान्ति और सद्भावना के वातावरण में हमारा 9 दिनों का वार्षिकोत्सव रात 10 बजे तक आनन्द और उल्लास से चलता रहा। न हमें कोई शिकायत हुई, न मुहल्ले वालों को ही कोई शिकायत हुई थी।

क्षोभ का प्रथम अनुभव :

हमें क्षोभ का प्रथम अनुभव तब हुआ जब मुसलमान नेताओं और मौलवियों ने हमारे विरुद्ध सामूहिक रूप से योजनाबद्ध प्रोग्राम बनाया। घटना यों हुई कि सन् 1985 ई० के दिसम्बर मास में आर्यसमाज कलकत्ता की 'स्थापना-शताब्दी' विक्टोरिया मेमोरियल के सामने वाले बड़े मैदान के उत्तरी छोर पर बड़े विस्तृत रूप में मनाई जा रही थी। पश्चिम बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल श्री उमाशंकरजी दीक्षित शताब्दी महोत्सव

का उद्घाटन करने और केन्द्रीय मन्त्री श्री हरकिशन लालजी भगत उद्बोधन भाषण करने आये थे। आर्यसमाज के देश के मूर्धन्य दर्जनों विद्वान् और नेता उपस्थित थे। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्कालीन प्रधान लाला रामगोपाल जी शालवाले वानप्रस्थ भी आये हुए थे। एक अविस्मरणीय आनन्द और उल्लास का वातावरण उपस्थित हो गया था। वस्तुतः हम आर्यसमाज कलकत्ता की स्थापना शताब्दी के अवसर पर आनन्द और उल्लास के भाव से भरे हुए थे। इसी बीच अगले दिन प्रातःकाल हमको सूचना मिली कि कलकत्ता पुलिस के लोगों से स्थानीय मुस्लिम नेताओं ने शिकायत की है कि हमारी शताब्दी के बुक स्टालों पर प्रतिबन्धित पुस्तकें खुले रूप में बिक रही हैं। यह साम्प्रदायिक दबाव कुछ इतने ऊपर से था कि पुलिस ने तुरन्त ही हमारे पण्डाल की दुकानों पर छापा मारा, किन्तु उन्हें आपत्तिजनक कोई भी वस्तु न मिली : कोई 5-10 पृष्ठों की ट्रेक्ट भी न मिली जिसपर कोई आपत्ति हो सकती थी। पुलिस ने तीन बार आगे भी छापे मार लिये थे, चौथी बार जब कोई बड़े अधिकारी अपने दल बल के साथ आये तो उस समय पुस्तकों की पहली दुकान के सामने मैं—उमाकान्त उपाध्याय—खड़ा था। प्रातःकाल हम यज्ञ से उठे थे और उस समय डा० सत्यकेतु जी विद्यालंकार तात्कालिक कुलाधिपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय और श्री वीरेन्द्र जी, पंजाब और दिल्ली के प्रसिद्ध नेता और पत्रकार हमसे बातें कर रहे थे। आते ही पुलिस अधिकारी से हमारी बातें आरम्भ हो गयीं। चूंकि यह उनकी ओर से चौथी बार छापे का प्रयास था अतः उन्हें संकोच और हमें ऊष्मा, क्षोभ हो रहा था। मैंने ललकारने की भाषा में जब बातें कीं और यह बताया कि ये विश्वविद्यालय के चांसलर और अखिल भारतीय नेता लोग हैं तो पुलिस अधिकारी सज्जनता के साथ हमारा बयान नोट करके चले गये। फिर शताब्दी के उत्सव पर कोई अवाञ्छनीय क्षोभकारी कार्य न हुआ।

क्षोभ की अति हो गयी :

सन् 1986 ई० के दिसम्बर मास के अन्तिम दिनों में आर्यसमाज कलकत्ता का वार्षिकोत्सव मोहम्मद अली पार्क में ही हो रहा था। 9 दिनों का महोत्सव था। 2-3 दिन बीत चुके थे और उस दिन अपराह्ण में महिला सम्मेलन हो रहा था, उन्हीं असन्तुष्ट मुसलमान नेताओं ने पुलिस से शिकायत कर रखी थी कि "सत्यार्थप्रकाश" पर प्रतिबन्ध है और वह पुस्तक पार्क में खुलेआम बिक रही है। पुलिस को यह भी कहा गया था कि बड़ी मस्जिद में चार-पाँच सौ मुसलमान पण्डाल पर हमला करने के लिये तैयार बैठे हैं। पुलिस के अधिकारियों ने प्रतिबन्ध की बिना कोई जाँच-पड़ताल किये सत्यार्थप्रकाश की 37-38 प्रतियाँ पण्डाल स्थित पुस्तक की दुकानों से उठा लीं और उन्हें लेकर चले गये। हम लोगों को सूचना मिली। आर्यसमाज के अधिकारी और स्थानीय विधायक श्री देवकी नन्दन पोद्दार, लाल बाजार पुलिस मुख्यालय में गये, पुलिस कमिश्नर से बातचीत हुई, और हम लोगों ने उन्हें बताया कि सत्यार्थप्रकाश प्रसिद्ध धर्मसुधारक स्वामी दयानन्दजी महाराज का अमर ग्रन्थ है। यह हम आर्यसमाजियों का धर्मग्रन्थ है। अपने साप्ताहिक सत्संगों में हम इसकी कथा करते हैं। इस पर कभी प्रतिबन्ध नहीं लगा है। सौ सालों से अधिक पुरानी पुस्तक है। इसकी लाखों प्रतियाँ बिक चुकी हैं। संसार की सभी प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है और सम्पूर्ण संसार में जहाँ कहीं भी आर्यसमाज का संगठन है वहाँ सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाजियों के धर्मग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है और कभी भी इस धर्मग्रन्थ पर प्रतिबन्ध नहीं लगा है। पुलिस अधिकारियों को झूठी सूचना पर खीझ भी आई, अपने कार्य पर खेद भी हुआ।

पुलिस कमिश्नर ने पुलिस की ओर से खेद व्यक्त किया और बातों-बातों में ही हमें यह समझ में आ गया कि इसमें बड़ी मस्जिद के इमाम के साथ राजनीति के भी प्रतिष्ठित लोग लगे हुए हैं। अस्तु,

पुलिस कमिश्नर ने पुलिस के कार्य के लिये खेद प्रकाश किया और सत्यार्थप्रकाश की पुस्तकों को आदर के साथ हमारे पण्डाल में वापस भेज दिया। हमने बड़े उत्तेजनापूर्ण वातावरण में जनता को सम्भाला और पुलिस के खेद प्रकाश की सूचना के साथ मञ्च के ऊपर जयजयकार के नारों के साथ सत्यार्थप्रकाश की पुस्तकों को उसी रात 9 बजे आदर के साथ वापस लिया। विरोध में चेष्टा करने वाले साम्प्रदायिक तत्त्वों को मुँह की खानी पड़ी और सत्यार्थप्रकाश की सैकड़ों प्रतियाँ देखते-देखते बिक गयीं। इस घटना के बाद हमारा उत्सव 4-5 दिन और चलता रहा किन्तु किसी ने कोई आपत्ति न की। एक स्थानीय मुस्लिम पत्र ने साम्प्रदायिकता से भरपूर टिप्पणी की, किन्तु उसका कुछ प्रभाव न पड़ा।

पुस्तक मेला पर पुनः क्षोभ :

इसी वर्ष, प्रतिवर्ष की भाँति, जब कलकत्ता में पुस्तक मेला का आयोजन हुआ तो आर्यसमाज ने भी एक दुकान ले ली। प्रायः प्रति वर्ष आर्यसमाज की ओर से आर्य साहित्य की बिक्री के लिए यह उपक्रम किया जाता रहा है। प्रायः जब भी पुस्तक मेला लगता है तब आर्यसमाज हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, उर्दू आदि भाषाओं में सुलभ वेद, दर्शन, उप-निषद् एवं अन्य वैदिक साहित्य भी प्रचारार्थ पुस्तक मेला में ले जाता है। बिक्री की दृष्टि से चाहे यह काम लाभकारी न हो, किन्तु इसमें आर्यसमाज का उद्देश्य जनसाधारण को सम्बन्धित साहित्य द्वारा परि-चित कराना रहता है। लाखों लोग बुक स्टालों पर आते-जाते हैं और पुस्तकों से परिचय प्राप्त करते हैं। स्वाभाविक है कि पुस्तक मेला में सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ, अनेक भाषाओं, विशेषरूप से हिन्दी, बङ्गला, अंग्रेजी और उर्दू में, बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती हैं।

इस साल जब कलकत्ता के पुस्तक मेला में आर्यसमाज का बुक स्टाल लगाया गया तो उसमें अन्य पुस्तकों के साथ सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ भी कई भाषाओं में वहाँ रखी गयी थीं। हिन्दी, अंग्रेजी, बङ्गला, उर्दू कम से कम इन चार भाषाओं में सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ इस वर्ष

भी वहाँ सुलभ थीं। पुस्तक मेला से हमें यह सूचना मिलने लगी थी कि मुसलमानों की ओर से फिर यह प्रयास हो रहा कि सत्यार्थप्रकाश को यों खुलेआम सर्वसाधारण रूप में न बिकने दिया जाय। राज्य के गृह विभाग ने पुलिस से और पुलिस ने पुस्तक मेला के अधिकारियों से सम्पर्क किया, किन्तु अबतक सरकार और पुलिस सबको पिछले वर्ष के वार्षिकोत्सव पर घटी घटना से यह ज्ञात हो गया था कि सत्यार्थप्रकाश पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यह सौ सालों से अधिक पुरानी पुस्तक है। इसकी लाखों प्रतियाँ बिक चुकी हैं। संसार में कहीं भी इस पर प्रतिबन्ध नहीं है। अतः, न सरकार, न पुलिस और न पुस्तक मेला के अधिकारी ही नियमतः इस पुस्तक की बिक्री को रोक सकते थे। विरोधियों के लिए कानून, विधान, नियम सबको तिलाञ्जलि देकर अब एक ही चारा रह गया था कि वे शान्ति और व्यवस्था को चुनौती दें और जन-आन्दोलन चलावें। उन्होंने यह रास्ता भी अपनाया। पुस्तक मेला के दिनों में जब पहला शुक्रवार आया, उस दिन जकरिया स्ट्रीट की बड़ी मस्जिद से 3-4 सौ लोग काला झण्डा लेकर और काली पट्टियाँ बांध कर सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध नारा लगाते हुए पुस्तक मेला की ओर चल पड़े। रानी रासमनी रोड पर पुलिस ने उन्हें रोक लिया और उन्हें पुस्तक मेला तक नहीं जाने दिया।

यद्यपि इस घटना से पुस्तक मेला और पुस्तक मेला में आर्यसमाज की दुकान पर कुछ प्रभाव न पड़ा किन्तु इससे एक वर्ग के लोगों में क्षोभ पैदा हो गया और जनसाधारण, जिन्हें सत्यार्थप्रकाश से अधिक परिचय नहीं है, वे इस तरह के आन्दोलनों के शिकार बन जाते हैं। यद्यपि इस विरोध के कारण सत्यार्थप्रकाश की बिक्री खूब हुई, बंगला और उर्दू में भी सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ काफी बिकीं। अतः यों देखा जाय तो यह क्षोभ प्रच्छन्न वरदान के रूप में ही आया, किन्तु इसमें कोई शक-सन्देह है ही नहीं कि कुछ लोग राजनीतिक, प्रशासनिक और जन-आन्दोलनों का सहारा लेकर इस ग्रन्थ का विरोध करते रहे हैं।

बात यहीं समाप्त न हुई। सन् 1987 ई० के दिसम्बर महीने में जब आर्यसमाज कलकत्ता का वार्षिकोत्सव 9 दिनों तक मोहम्मद अली पार्क में मनाया गया तो उस समय भी भीतर ही भीतर क्षोभ-असन्तोष बढ़ता रहा, किन्तु कानून हमारे साथ था और पुलिस ने शान्ति व्यवस्था की रक्षा की, अतः कोई असुविधा न हुई। इन सारे सन्दर्भों को ध्यान में रखते हुए हमारे मन में एक भावना बराबर उठती रही कि सत्यार्थप्रकाश के ऊपर एक सन्दर्भ ग्रन्थ तैयार करना चाहिए। हम कुछ नया दे सकेंगे या देना चाहते हैं, ऐसी हमारी धारणा नहीं है। हाँ, हम सर्वान्तःकरण से सत्यार्थप्रकाश के भक्त हैं, अतः हर मुद्दे पर अपने ढंग से भी सोचने का मन रखते हैं। आज तक सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न पहलुओं पर इतने रूप में विचार हो चुका है कि सम्भवतः कई बन्धुओं को इस प्रयास में पिष्टपेषण अथवा अनावश्यक श्रम भी प्रतीत हो सकता है। किन्तु सत्यार्थप्रकाश ऐसा ग्रन्थरत्न है कि जितने भी दृष्टिकोणों से इस पर विचार किया जाय, इसका निरीक्षण-परीक्षण किया जाय, इस ग्रन्थ की गौरव-गरिमा उतनी ही अधिक चमक उठती है। इसी दृष्टि से यह प्रयास किया गया है, इतने बहुविध दृष्टि विन्दुओं से एकत्र विचार-संकलन भी अपने में एक उपादेय कार्य है, इस विचार से यह प्रयास प्रस्तुत है।

विचार विन्दुओं का उदय

कोई 15-20 वर्ष पूर्व आदरणीय पं० रामदयालुजी शास्त्री ने अपने किसी व्याख्यान में आलाराम संन्यासी से सम्बन्धित मुकदमे की चर्चा की थी। यह अभियोग इलाहाबाद न्यायालय में चला था और इसमें यह प्रश्न उठा था—क्या सत्यार्थप्रकाश राजद्रोही ग्रन्थ है? पं० रामदयालुजी शास्त्री महोपदेशक तो थे ही, अपने व्याख्यानों को बहुत सजा कर रखते थे। फलस्वरूप उनके व्याख्यानों का अच्छा अपेक्षित प्रभाव भी पड़ता था। इन अभियोगों से मेरा सम्बन्ध मात्र सुना-सुनाया ही

था। मन में आया कि जनसाधारण और नयी पीढ़ी के विद्वानों, उपदेशकों और कार्यकर्त्ताओं के लिये यह प्रसंग उपयोगी सामग्री सिद्ध हो सकता है। समय-समय पर विद्वानों से चर्चा होती रही, किन्तु कोई विश्वसनीय प्रामाणिक सूचना हस्तगत न हो पायी थी।

यह चञ्चलता तो मस्तिष्क में थी ही कि सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कहाँ-कहाँ अभियोग चले अथवा किन अभियोगों में विचारणीय मुद्दों के रूप में सत्यार्थप्रकाश प्रस्तुत किया गया। इसीके साथ यह बात भी मन में उठी कि साम्प्रदायिक तूफानों ने भी अपना एक ऐतिहासिक रूप बना ही रखा था। उनका भी विवरण उपयोगी होगा। ध्यातव्य है कि अभी डा० सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा सम्पादित महान् ऐतिहासिक कार्य आर्यसमाज के **सप्तखण्डीय इतिहास** की रूपरेखा सामने न थी। हमारे मस्तिष्क में इन बिन्दुओं के साथ खण्डन - मण्डन - साहित्य, सत्यार्थप्रकाश का प्रचार-प्रसार, वाङ्मयीय आयाम इत्यादि बिन्दु भी उठने लगे थे।

इधर 1975 ई० में आर्यसमाज की स्थापना शताब्दी मनाने का उल्लास चल रहा था। स्थापना शताब्दी पर यह पुस्तक प्रकाशित हो जाती तो बहुत अच्छा होता किन्तु अभी तो रूपरेखा मस्तिष्क में ही बन रही थी। हमारे पत्रों के संग्रह में 1975 ई० के कुछ पत्र सत्यार्थ-प्रकाश के इस सन्दर्भ प्रयास से सम्बन्धित हैं। मैंने अपनी जिज्ञासा और आकांक्षा कई सहयोगी विद्वानों को लिख भेजी थी। उनमें से जो उपयोगी आवश्यक सूचनाएँ मिली थीं उन्हें सत्यार्थप्रकाश की एक अलग फाइल बनाकर उसी में रखता गया। आर्यसमाज के दीवाने पं० नरेन्द्रजी उस समय आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह के संयोजक थे। उन्होंने 6 मार्च 1975 ई० को मुझे एक पत्र लिखा। पत्र के कुछ वाक्य निम्न हैं—
"आपका पत्र दिनांक 26 फरवरी 1975 प्राप्त हुआ। .... सत्यार्थ प्रकाश के सन्दर्भ में जिन-जिन स्थानों पर अभियोग चले हैं, उनकी जानकारी प्राप्त कर रहा हूँ। प्राप्त होते ही आपकी सेवा में भेज दूँगा।

सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन भिन्न-भिन्न स्थानों से पत्र लिख कर सूचना प्राप्ति के आधार पर उनकी प्रतिलिपि आपकी सेवा में भेंज रहा हूँ।" पं० नरेन्द्रजी ने कुछ उपयोगी सूचनाएँ भेंजीं जिनका यथावसर इस पुस्तक में उपयोग भी किया जायगा। किन्तु इसे भी तो आज 15 वर्ष हो गये।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ महारथी आदरणीय अमर स्वामीजी ने अपने 24-2-1975 ई० के पत्र में मेरा उत्साहवर्द्धन करते हुए लिखा, "आप सत्यार्थप्रकाश के ऊपर ऐतिहासिक 'सन्दर्भ ग्रन्थ' लिखने की तैयारी कर रहे हैं, यह जानकर प्रसन्नता हुई। परमेश्वर आपको इस पुण्य कार्य में सफलता प्रदान करें।" आदरणीय स्वामीजी ने और कई प्रकार की उपयोगी सूचनाएँ, अन्य सूचनाओं के प्राप्त करने के स्रोत-सन्धान मुझे सूचित किये। यथाशक्ति, यथामति मैं भी प्रयास करता रहा हूँ।

पं० रामदयालुजी शास्त्री ने अपने 13-2-1975 के पत्र में कई उपयोगी सूचनाएँ दीं।

मुझ पर परम स्नेहभाव रखने वाले आर्यसमाज के महान् विद्वान् म० म० श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने अति कृपापूर्वक सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण और संस्कार विधि प्रथम संस्करण की दुर्लभ प्रतियाँ उपलब्ध करवा दीं, जिनसे मैं पूरा लाभ उठा सका।

किन्तु यह सब पुरानी कथा है।

अनिवार्य व्यवधान :

मैं सत्यार्थप्रकाश के सन्दर्भ ग्रन्थ की सामग्री एकत्र करने में लगा था कि 1979 ई० में पं० दीनबन्धुजी वेदशास्त्री का देहान्त हो गया। आर्यसमाज कलकत्ता की स्थापना शताब्दी 1985 ई० में आ रही थी। आर्यसमाज कलकत्ता के शतवर्षीय इतिहास को लिखने का दायित्व पं० दीनबन्धुजी वेदशास्त्री पर था। मैं तो इतिहास उपसमिति का एक सदस्य मात्र था। पं० दीनबन्धुजी के देहान्त के पश्चात् यह गुरुतर कार्य

मेरे ही ऊपर आने वाला था और मैंने सत्यार्थप्रकाश सन्दर्भ सञ्चय की फाइल को उपयोगी पत्रों, सूचनाओं, पुस्तिकाओं एवं पत्रिकाओं के साथ बांधकर रख दिया कि जब प्रभुकृपा होगी तब अपनी श्रद्धा के सुमन चुनने का पुनः प्रयास करूँगा।

इधर आर्यसमाज कलकत्ता का इतिहास एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में जब प्रकाशित हो गया तब हमने इस सन्दर्भ संग्रह को हाथ में लेने का मन किया। किन्तु एक और पुण्यकार्य सामने आ खड़ा हुआ। हमारे परम सम्माननीय विद्वद्वरेण्य स्वामी विद्यानन्द सरस्वतीजी ने महर्षि के प्रसिद्ध ग्रन्थ "ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका" पर व्याख्यात्मक भाष्य लिखने की योजना बनायी थी। विभिन्न विषयों पर विभिन्न विद्वानों से उन्होंने सहयोग मांगा था। उनके आदेशानुसार मुझे ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के राज-प्रजा-धर्म प्रकरण पर लिखना था। हमने भाष्यात्मक टिप्पणी के रूप में इस 'राज-प्रजा-धर्म' प्रकरण पर लिखकर भाष्यात्मक टिप्पणी उनकी सेवा में प्रस्तुत कर दी। इसमें भी कुछ समय का सदुपयोग हो गया।

अब पुनः ग्रन्थों का पारायण, पुरानी टिप्पणियों को ताजा करना, विस्मृत सन्दर्भों को स्मृति-पटल पर सँवारना आरम्भ हुआ।

सहयोगी स्वर्ण सुयोग :

इसी बीच हमारा सम्पर्क इतिहास के विद्वान् आदरणीय डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकारजी से हुआ। यह सम्पर्क प्रगाढ़ स्नेह की सीमा तक बढ़ गया और उनकी नैसर्गिक विद्वज्जनसुलभ आर्यसमाज और महर्षि की भक्ति के फलस्वरूप अलभ्य पुस्तक 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डीट्रैक्टर्स' की टाइप की हुई प्रति मुझे प्राप्त हो सकी। यह प्रति पढ़ने में तो बड़ी कठिनाई से आती है, क्योंकि इसकी स्याही बहुत मन्द है। फिर भी यह एक अलभ्य उपलब्धि हुई। यह महात्मा मुंशीराम और आचार्य रामदेवजी की संयुक्त कृति कई विषयों पर मौलिक प्रकाश डालती है।

एक और स्वर्ण सुयोग :

इसी बीच आर्यसमाज के सप्तखण्डीय इतिहास का प्रकाशन होने लगा और इसके सम्पादक एवं मुख्य लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालंकार एवं इतिहास के साहित्य सम्बन्धी भाग के लेखक आदरणीय सुहृद् विद्वान् डा० भवानीलाल भारतीयजी ने कई ऐसे विषयों का वर्णन इस इतिहास में कर दिया है जो मेरे लिये बहुत उपयोगी एवं सहयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

सत्यार्थप्रकाश अद्भुत ग्रन्थ है। हमारे जीवन, आचरण, चिन्तन-मनन में इस ग्रन्थरत्न का वर्णनातीत योगदान रहा है। सच तो यह है कि सारे जीवन में ही सत्यार्थप्रकाश जैसा दूसरा ग्रन्थ दृष्टि में नहीं आया। वस्तुतः हृदय में इस ग्रन्थ के प्रति अति श्रद्धा के भाव हैं। उसी श्रद्धा का फल इस प्रयास में प्रस्तुत है।

द्वितीय अध्याय

ऐतिहासिक सन्दर्भ

स्वामी दयानन्द महाराज गुरु विरजानन्दजी की कुटी से विदाई लेकर वेद-धर्म के प्रचार में लग गए। यह वेद-धर्म-प्रचार, आर्षज्ञान-प्रसार एक सर्वत्यागी वीतराग संन्यासी गुरु के लिए सर्वत्यागी अकिंचन शिष्य की प्रतिश्रुत गुरु दक्षिणा थी। आरम्भ में उपदेश करना, एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करना और सर्वत्र पाखण्ड का खण्डन करना, सदाचारमय ऋषि-महर्षियों के मन्तव्यानुसार आचरण रखना इत्यादि बहुत प्रकार का प्रचार कार्य स्वामी दयानन्द करते रहे। उन्होंने एक-दो लघुकाय पुस्तकों का भी प्रणयन किया, किन्तु कोई विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं रचा। इधर सन् 1873 ई० में कलकत्ता आने पर यहाँ के क्रियाकलाप एवं कार्यसरणि से परिचय होने के पश्चात् स्वामी दयानन्द के कार्यों में विशेषरूप से परिवर्तन हुआ। कार्यसरणि अधिक व्यवस्थित हो गयी। स्वामीजी के प्रोग्राम सुनिश्चित होकर लोगों में प्रचारित होने लगे। इसके पश्चात् ही ग्रन्थ-लेखन का कार्य भी आरम्भ हुआ। यह कुछ अतिरेक नहीं प्रतीत होता कि बंगाल से लौटकर स्वामीजी ने साहित्य लेखन और प्रकाशन की ओर ध्यान दिया। जहाँ पहले प्रवचन और व्याख्यान ही उनके मन्तव्यों के प्रचार के साधन थे, वहीं अब साहित्य-निर्माण भी एक आवश्यक साधन बन गया। स्वामी दयानन्द का युगान्तरकारी, अद्वितीय और कालजयी ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश सन् 1874 ई० में लिखा गया। सत्यार्थप्रकाश एक जगद्विख्यात ग्रन्थ है और इसकी आर्षता निःसन्देह हृदयंगम होती है। इस ग्रन्थरत्न ने लाखों लोगों के जीवन में अद्भुत क्रान्ति की है। इस

ग्रन्थ से अभूतपूर्व धार्मिक क्रान्ति भी हुई है। यह ग्रन्थ क्यों लिखा गया, इसके लिखने के पीछे स्वामी दयानन्द का क्या उद्देश्य था, यह सब इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। सत्यार्थप्रकाश इतना लोकोपकारी है कि इस ग्रन्थ का पाठ करने वाला और इसके अनुकूल आचरण करने वाला व्यक्ति निश्चय ही अपनी जीवनयात्रा में विचित्र प्रकार की सफलता लिये हुए होगा। इस ग्रन्थरत्न के लिखने का उपक्रम कैसे आरम्भ हुआ, यह इतिहास भी अपने में सुरुचिपूर्ण है। इतिहास का क्रम कुछ इस प्रकार बना कि सन् 1874 ई० में उपदेश क्रम से स्वामी दयानन्दजी महाराज मई महीने में काशी पधारे। सदा की भाँति स्वामीजी के उपदेश-प्रवचन होने लगे। उस समय काशी में वहाँ के डिप्टी कलक्टर श्री राजा जयकृष्ण दासजी थे। राजा जयकृष्ण दासजी स्वामीजी के प्रति श्रद्धा रखते थे और उनके उपदेशों के महत्त्व के कायल थे। राजा जयकृष्ण दासजी यह अनुभव करते थे कि स्वामी दयानन्द के विचारों को लिखित रूप में प्रकाशित होना चाहिए। अतः एक दिन उन्होंने स्वामी दयानन्द महाराज से निवेदन किया :

> "भगवन्, आपके उपदेशामृत से वे ही व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं जो आपका व्याख्यान सुनते हैं। जिनको स्वयं आपके मुखारविन्द से उपदेश श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता वे उससे वंचित रह जाते हैं। इसलिए आप इन्हें ग्रन्थ रूप में संकलित करके छपवा देवें, तो जनता का महान् उपकार होवे। इससे आपके विचार भी चिरस्थायी हो जावेंगे और इनसे भविष्य में आने वाली भारत सन्तान भी लाभ उठा सकेगी।"[1]

श्री राजा जयकृष्ण दासजी ने केवल स्वामीजी के विचारो को संकलित कर देने की प्रार्थना ही उनसे नहीं की, बल्कि वे स्वयं ही ग्रन्थ लिखवाने और उसे छपवाने के सम्पूर्ण व्ययभार को वहन करने लिये तत्पर हो

1. पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास"—दयानन्द बलिदान शताब्दी संस्करण, पृष्ठ 21

गए। स्वामी दयानन्द इस सुन्दर प्रस्ताव से सहमत हो गए और 12 जून, सन् 1874 ई० को सत्यार्थप्रकाश के लेखन का कार्य आरम्भ हो गया।

यह तो ग्रन्थ लिखवाने वाले राजा जयकृष्ण दासजी की कहानी हुई, किन्तु स्वामी दयानन्द ने यह ग्रन्थरत्न क्यों लिखा, यह अलग का विषय है। इस सम्बन्ध में महर्षि ने ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं लिखा है :

> "इस ग्रन्थ के बनाने का मेरा मुख्य प्रयोजन सत्य सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसे सत्य और जो मिथ्या है उसे मिथ्या ही प्रतिपादन करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय, किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।"[1]

इस उद्धरण से बात इतनी सुस्पष्ट हो जाती है कि इसे और व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी ने देश का भ्रमण करते-करते यह अनुभव किया कि लोग अपने पन्थ और सम्प्रदाय की मिथ्या बातों को भी सत्य के नाम पर उपस्थित करते हैं। ढोंगी और धूर्तों की बात ही अलग है। ओझा, सोखा, सयाने लोग भूत-प्रेतों की बात करते थे, यह भी अलग ही है। आश्चर्य तब होता था जब बड़े-बड़े विद्वान्, पण्डित, पुजारी, मौलवी और पादरी भी अपनी नितान्त असत्य बातों को सत्य के नाम पर जनता में प्रचारित करते थे। वे मूर्त्ति-पूजा, पीर-पैगम्बरों की पूजा, सृष्टि नियमों के प्रतिकूल मिथक कथाओं को "माईथालाजिकल स्टोरीज" को सत्य कथा बनाकर जनसाधारण को भ्रान्त कर रहे थे। अतः स्वामीजी ने अपना परम कर्त्तव्य समझा कि वे 'सत्यार्थप्रकाश' नामक पुस्तक के माध्यम से संसार के सम्मुख सत्य को प्रकट कर दें। स्वामीजी ने सत्य के साथ कहना, लिखना और मानना जैसे शब्दों को जोड़ा है। कई बार लोग जानते हैं कि पृथ्वी गोल है और जड़ पदार्थ

1. सत्यार्थप्रकाश की भूमिका—पृष्ठ 2

है, पर पृथ्वी का पूजन करते हैं। यहाँ जानने और मानने में अन्तर हो गया। इसी प्रकार लोग सृष्टि के बहुत सारे नियम जानते तो हैं, किन्तु कभी-कभी अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्त की रक्षा के लिए असत्य को भी सत्य मान लेते हैं। जानते सभी हैं कि बच्चे माँ-बाप के संयोग से ही पैदा होते हैं, किन्तु साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के वशीभूत होकर पवित्र आत्मा से शिशु की उत्पत्ति मानना साम्प्रदायिक आग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है।

विचार स्वतन्त्रता

स्वामी दयानन्द विचार स्वतन्त्रता के बड़े प्रबल समर्थक थे। उन्होंने सिद्धान्तों को स्वीकार कराने में कभी जबरदस्ती का समर्थन नहीं किया। उनका कहना था कि विद्वानों का केवल इतना ही कर्त्तव्य है कि वे सबके सम्मुख सत्य-सत्य प्रकट कर दें और फिर लोगों की अपनी इच्छा है वे क्या स्वीकार करते हैं या क्या स्वीकार नहीं करते। सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में ही स्वामीजी लिखते हैं :

> "विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द रहें।"[1]

यहाँ यह सुस्पष्ट है कि दूसरे मत-पन्थ वाले सेवा-सुश्रूषा, अस्पताल, नौकरी तथा अन्य प्रकार को सहायताएँ करके लोगों का मन-मस्तिष्क जीतना चाहते हैं। स्वामी दयानन्द के मत में सत्य स्वीकार कराने के लिए कोई लोभ-लालच देना उचित नहीं है। इस स्तर पर परखने से आज के बहुत सारे मत-मतान्तरों के प्रचारक रिलीफ, नौकरी, रुपये और कभी-कभी घर और जमीन आदि की भी व्यवस्था करके लोगों को अपने मत में खींचते हैं। यह सत्य का आकर्षण न होकर, लोभ-लालच

1. सत्यार्थप्रकाश की भूमिका—पृष्ठ 6

का आकर्षण है और सत्य का प्रचार न होकर लोगों की असमर्थता से लाभ उठाकर लोगों का विश्वास खरीदना जैसा है। इसे धर्म-प्रचार कहना धर्म का भी अपमान करना जैसा है। स्वामी दयानन्द की मान्यता है :

"मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।"

यहाँ स्वामीजी ने मत-सम्प्रदायवादियों की नब्ज टटोल ली है। हठी, दुराग्रही, स्वार्थी लोगों के दोष का अनावरण-सा कर दिया है। इस उद्धरण में एक और विशेष बात ध्यान देने योग्य है—स्वामी दयानन्द मनुष्य के आत्मा के गुणों के अति आग्रही हैं। स्वामी दयानन्द यह सुस्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि मनुष्य का आत्मा सत्य और असत्य को जान लेता है। यह मनुष्य के प्रति इतनी बड़ी आस्था और विश्वास का रूप है जो सम्भवतः अन्य मत-पन्थवादियों के लिए असम्भव-सा है। मनुष्य के आत्मा को इतना अच्छा और उच्च प्रमाण-पत्र अन्य किसी चिन्तक मनीषी ने दिया है, इसमें सन्देह ही लगता है। यह मानवता के प्रति स्वामी दयानन्द सरस्वती का अटूट विश्वास है।

सर्वतन्त्र सिद्धान्त

स्वामी दयानन्द इस ग्रन्थ "सत्यार्थप्रकाश" के माध्यम से सर्वतन्त्र सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते हैं। सर्वतन्त्र या सर्वधर्म समन्वय के सम्बन्ध में स्वामीजी का विचार अति उदार है। वे सभी मतों के सत्य-असत्य को प्रश्रय नहीं देते। उनका कहना है : "जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं वे सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो-जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उन उनका खण्डन किया है।" यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वामी दयानन्द सर्वधर्म समभाव में जो सबको स्वीकरणीय हैं, उन्हें स्वीकार करते हैं क्योंकि वे परस्पर अविरुद्ध हैं। ईमानदारी, सदाचार, परोपकार इत्यादि ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका

कोई विरोध नहीं करता। दूसरी ओर पैगम्बर, अवतार, स्वर्ग-नरक, पुराण-कल्पना आदि बातों में परस्पर विरोध है। अतः ये सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं हैं। इनमें किसी अवतार, पैगम्बर, मसीहा को एक सम्प्रदाय वाले मानते हैं तो दूसरे उसका विरोध करते हैं। इसी प्रकार विष्णु, शिव, शक्ति, ईसामसीह और हजरत मुहम्मद आदि में से कोई किसी एक को मानता है और अन्य का विरोध करता है। अतः ये सर्वमान्य सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं हो सकते।

स्वामी दयानन्द "सत्यार्थप्रकाश" में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि जो सब धर्मों का महत्तम समापवर्तक—(Highest Common Factor) है, जिसे सब कोई मानें और कोई उसका विरोध न करे, उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। यह स्वामीजी की जीवनी से भी प्रकट हुआ है। उन्होंने बहुत्र विचार-विनिमय के समय सुधारकों और उदार व्यक्तियों को यह प्रेरणा दी है कि सर्वतन्त्र सिद्धान्त, जिससे किसी का कोई मतभेद नहीं है, उसे सबको स्वीकार कर लेना चाहिए। सन् 1877 की पहली जनवरी को जब दिल्ली दरबार होने वाला था, उस समय भी स्वामी दयानन्द ने धर्म-सुधारकों की एक सभा में यह मत व्यक्त किया था कि वेद को केन्द्र मानकर सब मत-पन्थ वाले एकत्र हो जाँय तो संसार का कल्याण हो। इस सभा में मुस्लिम जागरण के उन्नायक सर सैयद अहमद खाँ, ब्राह्मसमाज के श्री केशवचन्द्र सेन, श्री नवीनचन्द्र राय, श्री कन्हैयालाल अलखधारी, श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, मुन्शी इन्द्रमणि आदि उपस्थित थे। उस युग के इतने भिन्न-भिन्न मत-सम्प्रदायों के नेताओं को एकत्र करने और उनमें एकता का भाव लाने की चेष्टा का अपना महत्त्व है। यह सुस्पष्ट है कि सर सैयद अहमद खाँ पैगम्बरवाद को नहीं छोड़ सकते थे और श्री केशवचन्द्र सेन को तो स्वयं ही इलहाम होने लगा था। अतः, स्वामी दयानन्द का यह प्रयास सफल न हो सका। किन्तु उनके जीवन और मिशन का संक्षेप में यह अभिप्राय है कि मत-पन्थ अविद्या के कारण

होते हैं और वेदमत ऐसा है जिससे किसी का विरोध हो ही नहीं सकता। सत्यार्थप्रकाश पृ० 606 में स्वामीजी लिखते हैं :

"ये सब मत अविद्याजन्य विद्याविरोधी हैं। मूर्ख, पामर और जंगली मनुष्य को बहका कर अपने जाल में फँसा के अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे बेचारे बहकाये हुए लोग अपने मनुष्य जन्म के फल से रहित होकर अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ गवाँते हैं। देखो, जिस बात में ये सहस्र एक मत हों, वह वेदमत ग्राह्य है और जिसमें परस्पर विरोध हो वह कल्पित, झूठा अग्राह्य हैं।"

इस प्रकार यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश जैसा युगान्तरकारी ग्रन्थ इसलिये लिखा कि मत-पन्थ-सम्प्रदायों के विरोध मिट जाँय और सत्य सिद्धान्तों का प्रचार हो सके।

ग्रन्थ का इतिहास

सत्यार्थप्रकाश जैसे युगान्तरकारी कालजयी ग्रन्थ का इतिहास भी बड़ा रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है। स्वामी दयानन्द गुरु विरजानन्दजी के यहाँ से निकल कर सत्य सनातन वेद का प्रचार करते हुए यत्र-तत्र भ्रमण करते-करते बहुधा गंगा के तटों पर तीर्थस्थानों में वैदिक मन्तव्यों का प्रचार करते थे। उत्तरप्रदेश में घूमते-घूमते काशी आये। वहाँ दिग्गज, प्रतिष्ठित महान् विद्वान् पण्डितों से शास्त्रार्थ किया और पीछे बिहार के विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए वे 16 दिसम्बर 1872 ई० को बंगाल आये। यहाँ के धर्म-सुधारकों और विद्वानों के सम्पर्क में आकर स्वामीजी को कार्य करने की कई नई दिशाओं पर सोचने का अवसर मिला। ब्राह्मसमाज का साहित्य था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तो साहित्य के साथ ही प्रकाशन की भी व्यवस्था रखते थे। स्वामी दयानन्द की यह मानसिक भूमिका कलकत्ता में बनना बहुत स्वाभाविक था। अप्रैल सन् 1873 में स्वामीजी बंगाल से लौट पड़े, फिर बिहार का भ्रमण करते हुए वे पुनः उत्तर प्रदेश के गांगेय प्रदेशों का भ्रमण करते

हुए वेदधर्म का प्रचार करने लगे। इन्हीं दिनों एक शुभ सुयोग ऐसा बैठा कि सत्यार्थप्रकाश के लिखने का प्रसंग उपस्थित हो गया।

स्वामी दयानन्द के भक्तों में राजा जयकृष्णदास नामके एक सरकारी अफसर—डिप्टी कलक्टर थे। श्री जयकृष्ण दास सामवेदी ब्राह्मण थे और निष्ठावान् सनातनधर्मी थे, किन्तु स्वामी दयानन्द के उदार बुद्धि-संगत वैदिक विचारों से अति प्रभावित थे। राजा जयकृष्णदास जी के मन में यह विचार पैदा हुआ कि स्वामी दयानन्द के अमूल्य उपदेश लोग सुनते हैं और सुनने पर प्रभावित भी होते हैं, किन्तु जबतक किसी ग्रन्थ का निर्माण न हो तबतक यह प्रभाव चिरस्थायी नहीं हो पाता। अतः उनके मन में स्वामीजी से ग्रन्थ लिखवाने की प्रेरणा जाग उठी। स्वामीजी के भक्त तो वे थे ही, एक दिन उन्होंने स्वामी दयानन्दजी से अनुरोध किया :

> "भगवन्, आपके उपदेशामृत से वह ही व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं जो आपका व्याख्यान सुनते हैं। जिनको स्वयं आपके मुखारविन्द से उपदेश श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता, वे उससे वञ्चित रह जाते हैं। इसलिए आप इन्हें ग्रन्थ रूप में संकलित करके छपवा देवें तो जनता का महान् उपकार होवे। इससे आपके उपदेश भी चिरस्थायी हो जावेंगे और उनसे भविष्य में आनेवाली भारत सन्तान भी लाभ उठा सकेगी।"[1]

ग्रन्थ लिखने-लिखवाने की एक समस्या थी, पर उसे प्रकाशित करने में व्यय और व्यवस्था दोनों ही का प्रश्न था। इससे पूर्व स्वामी दयानन्दजी ने कोई छोटी-छोटी दो एक पुस्तिकाएँ लिखवायी थीं, किन्तु कोई बड़ा ग्रन्थ लिखवाया या छपवाया हो, ऐसा उल्लेख केवल एक जगह मिलता है। श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने अपनी डायरी में यह लिखा है कि स्वामीजी ने कोई ग्रन्थ कलकत्ता में लिखवाया था। विद्वानों,

1 युधिष्ठिर मीमांसक कृत ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास —बलिदान शताब्दी संस्करण, पृष्ठ 121

अनुसंधानकर्ताओं में मतभेद हो सकता है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने सम्भवतः आत्मजीवनी लिखवाई थी। अस्तु, यह प्रसंगान्तर की बात है। यहाँ हमारा इतना ही आशय है कि ग्रन्थ लिखवाना, प्रेस कापी बनवाना, छपवाना, प्रूफ देखना, कागज, प्रेस और व्यय की व्यवस्था करना, यह सब कार्य स्वामी दयानन्द के लिये नया था। किन्तु राजा जयकृष्णदास साधन सम्पन्न थे और डिप्टी कलक्टर जैसे व्यवस्था के दायित्वपूर्ण पद पर थे। उन्होंने लिखवाने और छपवाने आदि का सम्पूर्ण व्ययभार अपनी व्यवस्था में स्वयं स्वीकार कर लिया। श्री राजाजी ने स्वामीजी को एक लेखक भी दे दिया। पं० चन्द्रशेखर नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। राजा जयकृष्णदासजी ने उन्हें ही सत्यार्थप्रकाश लिखने के लिए स्वामी दयानन्द के साथ नियुक्त कर दिया था। जैसे राजा जयकृष्णदासजी सनातनधर्मी निष्ठा के थे वैसे ही चन्द्रशेखरजी भी सनातनधर्मी निष्ठा के थे। स्वामी दयानन्दजी बोलते जाते थे और चन्द्रशेखरजी लिखते जाते थे। सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण पुस्तक के रूप में कम लिखा गया है, व्याख्यान के रूप में अधिक बोला गया है। उस समय स्वामी दयानन्द को व्याख्यान देने का, सो भी बोलचाल की हिन्दी में, कुछ-कुछ अभ्यास हुआ था। ग्रन्थ लिखवाने का अभ्यास तो बिलकुल नहीं था। अतः सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण **'लिखित ग्रन्थ'** की अपेक्षा **'लिखित व्याख्यान'** के रूप में अधिक है। इस सम्बन्ध में स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज की निम्न उक्ति उल्लेखनीय है :

> "यह ग्रन्थ - स० प्र०, प्रथम संस्करण ऋषि दयानद का लिखवाया हुआ है, लिखा हुआ नहीं है और लिखवाया भी पुस्तक के क्रम से नहीं प्रत्युत् व्याख्यानों की रीति से है। हमारी तरह जिन सज्जनों ने आचार्य दयानन्द के धर्मोपदेश सुने हैं वे साक्षी देंगे कि संशोधित दूसरा सत्यार्थप्रकाश पढ़कर जहाँ उन्हें एक दार्शनिक आचार्य की रचना का भान होता है, वहाँ

आदिम सत्यार्थप्रकाश को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे वर्तमान समय के सबसे बड़े मूर्त्तिभञ्जक का सिंहनाद स्पष्ट सुन रहे हैं। वास्तव में यह ग्रन्थ व्याख्यानों का ज्यों का त्यों उल्लेख है, जो **सत्यपूताम् वदेद्वाचम्** की मनु० उक्ति के अनुसार अवधूत स्वामी दयानन्द ने बङ्ग की न्यायी जनता के अन्दर फेंक दिये थे।"[1]

स्वामी दयानन्द अति उच्चकोटि के संन्यासी और महान् पुरुष थे। अपने भक्तों पर विश्वास तो है ही भक्तवत्सलता का स्वरूप। अपने ग्रन्थ का सर्वस्वत्वाधिकार राजा जयकृष्ण दास के आयत्त करना इसी मानव विश्वास, भक्त विश्वास का परिणाम था।

स्वामी दयानन्द ने ग्रन्थ लिखवाकर प्रकाशन इत्यादि का सारा भार राजा जयकृष्ण दास को सौंप दिया था। राजा जयकृष्ण दास ने प्रथम संस्करण को स्वयं छपवाया और स्वामी दयानन्द ने तो इनका इतना विश्वास किया कि सत्यार्थप्रकाश के मुद्रण-काल में इसका प्रूफ भी नहीं देखा। स्वामीजी ने ग्रन्थ लिखवाकर राजा जयकृष्ण दास के अधिकार में दे दिया। लगता है उस समय तक स्वामीजी को यह विश्वास न था कि लोग उनके ग्रन्थों में प्रक्षेप भी कर देंगे और उन्हींके ग्रन्थ में उनकी मान्यता के विरुद्ध छप जायगा। राजा जयकृष्ण दास ने ग्रन्थ के आदि और अन्त में अपनी सील-मोहर लगाई थी और यह पुस्तक की प्रति की प्रामाणिकता का प्रमाण था। राजा जयकृष्ण दास ने प्रथम संस्करण में तीन निवेदन छपवाये हैं। प्रथम निवेदन निम्न प्रकार है :

"यह पुस्तक स्वामी दयानन्दजी ने मेरे व्यय से रची है और मेरे ही व्यय से मुद्रित हुई है। उक्त स्वामीजी ने इसका रचनाधिकार मुझको दे दिया है और उसका मैं अधिष्ठाता हूँ और मेरी ओर से पुस्तक की रजिष्ट्री कानून 20 सन् 1847 ई० के अनुसार हुई है।"[2]

---

1. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली भाग 3, पृष्ठ 18
2. स० प्र० संस्करण राजा जयकृष्ण दास बहादुर सी० आई० ई० का निवेदन एक।

इस निवेदन को देखने से ऐसा विदित होता है कि स्वामीजी ने बड़े सरल हृदय से राजा जयकृष्ण दास का विश्वास करके स्वत्व उन्हें सौंप दिया था। राजाजी और ग्रन्थ के 'लिपिकार पं० चन्द्रशेखरजी पौराणिक निष्ठा के थे और ग्रन्थ में मांसाहार और मृतक श्राद्ध जैसे मन्तव्यों का सन्निवेश प्रकाशित हो गया। श्री राजा जयकृष्ण दास ने एक और स्वच्छन्दता बरती कि 13वाँ और 14वाँ समुल्लास प्रथम संस्करण में न छपवाया। स्वामी दयानन्द के पत्र-विज्ञापन पर विशिष्ट कार्य करने वाले ऋषि के परम भक्त पं० श्री भगवद्दत्तजी ने सत्यार्थप्रकाश के 13 और 14 समुल्लास क्यों नहीं छपे थे, इसका कारण निम्न प्रकार लिखा है :

अप्रकाशन का हेतु :

"इस विषय में स० प्र० के द्वितीय संस्करण की भूमिका में श्री स्वामी जी का लेख है :

अन्त के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त प्रथम किसी कारण से नहीं छप सके थे इति।

मेरे अनुमान के अनुसार इसके हेतु निम्नलिखित हैं :

'राजाजी डिप्टी कलक्टर के पद पर सरकारी कर्मचारी नियुक्त थे। उन्हें सी० आई० ई० की उपाधि भी मिली थी। उन दिनों भारत में ब्रिटिश सरकार का भारी आतंक था। फलतः सरकारी कर्मचारी ईसाई सरकार को अप्रसन्न करने के लिए कोई काम करना न चाहते थे।'

इसके साथ ही इस्लाम मतस्थ नेताओं से राजाजी की व्यक्तिगत मैत्री थी, अतः ईसाई मत और कुरान मत का खण्डन छपवाना राजाजी ने उस समय उत्तम न समझा हो।"[1]

सत्यार्थप्रकाश के लेखन की अवधि :

सत्यार्थप्रकाश जैसे महत्त्वपूर्ण युगान्तरकारी ग्रन्थ को लिखवाने में

1. स० प्र० गोविन्दराम हासानन्द संस्करण सम्पादक की भूमिका—पृष्ठ 3

स्वामीजी को कितना समय लगा था, यह बात कुछ निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक पुस्तक में पृष्ठ 21 पर पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक लिखते हैं कि स्वामी दयानन्द ने काशी में प्रथम आषाढ़ बदी 13, संवत 1931 विक्रम तदनुसार 12 जून सन् 1874 ई० शुक्रवार के दिन सत्यार्थप्रकाश लिखाने का कार्य आरम्भ कर दिया, किन्तु ग्रन्थ समाप्त कब हुआ, यह पता नहीं लगता। अतः इस महान् ग्रन्थ की तैयारी में स्वामीजी को कितना समय लगा, यह पता नहीं चलता।

पं० भगवद्दत्तजी का अनुमान है—"यह सारा लेख संवत् 1921' विक्रम के मध्य अथवा सितम्बर 1874 ई० में लिखा गया होगा।" पं० श्री भगवद्दत्तजी की इस टिप्पणी से पं० युधिष्ठिरजी ने यह अनुमान लगाया है कि "यदि पं० श्री भगवद्दत्तजी का उक्त लेख ठीक हो तो मानना होगा कि सत्यार्थप्रकाश जैसे महत्त्वपूर्ण और बृहत्काय ग्रन्थ की रचना में लगभग साढ़े तीन मास का काल लगा था।"[1]

मृतक श्राद्ध और मांस भक्षण का प्रक्षेप :

यह चर्चा पूर्व ही आ चुकी है कि स्वामीजी के लिपिक या, राजा जयकृष्ण दासजी या दोनों की मिलीभगत के कारण सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में मृतक श्राद्ध और मांस भक्षण का प्रक्षेप हो गया था। यह सुनिश्चित है कि स्वामीजी संवत् 1931 के पहले से ही मृतक श्राद्ध और मांस भक्षण का विरोध करते थे। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संकलित "जीवन चरित्र" से यह विदित है कि स्वामीजी ने सम्वत 1924 विक्रम में ही मृतक श्राद्ध का विरोध किया था और जीवित पितरों की श्राद्ध-पद्धति बनाकर दी थी। जहाँ तक मांस-भक्षण का प्रश्न है, स्वामीजी ने अपने भक्त ठाकुर मुकुन्द सिंह, छलेसर "अलीगढ़" को लिखा था— "यह संस्करण राजा जयकृष्ण दास द्वारा मुद्रित हुआ है। इसमें बहुत अशुद्धियाँ रह गयी हैं, शाके 1796 में मैंने जो पंच महायज्ञ विधि प्रका-

1. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ 22

शित करायी थी जो कि राजाजी के सत्यार्थप्रकाश से एक वर्ष पूर्व छपी थी, उसमें जबकि मृतक श्राद्ध आदि का खण्डन है तो फिर सत्यार्थप्रकाश में मण्डन कैसे हो सकता है। अतः श्राद्ध विषय में जो मृतक श्राद्ध और मांस-भक्षण का विधान है, यह वेद विरुद्ध होने से त्याज्य है।"[1]

प्रथम संस्करण की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ :

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में मृतक श्राद्ध और मांस भक्षण जैसे वेदविरुद्ध अपसिद्धान्त प्रक्षिप्त कर दिये गए जो स्वामी दयानन्द को सर्वथा अमान्य थे। फिर भी इस संस्करण का ऐतिहासिक महत्त्व है। स्वामीजी के चिन्तन-मनन और सिद्धान्त निर्धारण के क्रमिक विकास की दृष्टि से भी ऋषिभक्त विद्वानों के लिए यह संस्करण भी अध्येतव्य है।

हम पूर्व लिख आये हैं कि द्वितीय संस्करण दार्शनिक आचार्य का परिपक्व ग्रन्थ है तो प्रथम संस्करण एक प्रचण्ड व्याख्याता का सिंहनाद है। द्वितीय संस्करण में दार्शनिकता, आर्षता, चिन्तन की परिपुष्टता, रचनाशैली की परिपक्वता, सभी कुछ झलकता है, किन्तु प्रथम, संस्करण में भी कुछ ऐसे उद्धरण हैं जो स्वामी दयानन्द के देशोद्धारक, स्वतन्त्रता प्रचारक एवं क्रान्ति का सिंहनाद करने वाले योद्धा के प्रचण्ड स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। सन् 1874 ई० में अंग्रेज सरकार की नीतियों का सुस्पष्ट विरोध भारतीय स्वातन्त्र्य प्रयास के इतिहास में महत्त्वपूर्ण एवं बेजोड़ लगते हैं। 1857 की क्रान्ति के पश्चात् सरकार का दमनचक्र पूरे जोर पर था। राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी संस्था का तो जन्म भी 10-11 वर्षों के पश्चात् 1885 ई० में हुआ था। प्रथम संस्करण के कुछ उद्धरण इस दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण लगते हैं।

(1) "एक तो यह बात है कि नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है वह मुझको अच्छा नहीं मालूम देता

1. पत्र विज्ञापन पूर्ण संख्या 273 भाग 1, पृष्ठ 326

क्योंकि नोन के बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं होता, किन्तु सबको नोन का आवश्यक होता है, और वे मजदूरी मेहनत से जैसे-तैसे निर्वाह करते हैं, उनके ऊपर भी यह नोन का दण्ड तुल्य रहता है, इससे दरिद्रों को क्लेश पहुँचता है, इससे ऐसा होय कि मद्य, अफीम, गाँजा, भाँग, इनके ऊपर चौगुना कर स्थापन होय तो अच्छी बात है, क्योंकि नशादिकों का छूटना ही अच्छा है और जो मद्यादि बिल्कुल छूट जाँय तो मनुष्यों का बड़ा भाग्य है क्योंकि नशा से किसी का कुछ उपकार नहीं होता।"[1]

(2) पौन रोटी से भी गरीब लोगों को बहुत क्लेश होता है क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले आये व लकड़ी का भार उनके ऊपर कौड़ियों के लगाने से उनको अवश्य ही क्लेश होता होगा। इससे पौन रोटी का जो कर स्थापना करना सो भी हमारी समझ से अच्छा नहीं।[2]

(3) और सरकार कागद 'स्टैम्प" को बेंचती है और बहुत सा कागदों पर धन बढ़ा दिया हैं, इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं क्योंकि इसके होने से बहुत गरीब लोग दुख पा के बैठे रहते हैं। कचहरी में बिना धन के कोई बात होती नहीं, इससे कागदों के ऊपर जो बहुत धन लगाना है सो मुझको अच्छा मालूम नहीं देता, इसको छोड़ने से ही प्रजा में आनन्द होता है, क्योंकि थाने से ले के अग्रे अग्रे धन का ही खर्च देख पड़ता है, न्याय होना तो पीछे।"[3]

---

1. सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण पृष्ठ 384-385
2. वहीं पृष्ठ 385
3. सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण पृष्ठ 387

इन तीनों उद्धरणों से यह बात विदित है कि स्वामी दयानन्द ब्रिटिश सरकार के अनुचित कार्यों का कितना उग्र विरोध करते थे। महात्मा गाँधी का नमक सत्याग्रह तो बहुत पीछे की बात है। स्वामी दयानन्द ने नमक पर कर लगाने का विरोध सन् 1874 ई० में ही किया था। बल्कि सच तो यह है कि उससे भी पूर्व स्वामीजी ब्रिटिश सरकार के ऐसे जनहित विरोधी कार्यों की आलोचना किया करते थे। दूसरा उद्धरण इस बात से सम्बन्धित है कि जंगलात से आजीविका चलाने वाले गरीबों पर अंग्रेज सरकार का कर लगाना अनुचित था। तीसरा उद्धरण स्वामीजी के प्रशासकीय दृष्टिकोण को सुस्पष्ट करता है—न्याय सस्ता होना चाहिए और अंग्रेज सरकार ने स्टैम्प ड्यूटी बढ़ाकर न्याय को गरीबों के लिए बड़ा महँगा कर दिया था। स्वामीजी ने उसका बड़ा सुस्पष्ट विरोध किया है।

सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण को स्वामीजी ने व्याख्यान की शैली में लिखा था। सारे ग्रन्थ में प्रायः व्यास पद्धति का—व्याख्यान पद्धति का आश्रय लिया गया है। अतः कई विषय बड़ी उदारतापूर्वक बड़े विस्तार के साथ लिखे गये हैं। प्रथम संस्करण के समय ऋषि की हिन्दी भाषा प्राञ्जल न हो पायी थी, भाव प्रकट करने में भाषा की असुविधा भी कथ्य को विस्तृत कर देती है। अतः जो समास पद्धति, भाव एवं अर्थ गाम्भीर्य द्वितीय संस्करण में मिलता है वह प्रथम संस्करण में उपलब्ध नहीं है। विद्वानों ने, विशेष रूप से महर्षिभक्त पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने सत्यार्थप्रकाश शताब्दी संस्करण के 13वें परिशिष्ट में स० प्र०, प्रथम संस्करण से बहुत सारे उद्धरण दिये हैं, किन्तु ग्रन्थ की हमारी योजना में वे या उनसे पृथक् अन्य उद्धरणों के लिये अधिक अवकाश नहीं है। हमारे विचार से पाठकों के लिये यह कुछ बहुत उपयोगी नहीं है कि वे प्रथम संस्करण को खोजें। द्वितीय संस्करण वस्तुतः आर्ष ग्रन्थ है। उसीके प्रचार-प्रसार का सर्वात्मना प्रयास आवश्यक है।

प्रथम संस्करण का पौराणिक प्रकाशन :

सन् 1916 ई० में पं० कालूराम शास्त्री नामक एक पौराणिक

सज्जन ने इस प्रथम संस्करण को पुनः प्रकाशित किया। पं० कालूरामजी कानपुर जिले के अमरौधा नामक ग्राम के निवासी थे। उनकी निष्ठा पौराणिक थी। वे सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में वर्णित, वस्तुतः प्रक्षिप्त, मृतक श्राद्ध और मांस-भक्षण के विधानों से लाभ उठाना चाहते थे। इससे आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द की तौहीन करना भी उन जैसे पौराणिकों को इष्ट हो सकता है। यद्यपि स्वामी दयानन्द ने अपने जीवनकाल में द्वितीय संस्करण का आद्योपान्त संशोधन-परिवर्द्धन, पुनर्लेखन समाप्त कर लिया था और छपने के लिये प्रेस में भेज दिया था। ग्रन्थ का काफी कुछ अंश स्वामीजी के जीवनकाल में प्रकाशित भी हो गया था, फिर भी चूँकि सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण स्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् सन् 1884 ई० में प्रकाशित हुआ था, अतः विरोधियों को यह अवकाश मिलता है कि वे जनसाधारण को भ्रम में डालने का प्रयास करें। स्वाभाविक है कि सत्यार्थप्रकाश जिस तरह का क्रान्तिमूलक ग्रन्थ है, पौराणिक निष्ठा के लोग उससे तिलमिला उठते ही हैं। स्वामी दयानन्द ऋषि थे, यथार्थवक्ता थे, आप्त थे। उन्हें परमेश्वर के अतिरिक्त किसी से भय न था। वे केवल मात्र सत्य के परिपोषक थे और थे अत्यन्त जनहितैषी। अतः जनहित की भावना कहीं-कहीं समालोचनाओं को अति कटु और निष्ठुर बना देती है। किन्तु हम कैसे भूल सकते हैं कि **अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः**। स्वामी दयानन्द सत्य के अलावा किसी से भी समझौता करने को तैयार न थे। फलतः लोगों ने इस ऐतिहासिक सन्दर्भ का अनुचित लाभ उठाना चाहा। कई लोग कहने लगे कि द्वितीय संस्करण सन् 1884 ई० में छपा है और स्वामी दयानन्द तो सन् 1883 ई० में ही दिवंगत हो गये थे। किन्तु यह ऋषि दयानन्द के पत्रों आदि से प्रमाणित हो जाता है कि स्वामीजी ने द्वितीय संस्करण को आद्योपान्त संशोधित एवं परिवर्द्धित कर दिया था। हम इस प्रसंग को द्वितीय संस्करण के सन्दर्भ में पुनः उठायेंगे। यहाँ तो केवल मात्र

इतना कहना इष्ट है कि पौराणिकों में एक पं० कालूराम शास्त्री ने सन् 1916 ई० में प्रथम संस्करण को पुनः प्रकाशित किया था।

आर्यसमाज द्वारा कालूरामजी का खण्डन :

पं० कालूरामजी प्रथम संस्करण को पुनः प्रकाशित कर यह प्रचार करने लगे कि यही प्रथम संस्करण ही स्वामी दयानन्द का ग्रन्थ है और द्वितीय संस्करण तो आर्यसमाजियों ने स्वामी दयानन्द की मृत्यु के पश्चात् स्वयं तैयार कर लिया है। इस प्रकार के भ्रामक प्रचार को देखते हुए उस समय के आर्यसमाजी नेताओं के लिये यह आवश्यक हो गया कि वे पं० कालूरामजी के इस भ्रामक प्रचार का निराकरण करें। उस समय स्वामी श्रद्धानन्द आर्यसमाज के अन्यतम नेता थे। स्वामी श्रद्धानन्द ने **"आदिम स० प्र० और आर्यसमाज के सिद्धान्त"** नामक पुस्तक लिखकर प० कालूरामजी और उन जैसे अन्य लोगों के भ्रामक प्रचारों का पर्दाफाश कर दिया। स्वामी श्रद्धानन्द की यह पुस्तक गोविन्दराम हासानन्द ने **"श्रद्धानन्द ग्रन्थावली"** के तृतीय खण्ड में प्रकाशित की है। स्वामी श्रद्धानन्द की इस पुस्तक के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् भ्रामक प्रचार के लिये अवकाश नहीं रह गया। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के सम्बन्ध में अपनी बात समाप्त करने से पूर्व स्वामी श्रद्धानन्द की पुस्तक की भूमिका से एक उद्धरण देना चाहूँगा :

> "मेरी सम्मति तो यह है कि इस अपूर्व ग्रन्थ का पूर्ण रूप से संशोधित सस्करण परोपकारिणी व सार्वदेशिक आर्य प्रति-निधि सभा की ओर से निकल जाय, किन्तु प्रायः आर्य भाइयों की सम्मति शायद यह होगी कि जब नये सत्यार्थप्रकाश में सब कुछ आ चुका है तो व्यर्थ का परिश्रम क्यों करना। यह भी विचार का एक ठीक अंग है और मेरी लिखी इस पुस्तक से आशा है कि सर्वसाधारण का भ्रम भी दूर हो जायगा। परन्तु फिर भी जहाँ संशोधित सत्यार्थप्रकाश का नया संस्करण हस्त-

लिखित पुस्तक के अनुसार छपवाने का विचार है तो परिशिष्ट रूप से आदिम सत्यार्थप्रकाश के कुछ विशेष लेख भी संशोधन करके दे दिये जायँ तो कुछ लाभ ही होगा।"[1]

सम्भवतः इन्हीं मान्यताओं की पूर्ति रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित शताब्दी संस्करण के 13वें परिशिष्ट में पं० श्री युधिष्ठिरजी मीमांसक ने की है। वहाँ आदरणीय विद्वान् सम्पादक पं० श्री युधिष्ठिरजी मीमांसक ने पृष्ठ 1137 से 1158 तक प्रथम संस्करण के कई उपयोगी उद्धरणों को संग्रहीत कर दिया है। वहाँ संस्कृत व्याकरण के कुछ रुचिकर प्रसंग हैं तो अंग्रेजी शिक्षा, वार्षिकोत्सव, पर्दाप्रथा आदि पर भी विचार हैं। पुनरपि आर्ष एवं परिपक्व कृति होने के कारण द्वितीय संस्करण ही प्रचार-प्रसार योग्य है।

सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संस्करण :

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण प्रकाशित होकर बिकने लगा और उसमें राजा जयकृष्ण दास की ओर से तीसरे निवेदन में यह भावना व्यक्त की गयी कि विद्वान् लोग इसको पक्षपातरहित होकर पढ़ें और विचारें और जिन विषयों में उनकी स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों से सम्मति न हो उन विषयों पर अपनी अनुमति प्रबल प्रमाणपूर्वक लिखें जिससे धर्म का निर्णय और सत्यासत्य की विवेचना हो.................
छपाने में शीघ्रता के कारण इस ग्रन्थ में बहुत अशुद्धता रह गयी है, आशा है पाठकगण इस अपराध को क्षमा करेंगे।[2]

राजाजी तो सत्यार्थप्रकाश का यह संस्करण बेचते ही रहे, स्वामीजी भी इस ग्रन्थ को देते रहे। प्रथम संस्करण कुछ वर्षों में समाप्त हो गया। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संस्करण तैयार किया और सत्यार्थप्रकाश की भूमिका के अन्त में दी हुई तिथि से प्रकट होता है कि द्वितीय संस्करण का संशोधन भाद्रपद शुक्ल पक्ष सम्वत् 1939 विक्रम को

1. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड 3 भूमिका पृष्ठ 13
2. राजा जयकृष्णदास का तृतीय निवेदन

समाप्त हो गया था। यहाँ स्थान राणाजी का उदयपुर लिखा है। ऋषि ने 19 अगस्त सन् 1882 ई० को भूमिका और प्रथम समुल्लास की प्रेसकापी छपने के लिये भेज दी थी। ऋषि ने 17 सितम्बर 1883 को मन्त्री समर्थदान के नाम एक पत्र में लिखा :

आर्य राज्य वंशावली के पत्र तुमने भेजे सो पहुँचे, उसी समय स० प्र० 12 समुल्लास को भेजना चाहते थे।[1]

24 सितम्बर 1883 को मुन्शी समर्थदान के नाम पत्र में लिखा और स० प्र०, जो कि 13 समुल्लास ईसाइयों के विषय में है वे यहाँ से पूर्व अथवा मसूदे पहुँचते समय भेज देंगे।[2]

29 सितम्बर, 1883 को मुन्शी समर्थदान के नाम पुनः लिखा :

एक अनुभूमिका का पृष्ठ और 329 से लेकर 344 तक तौरेत और जबूर का विषय स० प्र० का भेजते हैं, सम्भाल लेना।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से इतना तो सुस्पष्ट है कि स्वामीजी ने तौरेत और जबूर का विषय प्रेस में भेज दिया था, अतः 13वें समुल्लास तक की सामग्री प्रेस में भेजने का हवाला तो ऋषि के पत्रों में ही मिल गया था। अब रहा 14वाँ समुल्लास। यह कुरान के सम्बन्ध में है। स्वामीजी ने कुरान का हिन्दी अनुवाद कराकर, उर्दू के अच्छे विद्वानों से संशोधन कराकर, पुनः उसके खण्डन-मण्डन में लिखा था। 9 अगस्त सन् 1883 ई० के पश्चात् "भारत मित्र" के नाम स्वामीजी ने एक पत्र लिखा था और उसमें यह ब्यौरा दिया था कि अल्लोपनिषद् का अथर्ववेद या उसकी शाखाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने "ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" में बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन करने के पश्चात् स्वामीजी का एक वाक्य उद्धृत किया है :

1. पत्र-विज्ञापन भाग 3 पृष्ठ 786-787
2. पत्र-विज्ञापन भाग 2 पृष्ठ 792
3. पत्र-विज्ञापन भाग 2, पृष्ठ 806 से 807

"अब एक बात यह शेष है कि बहुत-से मुसलमान ऐसा कहा करते हैं, लिखा व छपवाया करते हैं कि हमारे महजब की बात अथर्ववेद में लिखी है।"[1]

आदरणीय विद्वान् ने इस वाक्य से यह निष्कर्ष निकाला है, इस वाक्य में **"लिखा व छपवाया करते हैं"** इन पदों का संकेत निश्चय ही "भारत मित्र" के अंक में प्रकाशित लेख की ओर है। 14वें समुल्लास की पाण्डुलिपि इस समीक्षा से पूर्व लिखी जा चुकी थी। इसका संकेत स० प्र० के अल्लोपनिषद् समीक्षा प्रकरण से पूर्व के वाक्य में उपलब्ध होता है।

बड़े विस्तृत उहापोह और अनेक प्रमाणों के आधार पर पण्डित श्री युधिष्ठिरजी मीमांसक इस निश्चय पर पहुँचे हैं :

> "इन सब उद्धरणों से यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि स० प्र० के संशोधित संस्करण की पाण्डुलिपि ऋषि के निर्वाण से बहुत पूर्व लिखी जा चुकी थी और 13वें समुल्लास तक की प्रेस कापी ऋषि के निर्वाण से लगभग एक मास पूर्व प्रेस में पहुँच गयी थी। अतः विपक्षियों का यह आक्षेप करना कि स० प्र० का संशोधित संस्करण स्वामीजी का बनाया हुआ नहीं है, सर्वथा मिथ्या है।"[2]

एक और महत्त्वपूर्ण सूचना यह मिलती है कि स० प्र० का द्वितीय संस्करण दिसम्बर, 1884 ई० से बिकने लगा था। यजुर्वेद भाष्य, अंक 60-61 जनवरी सन् 1885 ई० के अन्त में एक विज्ञापन छपा था, उसमें यह प्रकाशित किया गया था कि स० प्र० दिसम्बर, सन् 1884 ई० के आरम्भ से बिक रहा था।

सत्यार्थप्रकाश जैसे ग्रन्थरत्न के सम्बन्ध में कई प्रकार के प्रश्नों का उठना स्वाभाविक था। स्वामी दयानन्द ऋषिबुद्धि के व्यक्ति थे और

1. स० प्र० शताब्दी संस्करण पृष्ठ 947-948
2. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास पृष्ठ 45

जिस प्रकार निष्पक्ष भाव से उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का निर्माण किया है उसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा अन्य ग्रन्थरत्न दुर्लभ है। जब ग्रन्थ का कुछ अंश ग्रन्थकार की मृत्यु के पश्चात् मुद्रित हुआ हो तो विरोधियों को बात करने का कुछ अधिक अवकाश मिल जाता है। इसी दृष्टि से आर्यसमाज के मनीषी विद्वानों ने सत्यार्थप्रकाश के ऐतिहासिक पक्ष पर इतनी गहराई से विचार किया है।

इतिहास के तथ्यों की बात इतिहास के रूप में सिद्ध करने के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत कर दिये गये हैं। ग्रन्थ की लेखन-शैली, भाषा का विन्यास, शब्द प्रयोग, तर्कसरणि इत्यादि ऐसी बहुत-सी विशेषताएँ ग्रन्थ के भीतर निहित रहती हैं जिनसे यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि ग्रन्थ एक व्यक्ति का है या अनेक का। सत्यार्थप्रकाश की भूमिका से लेकर स्वमन्तव्यासन्तव्य तक सम्पूर्ण ग्रन्थ एक ही शैली में लिखा गया है, एक ही भाषा का प्रवाह है और एक ही तर्कसरणि है। अतः कोई भी निष्पक्ष विद्वान् यही निर्णय करेगा कि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ स्वामी दयानन्द का ही लिखा हुआ है।

इस ऐतिहासिक सन्दर्भ पर विचार करते हुए हमें अपनी धन्यता पर भी गर्व एवं उत्साह होता है कि ऋषियों के पश्चात्, कई सहस्र वर्षों का अन्तराल काटकर, अचिन्त्यशक्ति परमप्रभु की कृपा से स्वामी दयानन्द सरस्वती का ऋषिरूप में उद्भव हुआ। साथ ही उनकी अमर लेखनी से मानवमन्तव्य का, सार्वभौम धर्मकोष का, मानव निर्माण के अपूर्व ग्रन्थ का प्रणयन, वह भी जनसाधारण की भाषा में हुआ। यह हमारे सौभाग्य का अंश तो है ही, साथ ही यह इस युग का भी सौभाग्य है कि उसे इस अद्वितीय ग्रन्थरत्न का प्रसाद मिला है।

तृतीय अध्याय

ग्रन्थ-परिचय

सत्यार्थप्रकाश जैसा युगान्तरकारी ग्रन्थ 14 समुल्लासों में विभक्त है। सामान्यरूप से ग्रन्थों को अध्यायों में लिखा जाता है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने इस अद्वितीय ग्रन्थ को अध्यायों में न बाँटकर समुल्लासों में विभक्त किया है। समुल्लास का अर्थ सम्यक् उल्लास है। विषय के प्रतिपादन के साथ प्रत्येक समुल्लास (अध्याय) पर उल्लास, उत्साह बढ़ता ही जा रहा है। ग्रन्थ के 14 समुल्लास एक के पश्चात् एक लेखक का उल्लास वर्द्धन करते जा रहे हैं। स्वामीजी ने समुल्लास प्रयोग ग्रन्थ विभाग के लिए किया है। वास्तव में समुल्लास कहें या अध्याय, बात एक ही है। सत्यार्थप्रकाश दो अर्द्धों—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में बँटा हुआ है। पूर्वार्द्ध में भूमिका और 10 समुल्लास हैं, उत्तरार्द्ध में 4 समुल्लास हैं और चारों समुल्लासों के साथ अनुभूमिकाएँ लगी हुई हैं। इस प्रकार पूर्वार्द्ध से पूर्व भूमिका सम्पूर्ण ग्रन्थ की भूमिका है और उत्तरार्द्ध में प्रत्येक समुल्लास से पूर्व एक-एक अनुभूमिका अर्थात् कुल चार अनुभूमिकाएँ हैं। चौदहवें समुल्लास को समाप्त करके स्वामी दयानन्द ने "स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश" शीर्षक से शास्त्रानुमोदित अपना मन्तव्य लिखा है!

भूमिका

सत्यार्थप्रकाश जैसे ग्रन्थरत्न की भूमिका भी अति महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय संस्करण का सामान्य परिचय कराकर स्वामीजी ग्रन्थ के चौदह

समुल्लासों और उनके विषयों की क्रमबद्ध सूची लिखते हैं। उन्होंने पुनः यह भी लिखा है कि ग्रन्थ के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्य—"आर्यों के सनातन वेदविहित मत की विशेषतः व्याख्या लिखी है, जिसको मैं भी यथावत् मानता हूँ।" इस प्रकार भूमिका के आरम्भ में ही सम्पूर्ण ग्रन्थ का आयाम निर्दिष्ट किया हुआ है।

ग्रन्थ का प्रयोजन :

"सत्यार्थप्रकाश" नामक ग्रन्थ स्वामी दयानन्द ने क्यों लिखा, इस ग्रन्थ के लिखने का क्या प्रयोजन था, इसे ग्रन्थकार ने निम्न प्रकार प्रकट किया है :

> "मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।"[1]

यहाँ ग्रन्थकार ने जहाँ सत्य के प्रति अपनी अविचल निष्ठा व्यक्त की है, वहीं सत्य की परिपूर्णता के लिए "कहना, लिखना और मानना" तीन क्रियाओं का प्रयोग किया है और ये तीनों क्रियाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रायः साम्प्रदायिकताग्रस्त मनुष्य अपने सम्प्रदाय के सम्मान की रक्षा के लिए छल-प्रपञ्च इत्यादि का सहारा लेकर अपने साम्प्रदायिक असत्य को भी जनता के सम्मुख सत्य बताने का प्रयास करता है। स्वामीजी कहते हैं कि आप्त विद्वान् साधारण जनता को असत्य से बचाने के लिए सत्य का प्रचार करते रहें।

आप्त विद्वानों का कर्त्तव्य :

"जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी

1. स० प्र० भूमिका, पृ० 5

सत्य और दूसरे विरोधी मतवाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह सत्यमत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि वे उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें। पश्चात् वे (सब मनुष्य) स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द रहें।"[1]

यहाँ स्वामीजी एक ओर साम्प्रदायिक पक्षपात के दुराग्रह से ग्रस्त व्यक्तियों के क्रियाकलाप का वर्णन करते हैं तो दूसरी ओर आप्त विद्वान् पुरुषों के कर्त्तव्य का भी निर्देश करते हैं। विचार और मान्यता में किसी प्रकार का बल-प्रयोग न किया जाय और अपनी-अपनी मान्यताओं को स्वीकार करने में सब स्वतन्त्र रहें। यह वैचारिक स्वतन्त्रता एवं मान्यता की स्वतन्त्रता का उत्कृष्ट स्वरूप है। सत्य को प्रकट करने में वैचारिक स्वतन्त्रता और मानने में आचरण की स्वतन्त्रता उल्लेखनीय है।

स्वामीजी को मनुष्य के आत्मा के ऊपर बड़ा भरोसा है। इसीलिए वे मनुष्य के आत्मा को सत्यासत्य निर्णय में बड़ा उच्च स्थान देते हैं। वे लिखते हैं :

"मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेवाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।"[2]

मनुष्य के आत्मा को इतना उच्च स्थान बहुत कम विचारकों ने दिया है। पौराणिक जगत् में एक मान्यता प्रचलित है :

"पापोऽहम्, पापकर्माऽहम् पापात्मा, पापसम्भवः।"

यहाँ मनुष्य अपने को पापी ही नहीं, पाप से उत्पन्न होने वाला भी कह रहा है। इसी प्रकार ईसाई जगत् की सर्वस्वीकृत मान्यता है :

1. स० प्र० भूमिका, पृ० 6
2. वही पृ० 6

We are born sinners.

हम मनुष्य जन्म से ही पापी हैं।

इन मान्यताओं के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द का यह लिखना अति महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य का आत्मा सत्य और असत्य को जाननेवाला होता है और वह असत्य की ओर तभी झुकता है, जब उसे अपने प्रयोजन की सिद्धि इष्ट होती है, जब वह हठ, दुराग्रह आदि से ग्रस्त हो जाता है और जब वह अविद्या आदि दोषों में फँस जाता है।

स्वामीजी को किसी की हानि करना या किसी का मन दुखाना इष्ट नहीं है। वे लिखते हैं :

"परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रखी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें। **क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।**"[1]

सर्वतन्त्र सिद्धान्त :

स्वामीजी संसार के सब मतों के विद्वानों से अनुरोध करते हैं कि संसार के विद्वान् यदि सर्वमान्य, सबके अनुकूल सर्वतन्त्र सिद्धान्तों को स्वीकार कर लें और तदनुकूल व्यवहार करें तो संसार का पूर्णहित होवे। वे लिखते हैं :

"यद्यपि आजकाल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं। वे पक्षपात छोड़ 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं, उनका ग्रहण, और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें—वर्त्तावें, तो जगत् का पूर्णहित होवे। **क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर**

1. स० प्र० भूमिका, पृ० 6

अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है।"[1]

स्वामीजी अपने देश अथवा भारतवर्ष के मत मतान्तरों की झूठी बातों के प्रति कोई पक्षपात न करने की घोषणा करते हैं। उसी प्रकार दूसरे देशों के मतमतान्तरों के साथ निष्पक्ष भाव से वर्तते हैं। स्वामीजी इस प्रकार की पक्षपातहीनता मनुष्य के लिए आवश्यक मानते हैं। साम्प्रदायिकतावश जो दूसरों की हानि व हत्या करते हैं उनके आचरण मनुष्यपन से बाहर हैं। वे लिखते हैं :

"क्योंकि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य शरीर पाकर वैसा ही कर्म करते हैं तो वे मनुष्य-स्वभावयुक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है, वही मनुष्य कहाता है। और जो स्वार्थवश होकर परहानि मात्र करता रहता है, वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।"[2]

स्वामीजी ने चारवाक, जैन-बौद्ध मत और उनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया है।

स्वामीजी ने अपने पाठकों से यह अपेक्षा की है कि वे ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के विरुद्ध मन से इस ग्रन्थ को न पढ़ें। वाक्यार्थ बोध में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य चार कारण होते हैं। अतः ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय को ध्यान में रखना पाठक का कर्त्तव्य है। वे लिखते हैं :

"बहुत से हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के

---

5. स० प्र० भूमिका पृष्ठ 6
6. वही पृष्ठ 8

अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मतवाले लोग। क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फँसकर नष्ट हो जाती है।"[1]

स्वामीजी ने उत्तरार्द्ध के चार समुल्लासों में खण्डनात्मक समीक्षा को प्रमुखता दी है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है :

"इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किये हैं जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्यासत्य मत का निर्णय कर सकें। और सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करने कराने में समर्थ होवें। **क्योंकि एक मनुष्य जाति में बहकाकर विरुद्ध बुद्धि कराके एक दूसरे को शत्रु बना, लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है।**"[2]

स्वामीजी अपने परिश्रम को इसलिए सफल समझते हैं क्योंकि बुद्धिमान् लोग उनके अभिप्राय को यथायोग्य समझेंगे। वे लिखते हैं :

"इसलिए मैं अपने परिश्रम को सफल समझता, और अपना अभिप्राय सब सज्जनों के आगे धरता हूँ। इसको देख-दिखला के मेरे श्रम को सफल करें। और इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करके मुझ वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य काम है।"[3]

भूमिका के अन्त में स्वामीजी ने आस्तिक हृदय की परमात्मा के प्रति प्रार्थना की है :

"सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द परमात्मा, अपनी कृपा से इस आशय को विस्तृत और चिरस्थायी करे।"[4]

1. स० प्र० भूमिका पृ० 12
2. वही पृ० 13
3. स० प्र० भूमिका पृष्ठ 13
4. स० प्र० भूमिका पृ० 13

प्रथम समुल्लास

ऋषि ने प्रथम समुल्लास का विषय निर्देशात्मक शीर्षक "अथेश्वर नामानि व्याख्यास्यामः" किया है। अर्थात् इस समुल्लास में ईश्वर के नामों की व्याख्या की गयी है। बात यह थी कि स्वामी दयानन्द के युग में लोग ईश्वर, अल्लाह और गॉड को अलग-अलग मानते ही थे। मुसलमान अल्लाह को मानते थे, अभी भी मानते हैं, ईसाई गॉड को मानते हैं और हिन्दू ईश्वर को मानते हैं। गाँधीजी ने प्रार्थना बुलबाना तो आरम्भ कर दिया था—ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान्। किन्तु यों तो हिन्दू, मुसलमान और ईसाई अपने-अपने परमेश्वर को अलग-अलग मानते हैं। कई लोग ईश्वर का निवास-स्थान भी मानते हैं। मुसलमान चौथे आसमान पर और ईसाई सातवें आसमान पर ईश्वर का निवास मानते हैं, और ईसाइयों का गॉड वही नहीं है जो मुसलमानों का अल्लाह है और हिन्दुओं का ईश्वर है। अल्लाह और गॉड सबसे अलग है।

बात इतनी ही नहीं थी। हिन्दुओं में भी कई सम्प्रदाय हैं जिनमें वैष्णव, शैव, शाक्त आदि पृथक्-पृथक् हैं। वैष्णव विष्णु भगवान् को मानते हैं तो शैव शिव भगवान् को और शाक्त शक्ति को मानते हैं। इस प्रकार परमेश्वर की मान्यता को लेकर मुसलमानों का ईसाइयों से तो मतभेद था ही, हिन्दुओं का भी आपस में बड़ा मतभेद था। सभी वेदों को मानते हैं, ऋषि-मुनियों को मानते हैं, वेद-शास्त्र, उपनिषद् आदि को मानते हैं। फिर भी वेद-शास्त्रों से पृथक् होकर अलग-अलग परमेश्वर मानना और कभी-कभी इसी आधार पर लड़ाई-झगड़े की नौबत भी आ जाना, उस समय सहज-सी बात थी। शैवों और शाक्तों, वैष्णवों और अवान्तर सम्प्रदायों में मनोमालिन्य अथवा झगड़ा ही नहीं होता था, कभी-कभी "दण्ड-मुण्ड-सम्मेलन" की नौबत भी आ जाती थी। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में यह बताया है कि परमेश्वर एक ही है और उसीके विष्णु अथवा शिव या अन्य भी अलग-अलग नाम हैं। स्वामी दयानन्द ने प्रथम समुल्लास में एक सौ से अधिक

परमेश्वर के नामों की व्याख्या करके यह लिखा है :

"परमात्मा के असंख्य नाम हैं, क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण-स्वभाव हैं वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। उनमें से प्रत्येक गुण, कार्य और स्वभाव का एक-एक नाम है। इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने विन्दुवत् हैं।" पृ० 48

ओम् परमेश्वर का सर्वोत्तम और निज नाम है। "ओम् यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है।" पृ० 14 "सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निजनाम ओम् को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं।" पृ० 18

ओम्—यह परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम क्यों है, ऋषि ने इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। वे लिखते हैं—"क्योंकि इसमें "ओम्" जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक ओम् समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं, जैसे :

"अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस् आदि, मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है।" पृ० 15

स्वामीजी ने अ, उ, म् के अर्थों का त्रिक देकर और उन्हें ग्राहक और वाचक बताकर उपनिषदादि आर्ष ग्रन्थों से ओम् की व्याख्या का सारांश निचोड़कर अध्ययनशील व्यक्तियों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है।

स्वामीजी ने वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से यह सिद्ध किया है कि ओम् परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। यजुर्वेद में ओम् खम् ब्रह्म (40-17)। इसी प्रकार स्वामीजी ने छान्दोग्योपनिषद् में, माण्डूक्योपनिषद् में, कठोपनिषद् में ओम् की महिमा का बड़ा सुन्दर वर्णन प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है :

स्वामीजी ने ओम् के अतिरिक्त निम्नलिखित शताधिक नामों की व्याख्या की है :

1. विराट् 2. अग्नि 3. विश्व 4. हिरण्यगर्भ
5. वायु 6. तैजस् 7. ईश्वर 8. आदित्य
9. प्राज्ञ 10. प्राण 11. अक्षर 12. स्वराट्
13. कालाग्नि 14. दिव्य 15. सुपर्ण 16. गरुत्मान
17. मातरिश्वा 18. मित्र 19. वरुण 20. अर्यमा
21. इन्द्र 22. बृहस्पति 23. विष्णु 24. उरुक्रम
25. ब्रह्म 26. सूर्य 27. परमात्मा 28. परमेश्वर
29. सविता 30. देव 31. कुबेर 32. पृथ्वी
33. जल 34. आकाश 35. अन्न 36. अन्नाद
37. अत्ता 38. वसु 39. रुद्र 40. नारायण
41. चन्द्र 42. मंगल 43. बुध 44. शुक्र
45. शनैश्चर 46. राहु 47. केतु 48. यज्ञ
49. बन्धु 50. पिता 51. पितामह 52 प्रपितामह
53. माता 54. आचार्य 55. गुरु 56. अज
57. ब्रह्मा 58. सत्य 59 ज्ञान 60. अनन्त
61. अनादि 62. आनन्द 63. सत् 64. चित्
65. सच्चिदानन्द-स्वरूप 66. शुद्ध 67. बुद्ध 68. मुक्त
69. निराकार 70. निरञ्जन 71. गणेश
72. गणपति 73. विश्वेश्वर 74. कूटस्थ 5 देवी
76. शक्ति 77. श्री 78. लक्ष्मी 79. सरस्वती
80. सर्वशक्तिमान् 81. न्यायकारी 82. दयालु 83. अद्वैत
84. निर्गुण 85. सगुण 86. अन्तर्यामी 87. धर्मराज
88. यम 89. भगवान् 90. मनु 91. पुरुष
92. विश्वम्भर 39. काल 94. शेष 95. आप्त
96. शंकर 97. महादेव 98. प्रिय 99. स्वयंभू
100. कवि 101. शिव आदि। १०८ पूरे करने चाहिये

इन सभी नामों की व्याख्या व्याकरण की दृष्टि से और भक्ति की

भावना से ओतप्रोत इतने सुन्दर रूप में की गयी है कि कई बार ये व्याख्याएँ परम हृदयग्राही और अद्भुत प्रतीत होती हैं। यहाँ एक विशेष उल्लेखनीय प्रसङ्ग यह है कि स्वामीजी ने एक ओर तो अग्नि, जल, अन्न, आकाश आदि को परमेश्वर का नाम माना है और दूसरी ओर एक और भी उत्कण्ठा बढ़ाने वाला प्रसङ्ग उठाया है कि पृथ्वी, चन्द्र, मङ्गल, बुध, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु, सूर्य ये ग्रहों के नाम भी परमेश्वर के नाम हैं। बड़ा सहज प्रश्न है कि कब अग्नि आदि परमेश्वर के नाम हैं और कब नहीं हैं। इसी प्रकार राहु, केतु, मङ्गल, बुध इत्यादि जो प्रसिद्ध रूप में ग्रहों के नाम हैं और ग्रहों के रूप में ही पौराणिक कर्मकाण्ड में इनका पूजन होता रहता है, तो कब इन्हें नवग्रहों का नाम समझा जाय और कब परमेश्वर का नाम समझा जाय। इस सम्बन्ध में स्वामीजी ने एक बड़ा सुन्दर नियम निर्धारण किया है। वे लिखते हैं :

> "और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि प्रकरण और सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।" पृ० 20

यदि किसी वर्णन प्रसंग में स्तुति, प्रार्थना, उपासना नहीं चल रही है और सर्वज्ञ आदि विशेषण वहाँ नहीं लिखे हैं तो समझ लेना चाहिए कि यह परमेश्वर का नहीं अपितु सूर्य आदि ग्रहों का वर्णन है।

स्वामीजी ने प्रथम समुल्लास में अर्थज्ञान में प्रकरण को बहुत सहयोगी माना है। जहाँ ध्यान, उपासना आदि का प्रकरण हो वहाँ परमेश्वर का ही ग्रहण करना चाहिये। जहाँ उपासना आदि का वर्णन न हो, और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् आदि विशेषण न हों वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं करना चाहिये।

स्वामीजी ने परमेश्वर के जिन सौ नामों की व्याख्या की है, उनमें बहुत सारी व्याख्याएँ बड़ी हृदयग्राही लगती हैं। दो-चार उदाहरण

इस हृदयग्राहकता को अधिक सुस्पष्ट कर सकेंगे। परमेश्वर का एक नाम वरुण भी है। सन्ध्या में मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में "प्रतीचीदिक् वरुणोऽधिपतिः" आया है। उसी तरह वरुण परमेश्वर के लिये बहुत जगह आता है। ऋषि लिखते हैं :

> "वृञ् वरणे, वरईप्स्याम्" इन धातुओं से उणादि "उनन्" प्रत्यय होने से वरुण शब्द सिद्ध होता है। 'यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनोवृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्माभिर्व्रियते वर्यते वा स वरुणः परमेश्वरः'. जो आत्मयोगी विद्वान् मुक्ति की इच्छा करने वाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकारकर्ता अथवा जो शिष्ट मुमुक्षु और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह ईश्वर वरुण संज्ञक है अथवा वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः जिसलिये परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है इसीलिये उसका नाम वरुण है।" पृ० 26

इस व्याख्या में वैयाकरण स्वारस्य यह है कि स्वामी दयानन्द ने कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य दोनों के द्वारा वरुण शब्द को सिद्ध किया है। परमात्मा भक्तों का वरण करता है और वह भक्त मुमुक्षुओं के द्वारा वरणीय है, यह कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य का वैयाकरण आनन्द है। भक्तिभावना की दृष्टि से भी इस व्याख्या का एक स्वारस्य है—परमेश्वर भक्तों का वरण करते हैं और परमेश्वर भक्तों के द्वारा वरण किये जाते हैं। भक्त अपने भगवान को वर लेता है तो भगवान भी अपने भक्तों का वरण कर लेते हैं। भक्ति भावना की दृष्टि से ऐसी कई व्याख्याएँ परम हृदयग्राही हैं।

स्वामीजी की व्याख्याओं की विशेषता तो कोई बड़ा विद्वान् और प्रभुभक्त ही बता सकता है, किन्तु हमारे जैसे अल्पपठित और अल्पश्रुत व्यक्ति को भी जहाँ बहुत सारी विशेषताएँ दिखायी पड़ती हैं। उनमें से मात्र चार-छः विशेषताओं का दिग्दर्शन यहाँ करा रहे हैं। स्वामीजी ने परमेश्वर का एक नाम हिरण्यगर्भ भी लिखा है। हम

हिरण्यगर्भ की पौराणिक मान्यता में जाना नहीं चाहते, केवल स्वामी दयानन्द की व्याख्या का स्वरूप दिखा रहे हैं। वे लिखते हैं :

"ज्योतिर्वै हिरण्यम् तेजो वै हिरण्यम् इत्यैतरेय शतपथ ब्राह्मणे। यो हिरण्यानाम् सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्ति निमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः—जिसमें सूर्यादि तेज वाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं अथवा जो सूर्यादि तेज स्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवास है, इससे इस परमेश्वर का नाम हिरण्यगर्भ है।" पृ० 23

ऋषि ने ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण से हिरण्य का ज्योति और तेज दो अर्थ लिखे हैं और सूर्यादि विश्व के तेजस्वी पदार्थ ज्योतिष्मान् पदार्थ परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं और परमेश्वर में ही निवास करते हैं। भक्ति की भावना थोड़ा और आगे बढ़ती है। मनुष्य में भी एक तेज है और एक ज्योति है। मनुष्य का तेज और ज्योति सत्य और सदाचार प्रभु के बल पर टिके रहते हैं। भक्तों में आध्यात्मिकता का तेज, सौम्यभाव, यह सब परमेश्वर के गर्भ में पलते हैं। संसार के खाद्य दूध, दही, मेवा, मिष्टान्न वह तेज और ज्योति नहीं प्रदान कर पाते जो प्रभु के समर्पित भक्तों में चमकता रहता है।

परमेश्वर का एक नाम वायु है—"वा गति गन्धनयोः" इस धातु से वायु शब्द सिद्ध होता है। गन्धनम् हिंसनम् यो वाति चराचरं जगद्धरति जीवयति प्रलयति बलिनां बलिष्ठः स वायुः जो चराचर जगत का धारण, जीवन और प्रलय करता है और सब बलवानों से बलवान् है, उससे उस परमेश्वर का नाम वायु है।" पृ० 23

यहाँ संसार को जीवन देना और प्रलय करना दोनों अर्थ वायु शब्द में समाया हुआ है। हम वैयाकरण टिप्पणी देने का उद्देश्य इस ग्रन्थ में नहीं रखना चाहते, किन्तु स्वामीजी ने यहाँ एक विचित्र पाठ "गन्धनम् हिंसनम्" लिखा है। इसमें कई बार यह प्रश्न उठ जाता

है कि गति से ज्ञान, गमन, प्राप्ति, जोड़ना, निर्माण करना आदि तो हो सकता है, किन्तु 'गन्धनम् हिंसनम्' यह कैसे हो गया ? स्वामी दयानन्द की विद्या अगाध थी। उन्होंने कितने ग्रन्थ पढ़े थे, कहाँ से क्या अर्थ ले लिया था, यह खोजते-खोजते विद्वान् चकित रह जाते हैं। धातु पाठ में "बस्त गन्ध अर्दने—धातु 10-152 और अर्द हिंसायाम्-धातु 10-255 पठित है। श्री युधिष्ठिरजी मीमांसक में गन्धनम् मर्दनम् इति क्षीरतरंगण्यामकव्यचित्कः पाठः ऐसा निर्देश किया है। महामुनि पाणिनि की अष्टाध्यायी में एक सूत्र आया है—'गन्धनावक्षेपण सेवन साहसिक्य प्रतियत्न प्रकथनोपयोगेषु कृञः।' अ० 1 3.32. यहाँ भी गन्धनम् का अर्थ हिंसनम् है। अतः स्वामीजी का अर्थ व्याकरण से सुपुष्ट है।

परमेश्वर का एक नाम मित्र भी है। "ञिमिदा स्नेहने" इस धातु से औणादिक क्त्र प्रत्यय के होने से मित्र शब्द सिद्ध होता है। मेद्यतिस्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः अर्थात् जो सबसे स्नेह करने और प्रीति करने योग्य है उससे उस परमेश्वर का नाम मित्र है। यहाँ भी कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के प्रयोग के द्वारा स्वामीजी यह बताते हैं कि परमेश्वर भक्तों को स्नेह करता है और भक्तों के द्वारा प्रभु का स्नेह किया जाता है, अर्थात् हम प्रभु के स्नेहपात्र हैं और प्रभु हमारे स्नेह पात्र हैं।

इसी प्रकार ऋषि ने नवग्रह के सभी शब्दों को सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध आदि को परमेश्वर का ही नाम बताया है। और तो और पृथ्वी भी परमेश्वर का एक नाम हैं। "पृथु विस्तारे" इस धातु से पृथ्वी शब्द सिद्ध होता है। यः पर्थति सर्वं जगत् विस्तृणाति स पृथिवी।" जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करने वाला है। इसलिये उस परमेश्वर का नाम पृथिवी है। पृ० 32

जल भी परमेश्वर का एक नाम है। ऋषि जल शब्द की व्याख्या करते हैं—"जलघातने—इस धातु से जल शब्द सिद्ध होता है "जलति घातयति दुष्टान् संघातयति अव्यक्त परमाणवादीन् तद्ब्रह्म जलम्—जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योन्य संयोग व वियोग करता है, वह परमात्मा जलसंज्ञक कहाता है। यद्वा

यज्जनयति सकलम् जगत् तद् ब्रह्मजलम् अर्थात् जो सबका जनक और सब सुखों का देने वाला है, इसलिये भी परमेश्वर का नाम जल है।" पृ० 32

अन्न परमेश्वर का एक नाम है। "अद् भक्षणे" इस धातु से अन्न शब्द सिद्ध होता है अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते।

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नाऽदोऽहमन्नादोऽहमन्नादः

—तैत्ति० उप०

आत्ता चराचर ग्रहणात्—"यह व्यासमुनि कृत शारीरिक सूत्र है जो सबको भीतर रखने, सबको ग्रहण करने योग्य, चराचर जगत् का ग्रहण करने वाला है, उससे उस ईश्वर के अन्नः, अन्नाद और अत्ता नाम हैं।"

पृ० 32

परमेश्वर का एक नाम नारायण भी है। ऋषि ने मनुस्मृति का श्लोक प्रमाण में उद्धृत किया है :

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः

—मनु० 1-10

"जल और जीवों का नाम नारा है, वे अयन अर्थात् निवास स्थान हैं जिसका, इसलिए सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम नारायण हैं।" पृ० 34

यज्ञ भी परमेश्वर का नाम है। वेदों में तो परमेश्वर के लिये यज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वामीजी लिखते हैं :

"यज देव पूजा संगतिकरणदानेषु—इस धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। "यज्ञो वै विष्णुः" यह ब्राह्मण ग्रन्थ का कथन है। यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः। जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता और सब विद्वानों का पूज्य है और ब्रह्मा से ले के सब ऋषि-मुनियों का पूज्य था, है और होगा, उससे उस परमात्मा का नाम यज्ञ है, क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है।"

पृ० 36

'श्री' भी परमेश्वर का नाम है। ऋषि व्याख्या करते हैं :

"श्रिञ् सेवायाम्" इस धातु से श्री शब्द सिद्ध होता है। यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः—जिसका सेवन सब जगत्, विद्वान् और योगीजन करते हैं, उस परमात्मा का नाम श्री है।" पृ० 41

हमने यहाँ पाठकों के रुचिवर्द्धन के लिए केवल दश नामों का स्वामी दयानन्द द्वारा व्याख्यान निर्देश मात्र कर दिया है। स्वामीजी ने तो सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में एक सौ आठ नामों की व्याख्याएँ की हैं और सभी व्याख्याएँ एक से एक बढ़कर अपनी विशेषताएँ रखती हैं। विद्वानों ने इन नामों की सप्रमाण उदाहरण सहित व्याख्याएँ लिखी हैं। हम तो विशेष रूप से आदरणीय विद्वान् पं० विद्यासागरकृत "अष्टोत्तर शत नाम मालिका" नामक ग्रन्थ (रा० क० ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित) से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं।

परमेश्वर के नाम तीनों लिंगों में :

ऋषि ने इस प्रसंग को भी उठाया है कि परमेश्वर के नाम तीनों लिंगों में हैं। वस्तुतः संस्कृत के शब्दों के लिंग तो शब्द की वैयाकरण व्युत्पत्ति प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर होते हैं। ऋषि ने लिखा है— "परमेश्वर के तीनों लिंगों में नाम हैं, जैसे "ब्रह्मचितिरीश्वरश्चेति"— जब ईश्वर का विशेषण होगा तब देव, जब चिति का होगा तब देवी। इससे ईश्वर का नाम देवी है।" यहाँ ब्रह्म नपुंसक लिंग, चिति स्त्री लिंग और ईश्वर पुलिंग है।

मङ्गलाचरण का प्रकार :

प्राचीन ऋषि लोग ग्रन्थ के आरम्भ में ओम् तथा अथ शब्दों का प्रयोग करते थे। किसी देवी-देवता को प्रणाम करना या उसे नमस्कार निवेदन करना आर्ष ग्रन्थों की परम्परा नहीं है। मध्यकाल में श्री गणेशाय नमः, सीतारामैभ्याम् नमः, शिवाय नमः, दुर्गायै नमः इत्यादि का प्रयोग मङ्गलाचरण के रूप में होने लगा। आधुनिक मङ्गलाचरणों के पीछे कुछ तो उस देवता को प्रसन्न करने की बात थी और कुछ यह भावना

भी काम करती थी कि इस देवता की कृपा से सब निर्विघ्न समाप्त हो जायगा। स्वामी दयानन्द ने महाभाष्य, मीमांसा दर्शन, योग दर्शन, सांख्य दर्शन, वेदान्त दर्शन, इत्यादि ग्रन्थों का प्रमाण देकर यह दिखाया है कि ऋषियों की परम्परा में 'अथ' शब्द का ही आरम्भ में प्रयोग होता था। इसी प्रकार उपषिदों के प्रमाण देकर और वेदों के प्रमाण देकर यह दिखाया है कि वैदिक परम्परा "ओम्" लिखने-बोलने की है, "हरिः ओम्" नहीं। हरिः ओम् पौराणिक और तान्त्रिक परम्परा है। ऋषि परम्परा तो ओम् व अथ शब्द ही ग्रन्थ के आदि में लिखने की है।

द्वितीय समुल्लास

द्वितीय समुल्लास का शीर्षक है—"**अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः।**" इसका हिन्दी अनुवाद तो मात्र इतना ही है कि अब हम शिक्षा के सम्बन्ध में कहेंगे। किन्तु ऋषि की मान्यता में शिक्षा का अर्थ बहुत विस्तृत है। आज शिक्षा पढ़ाई के संकुचित अर्थ में प्रयुक्त हो रही है. स्वामीजी शिक्षा को बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। वस्तुतः यहाँ शिक्षा से अभिप्राय पढ़ाई के अतिरिक्त कुमारभृत्या से भी है। अर्थात् बच्चों का पालन-पोषण किस रूप में होना चाहिए। यह भी उन्होंने इसी समुल्लास में लिखा है। शिशु के निर्माण के लिये बच्चे के जन्म से पूर्व बल्कि गर्भाधान से भी पूर्व माता-पिता को शिशु के सर्वाङ्गीण विकास के लिये क्या कर्त्तव्य है, इसे भी उन्होंने इस समुल्लास में लिखा है। बच्चा जन्म के पश्चात् किस तरह पाला-पोसा जाय, यह एक बात है। किन्तु गर्भ में भी तो बच्चे का निर्माण हो रहा है। अतः गर्भावस्था में बच्चे के सुन्दर निर्माण के लिये क्या कर्त्तव्य है, इसका भी कम महत्त्व नहीं है। इसीलिये स्वामीजी ने गर्भकाल में माता-पिता के आचरण, व्यवहार, खानपान के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। वस्तुतः बच्चे का निर्माण तो गर्भावस्था से पूर्व माता-पिता के आचरण, व्यवहार, खान-पान इत्यादि से सम्बन्धित हो जाता है। इसलिये ऋषि ने ऋतुकाल के कर्त्तव्यों का भी निर्देश किया है। वे शिक्षा के व्यापक क्षेत्र में इन सभी

प्रसंगों को सन्निविष्ट कर लेते हैं।

तीन शिक्षक :

शिक्षा केवल अध्यापक से ही पूरी नहीं होती। अध्यापक अथवा आचार्य तो तीसरे स्थान पर आते हैं। जब बच्चा पुस्तक पढ़ने योग्य हो जाता है, तब अध्यापक का कार्य आरम्भ होता है। किन्तु इससे पूर्व माता और पिता दो और शिक्षक हैं जिनका कार्य आचार्य या अध्यापक से पूर्व बच्चे को शिक्षा देना है। इस समुल्लास के प्रथम वाक्य में ही स्वामीजी लिखते हैं :

> "वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक, अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् जिसके माता-पिता धार्मिक विद्वान् हों।" पृ० 52

प्रथम गुरु माता :

बच्चों की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये स्वामीजी माता का स्थान बहुत उच्च मानते हैं। क्योंकि माता से बच्चों को जो शिक्षा, उपदेश और उपकार मिल सकता है वह अन्य किसी से नहीं। स्वामीजी माता के लिये भी कुछ विशेषण लगाते हैं। वस्तुतः "मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषोवेद"। इसमें मातृमान् की व्याख्या करते हुये स्वामीजी लिखते हैं :

> "मातृमान् अर्थात् "**प्रशस्ता धार्मिकी माता-विद्यते यस्य स मातृमान्**" धन्य वह माता है जो गर्भाधान से लेकर जबतक पूरी विद्या न हो तबतक सुशीलता का उपदेश करे।" पृ० 52

पाँच वर्ष की अवस्था तक बच्चे माता की देखरेख में रहें। इस समय माता बच्चे को सभ्यता की उत्तम शिक्षा करती रहे। वह बच्चों को स्पष्ट, शुद्ध, मधुर, गम्भीर, सुन्दर उच्चारण का अभ्यास करावे। वह बड़े-छोटे के पास उठने-बैठने, आदर-भाव, योग्य व्यवहार की शिक्षा देती रहे। यह ध्यान रखे कि शिशु "व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष,

शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या-द्वेषादि न करे।" वह बच्चों को सब प्रकार की कुचेष्टाओं से बचाने का प्रयास करे।

द्वितीय गुरु पिता :

पिता बच्चे को देवनागरी अक्षरों का और अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी अभ्यास करावे। इस आयु में बच्चों को सूक्तियाँ भी कण्ठस्थ करानी चाहियें। अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म-परमेश्वर, माता-पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि इत्यादि से सम्बन्धित सूक्तियों को तथा इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थ सहित कण्ठस्थ करावे। उनको ऐसी शिक्षा दे कि वे भूत-प्रेत आदि मिथ्या बातों के विश्वास में कभी न पड़ें।

स्वामीजी के समय में भूत, प्रेत, चुड़ैल, भैरव भैरवी, शीतला आदि पाखण्डों का बहुत प्रचार था। उस समय लोगों में साधारण शिक्षा भी बहुत कम थी। अतः ओझा-सोखा, झाड़-फूँक करने वाले सयाने लोग सीधे-सादे अपढ़ मनुष्यों को बहुत ठगते थे। स्वामीजी ने इन सबका बड़ा उग्र खण्डन किया है। जैसे भूत-प्रेत आदि के बहाने ओझा-सोखा सयाने लोग ठगते थे उसी प्रकार क्रूर ग्रह और जन्मपत्री सम्बन्धी छल के द्वारा ज्योतिषी लोग भी लोगों को ठगते भी थे और हैरान भी करते थे। स्वामीजी ने इन सब ठग विद्याओं का उग्रतम विरोध किया है।

> "जैसी यह पृथ्वी जड़ है वैसे ही सूर्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या वे चेतन हैं जो क्रोधित होकर दुःख दे सकें और शान्त होकर सुख दे सकें।" पृ० 57-58

स्वामीजी ने इसी प्रकार जन्मपत्र को शोकपत्र, कुण्डली, शीतला, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि को ढोंग बताया है। स्वामीजी लीला, मारण-मोहन, उच्चाटन इत्यादि को मिथ्या बताते हैं और माता-पिता इन मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था में ही सन्तानों के हृदय में दृढ़स्थायी

कर दें जिससे वे कभी किसी धूर्त के बहकावे में आकर भ्रमजाल में पड़कर दुःख न पावें।

स्वामी दयानन्द ब्रह्मचर्य और वीर्यरक्षा के ऊपर बहुत बल देते हैं। इसके लिये बालकों को ब्रह्मचर्य का लाभ अच्छी तरह समझा देना चाहिये जिससे उनके शरीर का बल बढ़े, स्वास्थ्य अच्छा रहे और वे दुर्बल, निस्तेज और निर्बुद्धि नहीं हों। वे उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रम आदि गुणों से रहित होकर नष्ट न हो जायँ। सभी बच्चों को आचार्य कुल में पढ़ने के लिये भेज दिया जाय। लड़के और लड़कियाँ दोनों समान रूप से विद्या प्राप्त करने के अधिकारी हों। स्वामी दयानन्द के अनुसार शूद्र आदि के बच्चों को भी पढ़ने के लिये विद्यालय-गुरुकुल में भेजना अनिवार्य है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये स्वामीजी के अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार हैं, क्योंकि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जिस समय स्वामीजी यह ग्रन्थ लिख रहे थे, लड़कियों की शिक्षा का प्रायः सर्वथा अभाव ही था। अन्त्यज शूद्र कुलोत्पन्न बच्चों को पढ़ाने की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। उस समय शूद्र कुलोत्पन्न लड़कों और लड़कियों को विद्याध्ययन की अनिवार्य व्यवस्था करना, सभी के लिए भोजन, वस्त्र, आवास आदि की समान व्यवस्था की संस्तुति करना अत्यन्त उग्र सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति थी।

स्वामी दयानन्द बच्चों के लालन-पालन में कड़ाई और ताड़ना के समर्थक थे। उन्होंने महाभाष्य का प्रमाण देकर कहा है :

> "जो माता-पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे जानो अपनी सन्तानों और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं। और जो सन्तानों और शिष्यों का लाड़न करते हैं वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।" पृ० 61

किन्तु माता-पिता तथा अध्यापक ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर भय प्रदान

करने के लिये ताड़ना करें। ऊपर से भय-प्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रखें। बच्चों को सदाचार और सत्यभाषण की शिक्षा देनी चाहिये। बच्चे किस तरह अभिमान और छल-कपट से दूर रहें, क्रोधादि छोड़ मधुर वचन बोलें, उठने-बैठने और बड़ों के साथ रहने इत्यादि की शिक्षा उन्हें दे देनी चाहिये। खान-पान, आचार-व्यवहार सब कुछ अच्छी तरह समझा देना चाहिये। समुल्लास का समापन करते हुये स्वामीजी लिखते हैं :

> "यही माता-पिता का कर्त्तव्य, कर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है, जो अपने सन्तानों को तन-मन-धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षा युक्त करना।" पृ० 64

इस प्रकार स्वामीजी ने बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में अर्थात् उनके आचरण, व्यवहार आदि के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विवेचन किया है।

तृतीय समुल्लास

तृतीय समुल्लास का शीर्षक है—"**अथाऽध्ययनाध्यापन विधिं व्याख्यास्यामः**"। द्वितीय समुल्लास में शिक्षा का वर्णन करके स्वामीजी तृतीय समुल्लास में अध्ययन-अध्यापन की विधि का वर्णन करते हैं। शिक्षा से स्वामीजी का आशय है बच्चों का लालन-पालन और सदाचार, सद्व्यवहार, और जीवन आचरण की शिक्षा। तृतीय समुल्लास में पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार कैसा हो, इस बात का वर्णन है।

स्वामीजी के समय में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ था। अंग्रेजी स्कूल कम थे। बहुत बड़े राजे-महाराजे, जमींदार, साहूकार, धनी और सम्पन्न लोग उन थोड़े से अंग्रेजी स्कूलों में अपने बच्चों को भेजते थे। प्रायः मौलवी और मुन्शी गावों में मदरसे चलाते थे और वहाँ प्रायः उर्दू, उसीके साथ फारसी और कहीं-कहीं अरबी की भी पढ़ाई होती थी। उर्दू अदालत और रेकार्ड की भाषा थी। अतः प्रायः खाते-पीते लोग उर्दू पढ़ते थे। कुछ थोड़े-बहुत लोग फारसी आदि भी पढ़ते थे और स्वाभाविक था कि इस तरह की शिक्षा से भारतीयता की भावना

को बल बहुत कम मिल पाता था। कुछ थोड़े-से पण्डित ब्राह्मण, विद्वान् अपने घरों पर पाठशालाएँ और टोल चलाते थे जिनमें कुछ ब्राह्मणों के बच्चे पौरोहित्य कर्म करने की दृष्टि से थोड़ी संस्कृत पढ़ लेते थे। सारी संस्कृत शिक्षा अनार्ष हो चली थी। सत्यनारायण की कथा, दुर्गापाठ, मूहूर्त्त का विचार, जनेऊ, विवाह आदि कर्मकाण्ड ही समान्य रूप से पढ़े-पढ़ाये जाते थे।

आर्ष शिक्षा :

भारतवर्ष में गाँवों में तो प्रायः छोटे-छोटे ही पण्डित थे, किन्तु काशी आदि संस्कृत विद्या के केन्द्रों में बड़े-बड़े विद्वान् थे और वे अध्यापन भी करते थे। किन्तु विद्या के इन प्रसिद्ध केन्द्रों में भी ऋषिकृत ग्रन्थों का पठन-पाठन बन्द-सा ही हो गया था। थोड़े से दाक्षिणात्य वेदपाठी ब्राह्मणों को छोड़कर कोई वेद नहीं पढ़ता था। कर्मकाण्डी पुरोहित कर्मकाण्ड के मन्त्र-मात्र कण्ठस्थ कर लेते थे। दाक्षिणात्य ब्राह्मण भी केवल पाठ ही पढ़ते थे। ऋषियों के द्वारा लिखे गये दर्शन के सूत्र-ग्रन्थों का पढ़ना बन्द हो गया था। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदांत, मीमांसा आदि के नाम पर जो कुछ पढ़ाया जाता था वह सब पण्डितों का ही लिखा हुआ था। ऋषियों के लिखे ग्रन्थ, महामुनि पाणिनि की व्याकरण की अष्टाध्यायी से आरम्भ करके सम्पूर्ण व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, दर्शन सब कुछ अनार्ष ही पढ़ा-पढ़ाया जाता था। स्वामी दयानन्द ने अध्ययन-अध्यापन की सम्पूर्ण धारा को पलट दिया और ऋषिकृत ग्रन्थों के पढ़ने पढ़ाने की व्यवस्था की।

तृतीय समुल्लास के आरम्भ में स्वामीजी द्वितीय समुल्लास के आचरण-व्यवहार से मिलती-जुलती बातें करते हैं कि बच्चों का वास्तविक आभूषण विद्या और सदाचार हैं। सोने-चाँदी आदि के आभूषणों से केवल देहाभिमान और विषयासक्ति बढ़ता है। उन्होंने स्वरचित एक श्लोक लिखा है :

विद्या विलास मनसोधृत शीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहित मान मलाप हाराः।

संसार दुःख दलनेन सुभूषिता ये
धन्या नराविंहित कर्म परोपकाराः ।

अर्थात् वे नर-नारी धन्य हैं जिनका मन विद्या के विलास में लगा रहता है और जिनके शील-स्वभाव सुन्दर और जिनमें अभिमान, अपवित्रता, मलिनता आदि नहीं होती। वे नर-नारी धन्य हैं जो सत्य के उपदेश और विद्या के दान से संसार के लोगों को विद्या से सुशोभित करते हैं।

सहशिक्षा विरोध :

स्वामी दयानन्द ने जहाँ एक ओर यह लिखा है कि कन्याओं को भी अवश्य पढ़ाना चाहिये, वहीं वे यह भी लिखते हैं कि लड़के और लड़कियाँ एक विद्यालय में न पढ़ें। यहाँ तक कि लड़कों के विद्यालय में न कोई स्त्री पढ़ाये और न ही कोई स्त्री आदि ऐसे शिक्षालयों और विद्यार्थियों के निवास स्थानों में सेविकाएँ आदि नियुक्त की जाँय। इसी प्रकार लड़कियों की पाठशाला में पुरुष न अध्यापक नियुक्त किये जाँय और नौकर आदि भी पुरुषों को न रखा जाय। लड़के और लड़कियों की पाठशालाएँ एकान्त देश में होनी चाहियें। लड़के और लड़कियों की प्राठशालाएँ पर्याप्त दूरी पर होनी चाहियें जिससे लड़के और लड़कियों का परस्पर मिलना-जुलना न हो सके और वे पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए निश्चिन्त भाव से विद्याध्ययन कर सकें। स्वामीजी की व्यवस्था में बच्चों का घर से भी सम्पर्क नहीं रहना चाहिये।

विद्या की सुविधा एवं अवसर का समानाधिकार :

आज समाजवाद और साम्यवाद के युग में निःशुल्क शिक्षा की बड़ी चर्चा है। साम्यवाद में कम्यून और बच्चों में भरण-पोषण, पढ़ने-पढ़ाने की जो व्यवस्था बतायी जाती है उसके साथ तुलना करने पर स्वामी दयानन्द के द्वारा प्रतिपादित शिक्षा तथा पाठशालाओं की व्यवस्था बहुत रुचिकर लगती है। वे शिक्षा को **अनिवार्य** बताते हैं। कोई भी हो, किसी भी वर्ण का हो, किसी भी जाति का हो

लड़का हो, या लड़की, सभी को अनिवार्य रूप से शिक्षा मिलनी चाहिये। यहाँ उनके द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था को समझने के लिये हम तृतीय समुल्लास से दो उद्धरण दे रहे हैं :

> "सब को तुल्य वस्त्र, खान, पान, आसन दिये जाँय। चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र के सन्तान हों। सबको तपस्वी होना चाहिये। उनके मात-पिता अपने सन्तानों से व सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक दूसरे से कर सकें। जिससे सांसारिक चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें।" पृ० 67

> "इसमें (अध्ययन-अध्यापन में) राजनियम और जाति नियम होना चाहिये कि ५वें अथवा ८वें वर्ष के आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सकें, पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। पृ० 67

इन दोनों उद्धरणों के प्रकाश में कई तथ्य सुस्पष्ट रूप से सामने आते हैं :

1 शिक्षा अनिवार्य है—लड़के और लड़कियाँ सभी घर से बाहर रह कर विद्याध्ययन करें।
2. यदि माता-पिता बाधक बनें तो वे दण्डनीय समझे जाँय।
3. विद्यालय आवासीय हों, बस्ती से दूर और लड़कों एवं लड़कियों के लिये अलग-अलग हों।
4. धनी और गरीब सभी बच्चों को अवसर की समानता मिलनी चाहिये। सभी को खान-पाम, आवास, पुस्तक आदि समान रूप से उपलब्ध हों।
5. शिक्षा तो निःशुल्क हो ही। खानपान, आसन, वस्त्र सब राज्य और समाज की ओर से दिये जाँय और इसमें भी सभी बच्चों में समानता हो। शिक्षाकाल में सन्तानों के माता-पिता पर व्यय भार न होकर राज्य और समाज की व्यवस्था में सब कुछ रहे।

विचारणीय है कि बच्चों के माता-पिता या परिवार वाले किसी प्रकार के आर्थिक दायित्व में न पड़ें। शिक्षा का सम्पूर्ण दायित्व राज्य और समाज का है। यह अवसर की समानता आज से शताधिक वर्ष पूर्व अपने में सामाजिक क्रान्ति का श्रेष्ठतम उदाहरण है। जैसे आर्थिक विपन्नता की स्थिति में राजनीतिक मताधिकार की समानता अथवा सामाजिक समानता और न्यायिक समानता सब उपहसनीय हो उठता है, दरिद्र व विपन्न न न्याय पाता है न सामाजिक समानता पाता है और उसकी राजनीतिक समानता भी व्यर्थ ही है। उसी प्रकार भोजन, आवास, पुस्तकों की व्यवस्था के अभाव में और अन्य आवश्यकीय सुविधाओं के अभाव में, अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा-व्यवस्था की बात करना निर्बल वर्ग की विपन्नता का उपहास ही बन जाता है। इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द समानाधिकार के अग्रदूत के रूप में उपस्थित हो जाते हैं। वे केवल मताधिकार की समानता की बात नहीं करते, अपितु शिक्षा, सुविधा, अवसर आदि की समानता भी आवश्यकीय बताते हैं।

गृहस्थों का अपना जीवन होता है और उनकी दिनचर्या विद्यार्थियों की दिनचर्या से कई प्रकार से भिन्न होती है। अतः विद्यार्थी परिवारों से अलग, घर की चिन्ताओं से मुक्त आवासीय विद्यालयों में अपने जीवन निर्माण में लगे रहें। यहाँ स्वामी दयानन्द की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक क्रान्तिओं का एक समन्वित रूप उपस्थित होता है।

लड़के हों या लड़कियाँ, सभी का उपनयन, सभी को गायत्री का उपदेश, सन्ध्या, प्राणायाम आदि की शिक्षा दे देनी चाहिए। स्वामी दयानन्द योग की क्रियाओं, विशेष रूप से प्राणायाम का बड़ा दृढ़ता से समर्थन करते हैं। वे प्राणायाम के सम्बन्ध में प्राणायाम का संक्षिप्त-सा वर्णन करके लिखते हैं :

"ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया (प्राणायाम) करें तो दोनों (प्राण, अपान) की गति रुक कर प्राण अपने वश में होने से

मन और इन्द्रियाँ स्वाधीन होते हैं। बल, पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्म रूप हो जाती है, कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य बृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल-पराक्रम जितेन्द्रियता सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।" पृ० 71

इस उद्धरण से यह सुस्पष्ट है कि सामान्य मनुष्यों के अतिरिक्त विद्यार्थियों के लिये नियमित अनुशासनमय जीवन और योग की क्रियाओं का अभ्यास बहुत आवश्यक है। यह व्यवस्था सबके लिये, लड़कों या लड़कियों के लिए, समान रूप से होनी चाहिये।

स्वामीजी सन्ध्या-ब्रह्मयज्ञ की विधि लिखते हुए इस प्रसंग में न्यून से न्यून एक घण्टा अवश्य ध्यान करने को आवश्यक बताते हैं। प्रातः-सायं दो काल ही सन्ध्या करनी चाहिए। वे मध्याह्नकाल समेत त्रिकाल सन्ध्या का समर्थन नहीं करते। सन्ध्या के साथ ही देवयज्ञ, अग्निहोत्र की बात उपस्थित करते हैं। मन्दिरों के प्रचार के साथ जैसे-जैसे मन्दिरों में मूर्त्तिपूजा बढ़ने लगी, देवयज्ञ अग्निहोत्र का प्रचार घटने लगा। धीरे-धीरे अग्निहोत्र की जगह अगियारी और धूप देना आ गया। स्वामी दयानन्द अग्निहोत्र की विधि और अग्निहोत्र के पात्र आदि का विस्तृत वर्णन करके अग्निहोत्र को मनुष्यों के लिये अनिवार्य बताते हैं। वे होम के द्वारा वायु और जल का परिष्कार, रोगों का नाश और आरोग्य-वृद्धि आदि के समर्थक हैं। वे घृतादि खाने और चन्दन आदि लगाने की अपेक्षा होम का लाभ बहुत अधिक मानते हैं। होम से अशुद्ध वायु घर से बाहर निकलता है और शुद्ध वायु का घर में प्रवेश होता है। उनकी सुस्पष्ट मान्यता है कि मन्त्रों को पढ़-पढ़कर आहुतियाँ देनी चाहिए। फिर वे प्रश्न उठाते हैं :

"क्या इस होम करने के बिना पाप होता है?" वे ही उत्तर देते हैं—हाँ, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना

दुर्गन्ध होके वायु और जल को बिगाड़ कर रोगों की उत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध व उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये।" पृ० 76

स्वामी दयानन्द सबको विद्या का अधिकार देते हैं। जो सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि नियमों का पालन करें, उन्हें वे उपनयन का भी अधिकार देते हैं। वे तीन प्रकार का ब्रह्मचर्य मानते हैं: कनिष्ठ ब्रह्मचर्य—24 वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदविद्या और सुशिक्षा ग्रहण करे; मध्यम ब्रह्मचर्य—44 वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करे और उत्तम ब्रह्मचर्य—48 वर्ष ब्रह्मचारी रहकर सकल विद्याओं का ग्रहण करे। वे विवाह की न्यूनतम आयु पुरुषों के लिये 25 वर्ष और स्त्रियों के लिये 16 वर्ष सुश्रुत के आधार पर बताते हैं। फिर पढ़ने-पढ़ाने वालों को यम, नियम, स्वाध्याय आदि के द्वारा जीवन को सदाचारी बनाना उचित है। उन्होंने तृतीय समुल्लास में इन सब बातों का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है।

क्षत्रिय आदि को भी अवश्य पढ़ना चाहिए:

स्वामीजी के समय में राजा-महाराजा, जमींदार आदि सम्पन्न लोग अरबी, फारसी, अंग्रेजी की ओर झुक गये थे, और संस्कृत विद्या केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गयी थी। अतः स्वामीजी क्षत्रिय आदि के लिये भी विद्या पढ़ने की व्यवस्था बताते हैं। वे लिखते हैं:

"इस प्रकार आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेष कर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्रजनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावे, क्योंकि जो ब्राह्मण हैं केवल वे ही विद्याभ्यास करें और क्षत्रिय आदि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके

जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मण आदि सब वर्ण पाखण्ड में ही फँस जाते हैं।" पृ० 91-92

स्वामीजी की सुस्पष्ट मान्यता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सबमें आपस में सामाजिक सामञ्जस्य और समन्वय का भाव होना चाहिए। वे एक-दूसरे के सहयोगी बनें। आपस में वर्ग-संघर्ष, वर्ण-संघर्ष या प्रतिद्वन्द्विता न करके परस्पर एक-दूसरे को नियम में रखें। वे लिखते हैं :

"इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और संन्यासी तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलाने वाले क्षत्रियादि होते हैं। इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए।" पृ० 92

अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था समझाते हुये स्वामीजी ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों एवं द्रव्य गुण आदि का वर्णन न्याय और वैशेषिक दर्शनों के आधार पर थोड़ा अधिक विस्तार से किया है। फिर वे पठन-पाठन की विधि पर आ जाते हैं।

पठन-पाठन विधि :

हम इस समुल्लास के प्रारम्भिक वक्तव्य में कह आये हैं कि स्वामीजी के समय में ऋषिकृत ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन नहीं हो रहा था। अनार्ष ग्रन्थ पण्डितों के द्वारा लिखित ऋषि-मुनियों की सरल पद्धति को अति कठिन बना चुके थे। इस प्रकार अध्ययन में बड़ा समय लगता था और फिर भी विद्या पूरी न होती थी। प्रसिद्ध उक्ति है—"द्वादश वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते", बारह वर्ष तो बुद्धिमान विद्यार्थी को भी व्याकरण पढ़ने में ही लग जाते थे। व्याकरण, साहित्य आदि को पढ़ने में ही लोग तङ्ग आ जाते थे। दर्शन, उपनिषद् और वेदों तक पहुँचना तो दुष्कर था। स्वामीजी ने आर्ष पद्धति का प्रतिपादन किया और ऋषिकृत ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की सरलतम विधि लोगों के सम्मुख प्रस्तुत की।

संस्कृत व्याकरण पढ़ने के लिये उन्होंने पाणिनि मुनिकृत शिक्षा के पश्चात् पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि ऋषिकृत महाभाष्य पढ़ाने की संस्तुति की और बहुत सुस्पष्ट घोषणा की :

"जितना बोध इनके (अष्टाध्यायी महाभाष्य) पढ़ने से तीन वर्षों में होता है उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमा के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इस क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्यों कर हो सकता है.........
..............मनुष्यकृत ग्रन्थ पढ़ना जैसे पहाड़ का खोदना और कौड़ी का लाभ होना और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना और बहुमूल्य मोतियों का पाना।" पृ० 114

पाठ्यक्रम का निर्माण :

उस समय संस्कृत पाठशालाओं में कोई निश्चित पाठ्यक्रम नहीं था। पीछे जब संस्कृत की परीक्षाएँ होने भी लगीं तब व्याकरण, साहित्य, न्याय इत्यादि विषयों की उपाधि-परीक्षा तक जो पाठ्यक्रम बने उनमें प्रायः अनार्ष ग्रन्थ ही पढ़ाये जाते रहे। व्याकरण, साहित्य, दर्शन, ज्योतिषादि, उपनिषद्, ब्राह्मण और चूड़ान्तवेद तक अध्ययन-अध्यापन का कोई समन्वित पाठ्यक्रम बना ही नहीं। यह श्रेय भी स्वामी दयानन्द को ही जाता है कि उन्होंने वर्णोच्चारण शिक्षा से आरम्भ करके वेदसंहिता पर्यन्त समस्त संस्कृत वाङ्मय का एक समन्वित पाठ्यक्रम बनाया। इस पाठ्यक्रम से सहमत होना न होना यह व्यक्ति के अपने चिन्तन, पठन-पाठन प्रक्रिया के ज्ञान और अभिरुचि का प्रश्न है, किन्तु इससे तो इनकार नहीं किया जा सकता कि स्वामी दयानन्द प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने चूड़ान्तवेद ज्ञान पर्यन्त समन्वित पाठ्यक्रम बनाया। इस पाठ्यक्रम का पुस्तकों समेत बड़ा विस्तृत वर्णन तृतीय

समुल्लास में है। उसीके आधार पर हम एक सूची प्रस्तुत कर रहे हैं :

1.	व्याकरण सम्पूर्ण महाभाष्य पर्यन्त	3 वर्ष
2.	निघण्टु और निरुक्त	6 ,, 8 महीना
3.	पिंगलाचार्य कृत छन्दोग्रन्थ	4 महीना
4.	मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत	1 वर्ष
5.	षड्दर्शन-उपनिषद् आदि	2 वर्ष
6	वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ	6 वर्ष
7.	आयुर्वेद	4 वर्ष
8.	धनुर्वेद	4 वर्ष
9.	गान्धर्व वेद	4 वर्ष
10.	ज्योतिष शास्त्र, भूगोल, खगोलविद्या आदि	2 वर्ष

इस प्रकार 25-30 वर्षों में सम्पूर्ण विद्या की उपलब्धि कराने का पाठ्यक्रम प्रस्तुत करके स्वामीजी ने एक अचिन्तनीय-सा कार्य किया है। वैसे आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, ज्योतिष ज्ञान, भूगर्भ विद्या, भूगोल, खगोल आदि विशेष विशेष योग्यता (Specialisation) के विषय हैं। एक ही व्यक्ति सबका विशेष अधिकारी नहीं बनेगा। वेद तक अध्ययन करने के पश्चात् आयुर्वेद, या धनुर्वेद, या गान्धर्ववेद आदि किसी एक विषय में विशेष योग्यता एवं उसका क्रियाशास्त्र हस्तगत करना ही पठन-पाठन का क्रियात्मक रूप बनेगा। स्वामीजी अपने पठन-पाठन क्रम में इसके आस्थावान् थे। उन्होंने लिखा है :

> "ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ाने वाले करें कि जिससे 20 व 21 वर्ष के भीतर समग्र विद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त हो के मनुष्य लोग कृतकृत्य हो के सदा आनन्द में रहें। जितनी विद्या इस रीति से 20 व 21 वर्षों में हो सकती है उतनी अन्य प्रकार से शत वर्ष में भी नहीं हो सकती। पृ० 118-119

ग्रन्थों के प्रमाण :

भारतीय परम्परा में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में एक प्रमाण "शाब्द

प्रमाण" भी है। आप्त विद्वानों ने जो कुछ लिखा है वह भी प्रमाण की कोटि में ही आता है। स्वामीजी ने ग्रन्थों के प्रमाणों को स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण दो भागों में विभक्त किया है। वेद ईश्वर कृत हैं, ईश्वरीय ज्ञान हैं, अतः स्वतः प्रमाण हैं। अन्य सब चाहे ब्राह्मण ग्रन्थ हों, चाहे दर्शन या वेदांग हों, वे सब परतः प्रमाण हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ और अन्य सब ग्रन्थ वहीं तक प्रमाण हैं जहाँ तक वे वेद के अनुकूल हैं। यदि ब्राह्मण आदि ग्रन्थ वेद से विरुद्ध जाते हैं तो उनका प्रमाण स्वीकरणीय नहीं है, क्योंकि वेद संहिताओं के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थ ऋषि-मुनि एवं विद्वान् मनुष्यों के लिखे हुए हैं। मनुष्य का ज्ञान और उसके ग्रन्थ, स्वतः प्रमाण नहीं हो सकते। स्वतः प्रमाण तो वेद-संहिताएँ ही हैं, क्योंकि वे अपौरुषेय हैं, परमेश्वर के ज्ञान हैं।

स्वामीजी ने पठन-पाठन में अनार्ष ग्रन्थों को गिनाकर लिखा है कि उन्हें पढ़ना-पढ़ाना नहीं चाहिये, क्योंकि वे सब वेदों से विरुद्ध हैं। इन्हीं त्याज्य ग्रन्थों में ही उन्होंने सब तन्त्रग्रन्थ, पुराण-उपपुराण, तुलसीदास कृत भाषा रामायण, रुक्मिणी मंगल आदि सब ग्रन्थों को सम्मिलित कर लिया है। वे ऐसा मानते हैं कि इन ग्रन्थों में थोड़ा तो सत्य है किन्तु ये "विषसम्पृक्तान्नवत्" हैं; जैसे अति उत्तम अन्न में विष मिल जाने से अन्न त्याज्य हो जाता है वैसे ही ये त्याज्य ग्रन्थ अच्छे हो सकते हैं किन्तु उनमें वेद विरुद्धता का विष मिल गया है। अतः वे त्याज्य हैं। वे ब्राह्मण ग्रन्थों को ही इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी इन पाँच नामों से अभिहित करते हैं और अपने इस कथन में गृह्यसूत्रों का प्रमाण देते हैं।

छः शास्त्रों में अविरोध है :

सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, वेदान्त, मीमांसा ये छः दर्शन हैं। इनके बनाने वाले सब ऋषि लोग थे। सांख्यदर्शन को महर्षि कपिल ने, न्याय को गौतम ने, वैशेषिक को कणाद ने, योग को पतञ्जलि ने, वेदान्त को व्यास ने और मीमांसा को जैमिनि ने लिखा है।

वेदविद्या के लुप्त होने और अनार्ष ग्रन्थों का प्रचार बढ़ जाने से विद्वानों में यह बात घर कर गई कि ये दर्शन परस्पर विरोधी हैं। स्वामी दयानन्द का यह अत्यन्त स्तुत्य कार्य है कि उन्होंने सप्रमाण यह सिद्ध किया कि ये छःहों दर्शन आपस में पूरक-परिपूरक हैं। इनमें आपस में विरोध नहीं है।

विद्या पढ़ने का अधिकार :

महाभारत के पश्चात् देश का सांस्कृतिक पतन बड़ी तेजी से हो रहा था। कहीं वाममार्ग, तो कहीं नास्तिक मत, कहीं अन्य पाखण्ड क्रिया-कलाप, सब चल पड़े थे। कई सौ वर्षों तक मुसलमानों के शासनकाल में संस्कृत विद्या तलवारों की धार के नीचे ही पड़ी कराह-सी रही थी। अतः वेदों का तो क्या कहना, सस्कृत भाषा का भी पठन-पाठन अत्यन्त कम हो गया था। थोड़े-से ब्राह्मणों को छोड़कर और कोई संस्कृत नहीं पढ़ता था। सुस्पष्ट घोषणा थी कि "स्त्रीशूद्रौ-नाधीयातामिति श्रुतेः"। स्त्री और शूद्र न पढ़ें; यह श्रुति है। स्वामी दयानन्द ने ऐसे सिद्धान्तों की बड़ी कठोर भर्त्सना की। वे लिखते हैं :

> "तुम कुँआ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल कल्पना से हुई है, किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के 26वें अध्याय में दूसरा मन्त्र है :
>
> **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**
> **ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय**
> **चारणाय ॥"** पृ० 125

स्वामीजी स्त्रीशिक्षा के भी कट्टर समर्थक थे। उन्होंने बड़े बल के के साथ प्रमाणपूर्वक यह लिखा है कि स्त्रियाँ वेद-शास्त्रों को पढ़ती रही हैं और उन्हें पढ़ना चाहिये। कर्मकाण्ड में "इमम् मन्त्रम् पत्नी पठेत्" यह निर्देश आता है। यदि स्त्री पढ़ी हुई न होगी तो यज्ञों में कैसे मन्त्र पढ़ेगी। स्वामीजी ने लिखा है :

"भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणस्वरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़कर विदुषी हुई थीं........आर्यावर्त्त के राज-पुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं, क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्यों कर जा सकतीं और युद्ध कर सकतीं।" पृ० 127

इस समुल्लास का उपसंहार करते हुये स्वामीजी लिखते हैं :

"जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे स्त्रियों को व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये।" पृ० 128

स्वामीजी का मन्तव्य है कि जबतक न्यून से न्यून इतना अध्ययन न होगा तबतक घर-गृहस्थी का कार्य स्त्रियाँ उचित रूप से न कर-करा सकेंगी। अन्त में स्वामीजी ने लिखा है कि वेदविद्या का दान अति श्रेष्ठ दान है :

"इसीलिये जितना बन सके उतना प्रयत्न तन-मन धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्य-वान् होता है।" पृ० 129

चतुर्थ समुल्लास

चतुर्थ समुल्लास का शीर्षक है "**अथ समावर्तन-विवाह-गृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः**" इस प्रकार स्वामीजी ने इस समुल्लास में तीन विषयों का वर्णन किया है—समावर्तन, विवाह और गृहस्थाश्रम। विद्याध्ययन समाप्त होने पर आचार्य लोग विद्यार्थियों का समावर्तन संस्कार कर देते थे। समावर्तन संस्कार का अभिप्राय हुआ कि विद्यार्थी की यथेष्ट अभीष्ट या जितना उसके लिये सम्भव था वह विद्या पूरी हो गई और अब उसे सांसारिक कार्यों में लगने की स्वीकृति

मिल गयी। समावर्तन में पुत्र और शिष्य ब्रह्मदाय ग्रहण करके विवाह करने के लिये प्रस्तुत हो जाते थे। जैसे आजकल धन, भूमि, मकान इत्यादि का दाय—उत्तराधिकार पुत्र को मिल जाता है, उसी प्रकार समावर्तन के समय शिष्य गुरु और पिता से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण करता था। यह ब्रह्मदाय सम्पत्ति के उत्तराधिकार की तरह ही महत्त्वपूर्ण है।

स्वामीजी ने विवाह के प्रश्न को थोड़ा अधिक विस्तार से लिखा है। स्त्री और पुरुष का स्ववर्णानुकूल गुण-कर्म-स्वभाव का मेल होने से विवाह करना उचित है। रक्त की दृष्टि से विवाह सम्बन्ध दूर ही करना चाहिये। जब दो पृथक् कुलों के युवक-युवती विभिन्न प्रकार के रक्त लेकर मिलते हैं तो सन्तान कुछ विलक्षण अच्छे गुणों से युक्त होती है। अतः विवाह एक कुल-गोत्र में न होकर दूर उन कुलों में होना चाहिये, जहाँ वंश-कुल-गोत्र की भिन्नता हो। ऋषि लिखते हैं :

"जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता वैसे ही एक गोत्र पितृ वा मातृ कुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती। जैसे दूध में मिश्री वा शुण्ठ्यादि औषधियों के योग होने से उत्तमता होती है वैसे ही भिन्न गोत्र मातृ-पितृ कुल से पृथक् वर्तमान स्त्री-पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।" पृ० 131

दूर कुल में विवाह की उपयोगिता का वर्णन करके स्वामीजी ने निरुक्त का प्रमाण—"दुहिता, दुर्हिता, दूरेहिता भवतीति" दिया है। दुहिता का विवाह दूर होना ही हितकारी है। आज के वर्तमान उन्नत विज्ञान इन बातों को सुस्पष्ट स्वीकार करते हैं।

ऋषि ने किन कुलों में विवाह करना चाहिये, किस प्रकार के गुणों वाली लड़की हो, इन सबका विस्तार से वर्णन किया है :

बाल विवाह निषेध :

उस समय शीघ्रबोध, पाराशरी स्मृति आदि के आधार पर

कन्याओं का विवाह बहुत छोटी आयु में कर दिया जाता था। कहते थे कन्या 10 वर्ष की हो गयी और विवाह न हुआ तो कन्या के माता-पिता, बड़े भाई सब नरक को चले जायेंगे।

स्वामीजो ने इन विचारों का बड़ा उग्र विरोध किया तथा सुश्रुत और मनुस्मृति आदि के आधार पर यह विधान किया कि कन्या की आयु 16 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिये और पुरुष की आयु 25 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिये। विवाह हमेशा सदृश गुण-कर्म-स्वभाव से होना चाहिये। असदृश और परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिये।

"स्वयंवर अर्थात् लड़का-लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिये।

पृ० 137-138

ऋषि ने मनुस्मृति का प्रमाण देकर सुस्पष्ट किया कि :

"जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती हैं, उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है। और जहाँ विरोध, कलह होता है वहाँ दुःख, दरिद्रता और निन्दा निवास करती है।" पृ० 138

अतः स्वामीजी के मतानुसार वर कन्या की प्रसन्नता से विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये। ऋषि ने कई प्रमाण इस बात के लिये लिखे हैं कि विवाह युवावस्था में ही होना चाहिये :

"जबतक इसी प्रकार ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी।" पृ० 140

वर्ण व्यवस्था :

भारतवर्ष में वैदिक धर्म के अनुयायियों में चार वर्ण सुप्रसिद्ध हैं :

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव से ही होती है, किन्तु मध्यकाल में जब ऋषि-मुनियों के सिद्धान्तों का लोप होने लगा तो वर्ण-व्यवस्था भी जन्म से ही मानी जाने लगी। वस्तुतः जन्मना अधिकार का प्रश्न परवर्ती काल की देन है। इसीलिये स्वामी दयानन्द ने वर्ण-व्यवस्था को गुण-कर्म-स्वभाव से प्रतिपादित किया है। ऋषि ने एक प्रश्न उठाया है :

> "क्या जिसके माता-पिता ब्राह्मणी-ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मण होता है और जिसके माता-पिता अन्य वर्णस्थ हों उनका सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकता है ?" पृ० 140

ऋषि इसका उत्तर देते हैं :

> "हाँ, बहुत हो गये हैं, होते हैं और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञात कुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण, और मातंग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाव वाला है वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा है।" पृ० 141

वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव से ही है। इस पर भी स्वामीजी ने बड़े विस्तार से लिखा है और मनुस्मृति के प्रमाण से यह कहा है कि शूद्र ब्राह्मण बन सकता है और ब्राह्मण शूद्र भी बन जा सकता है।

"शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।"

—मनु० 10-65

गुण-कर्म-स्वभाव के कारण ही शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाता है और ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्यों के लिये भी सम्भव है।

गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर वर्ण-व्यवस्था में कुल के दायभाग और धन-सम्पत्ति का प्रश्न भी एक प्रकार से जुड़ा ही हुआ है। कभी यदि पिता के एक ही पुत्र हो और वह अन्य वर्ण में चला जाय जो वंश परम्परा का

क्या होगा और माता-पिता की सेवा आदि का क्या होगा ? स्वामी दयानन्द की मान्यता के अनुसार :

"न किसी की सेवा का भङ्ग और न वंशच्छेदन होगा। क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे। इसलिये कुछ भी अव्यवस्था न होगी।" पृ० 146

यह स्वामी दयानन्द का अपूर्व क्रान्तिकारी और प्रगतिशील अग्रगामी विचार है। यह तो साम्यवादी देशों में भी नहीं सुना गया है। स्वामीजी के अनुसार कन्याओं के वर्ण का निश्चय 16वें वर्ष में और पुरुषों के वर्ण का निश्चय 25वें वर्ष में गुण-कर्म-स्वभाव की परीक्षा करके उन्हें नियुक्त करना चाहिये।

स्वामीजी ने चारों वर्णों के कर्त्तव्यकर्मों की विस्तृत व्यवस्था लिखी है। विभिन्न वर्णों के गुण-कर्म की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने मनुस्मृति और श्रीमद्भगवद्गीता के प्रमाण से व्याख्या दी है। ब्राह्मण के 6 कर्म हैं—पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। क्षत्रियों के कर्त्तव्य-कर्म इस प्रकार हैं—न्याय से प्रजा की रक्षा करना, दान अर्थात् विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों को दान देना, अग्निहोत्रादि यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना और विषयों में न फँसकर जितेन्द्रिय रहकर शरीर और आत्मा से बलवान् बने रहना। वैश्यों के कर्त्तव्य कर्म निम्न प्रकार हैं—गाय आदि पशुओं का पालन-वर्द्धन करना, विद्याधर्म की वृद्धि करने-कराने के लिये धन का दान करना, अग्निहोत्रादि करना, शास्त्रों का पढ़ना, सब प्रकार के व्यापार, रुपयों का व्यापार लेन-देन का और खेती करना। शूद्र का कर्त्तव्य कर्म है कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों की सेवा निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों से रहित होकर करे।

ऋषि ने गृहस्थाश्रम प्रकरण में विवाह करने की विधि अर्थात् किस प्रकार किया जाय, इन सबका भी वर्णन किया है। उनके मतानुसार

विवाह संस्कार अध्यापक और अध्यापिकाओं के सामने गुरुकुल में भी हो सकता है और कन्या के माता-पिता के घर में भी हो सकता है। स्वामीजी ने उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की कला को भी बहुत महत्त्व दिया है। यह आयुर्वेद का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। उन्होंने गर्भाधान से पूर्व, गर्भावस्था और प्रसव के पश्चात् जो कुछ भी कर्त्तव्य कर्म हैं, उन्हें विस्तार से समझाया है।

स्त्रियों का आदर-सम्मान :

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब स्वामीजी यह ग्रन्थ लिख रहे थे, उस समय तक स्त्रियों की दशा बड़ी शोचनीय थी। वे अपमान और कष्ट सहती थीं, उनका तिरस्कार होता था। उन्हें कभी पैरों की जूतियो के समान समझा जाता था, कभी पशुओं के समान ताड़ना के योग्य समझा जाता था और अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी स्वामी शंकराचार्य का प्रमाण देकर कहा करते थे कि "**द्वारं किमेकम् नरकस्य नारी**" अर्थात् नारी नरक का द्वार है। स्वामीजी के लिए स्त्रियों का यह अपमान धर्मशास्त्र विरुद्ध और मानवता से रहित लगा। उन्होंने मनुस्मृति के कई प्रमाण दिये और यह सिद्ध किया कि :

> "जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उसमें विद्या-युक्त पुरुष होके देवसंज्ञा धरा के आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सब क्रिया निष्फल हो जाती है।" पृ० 157

स्वामीजी ने मनुस्मृति के प्रमाण के आधार पर यह बताया कि जिन्हें ऐश्वर्य की कामना हो और जो अपना और अपने परिवार के कल्याण की इच्छा रखते हैं, वे स्त्रियों का खान-पान, आभूषण आदि से सदा सम्मान किया करें, क्योंकि जहाँ स्त्रियाँ शोकातुर और दुःखी रहती हैं उस परिवार का कभी कल्याण नहीं होता। यहाँ यह न समझना चाहिये कि स्त्रियाँ आदर-सम्मान पाकर उच्छृङ्खल हो जाँय। स्वामीजी ने स्त्रियों के भी कर्तव्य कर्म का निर्देश किया है :

"स्त्री को योग्य है कि अति प्रसन्नता से घर के कामों में चतुराई युक्त सब पदार्थों के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रखें और व्यय में अत्यन्त उदार न रहें अर्थात् सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे जो औषधरूप होकर शरीर और आत्मा में रोग को न आने देवे। जो-जो व्यय हो उसका हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम लेवे। घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे।" पृष्ठ 157

इन सारे कार्यों के सम्पादन के लिये स्त्री का अध्ययन भी आवश्यक है। अतः स्वामीजी ने स्त्रियों को शिक्षा में भी यथायोग्य समानाधिकार दिया है, जिसका वर्णन तृतीय समुल्लास में आ गया है।

पञ्चमहायज्ञ :

ऋषि परम्पराओं के ह्रास हो जाने पर सन्ध्या, अग्निहोत्रादि पञ्चमहायज्ञों का प्रायः लोप-सा ही हो गया था। थोड़े से उच्चकोटि के चरित्रवान् सुपठित ब्राह्मण पण्डितों के अतिरिक्त सामान्य ब्राह्मण भी सन्ध्या नहीं करते थे, क्षत्रिय और वैश्यों की तो बात ही क्या? स्वामीजी ने पञ्चमहायज्ञों के वास्तविक महत्त्व को पुनः प्रतिष्ठित किया और गृहस्थों के लिए इन महायज्ञों को अनिवार्य बताया। पञ्चमहायज्ञ निम्न हैं: 1. ब्रह्म यज्ञ, 2 देव यज्ञ, 3. पितृ यज्ञ, 4. वैश्वदेव यज्ञ, 5. अतिथि यज्ञ। ब्रह्म यज्ञ में सन्ध्या, स्वाध्याय, योगाभ्यासादि आते हैं। स्वामीजी ने सायं और प्रातः दो समय सन्ध्या का विधान किया और त्रिकाल सन्ध्या का निषेध किया है। देव यज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र, विद्वानों का सत्संग, सेवा, पवित्रता आदि है। तीसरा पितृ यज्ञ है। पितृ यज्ञ के दो भेद हैं—श्राद्ध और तर्पण। स्वामीजी ने यह उपदेश किया कि माता-पिता, वृद्ध, विद्वानों की जो श्रद्धापूर्वक सेवा की जाती है वह श्राद्ध है और जिन कामों से विद्यमान माता-पिता आदि प्रसन्न होते हैं वह तर्पण है। **"यह जीवितों के लिए है, मृतकों के लिए नहीं।"** पृष्ठ 162

वैश्वदेव यज्ञ में पाकशाला में घृत, मिष्टयुक्त अन्न की आहुति देना और पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कुत्ते, कौवे, चींटी आदि कृमियों के लिये अन्न देना सम्मिलित है। अतिथि यज्ञ में अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक विद्वान्, संन्यासी आदि की सेवा सुश्रूषा करना, उन्हें पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय देकर सत्कारपूर्वक खान-पान की व्यवस्था करना सम्मिलित है। स्वामीजी ने इन पाँच महायज्ञों का बड़ा फल लिखा है :

> "ब्रह्मयज्ञ करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि होती है। अग्निहोत्र से वृष्टि, वृद्धि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होगा। पितृ यज्ञ से जब माता-पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा तब उसका ज्ञान बढ़ेगा।" पृष्ठ 169

इसी प्रकार बलिवैश्व देवयज्ञ से और अतिथि यज्ञ से अपनी इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य कर्म है।

ऋषि ने गृहस्थियों के सामान्य कर्त्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया है—बिना पाखण्डियों के जाल में फँसे धर्म का संचय और अधर्म का त्याग, सदाचारपूर्वक जीवन, ब्राह्मण-विद्वानों के लक्षण, अध्यापक और विद्यार्थियों के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विस्तार से वर्णन किया है।

बहुविवाह और नियोग :

पुरुषप्रधान समाज में पुरुषों का बहुविवाह बड़ी पुरानी बात है, किन्तु जिस तरह पुरुष एक ही समय में कई स्त्रियों से विवाह कर लेता था उसी प्रकार स्त्रियाँ भी एक ही समय में कई पुरुषों से विवाह करने का अधिकार नहीं रखती थीं। पत्नी तो पतिव्रता होती थीं, किन्तु पति एक ही पत्नी रखे, ऐसा नहीं था। स्वामी दयानन्द ने इस तरह के बहुविवाहों का निषेध किया। उन्होंने एक प्रश्न उठाया है कि क्या स्त्री और पुरुष का बहुविवाह होना योग्य है। उनका उत्तर है—एक ही समय में तो नहीं होना चाहिए किन्तु समयान्तर में और

विशेष रूप से यदि स्त्री का केवल विवाह हुआ है अर्थात् पति के साथ यदि स्त्री का सहवास नहीं हुआ है तो ऐसी परिस्थिति में अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह होना चाहिए। ऋषि ने निर्बाध पुनर्विवाहों का दोष बताकर नियोग का समर्थन किया है। नियोग और विवाह में अन्तर यह है कि विवाह में स्त्री-पुरुष सदा के लिए पति-पत्नी के सम्बन्ध से युक्त हो जाते हैं, किन्तु नियोग सन्तान उत्पन्न करने की दृष्टि से ही किया जाता है। सन्तान उत्पन्न न करना हो तो विषयासक्ति के लिए नियोग नहीं होता। इस प्रकार चाहे स्त्री विधवा हो या पुरुष विधुर हो, या स्त्री बन्ध्या हो अथवा पुरुष नपुंसक हो, ऐसे सभी अवसरों पर प्रत्येक के लिये दो-दो सन्तान नियोग से उत्पन्न करने की व्यवस्था है। इस तरह से मर्यादापूर्वक नियोग करने में न व्यभिचार है और न पाप। ऋषि लिखते हैं :

> "इस व्यभिचार और कुकर्म को रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह या नियोग भी न करें, तो ठीक हैं। परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए। इससे व्यभिचार का न्यून होना, प्रेम से उत्तम सन्तान होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है, और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है। नीच पुरुषों से उत्तम स्त्री और वेश्यादि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूप कुकर्म, उत्तम कुल में कलंक, वंश का उच्छेदन, स्त्री-पुरुषों का सन्ताप और गर्भहत्या के कुकर्म विवाह और नियोग से निवृत्त होते हैं, इसलिए नियोग करना चाहिए।" पृ० 185-186

स्वामीजी ने नियोग के नियम और व्यवस्था आदि का विस्तृत वर्णन किया है। वेदों से और स्मृतियों से नियोग व्यवस्था के लिये प्रमाण भी प्रस्तुत किया है। नियोग आपद्धर्म है और इस तरह जब किसी वंश पर वंशसमाप्ति की विपत्ति आ जाय तो नियोग सर्वथा उचित है। स्वामीजी इतिहास से प्रमाण के रूप में लिखते हैं :

"जैसा पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने किया और जैसा व्यासजी ने चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मर जाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की। इत्यादि इतिहास भी इस बात के प्रमाण हैं।" पृ० 192-193

स्वामीजी पति-पत्नी के पवित्र सम्बन्ध को अति महत्त्व देते हैं। वेश्यागमन आदि महामूर्खता के कार्य हैं—"जो सर्वोत्तम मनुष्य शरीर रूपी वृक्ष के बीज को कुक्षेत्र में खोता है, वह महामूर्ख कहाता है क्योंकि उसका फल उसको नहीं मिलता।" पृ० 194

चतुर्थ समुल्लास में गृहस्थ धर्म की बड़ी विस्तृत व्याख्या है और स्वामी दयानन्द ने मोक्ष तक की साधना के लिये गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था की है :

"जहाँ तक बने वहाँ तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने-कराने में धनादि पदार्थों का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दें और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द भोगें।" पृ० 196

गृहस्थ आश्रम की श्रेष्ठता :

मध्यकाल में कुछ ऐसे लोग हुए जो गृहस्थाश्रम को झञ्झट और जञ्जाल का आश्रम समझने लगे। वस्तुतः गृहस्थाश्रम अति महत्त्वपूर्ण आश्रम है। स्वामीजी सभी आश्रमों के महत्त्व को गौरव देते हैं और सभी आश्रम अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों में महान् हैं। किन्तु गृहस्थ आश्रम सभी आश्रमों का आधारभूत आश्रम है, सबका पालन-पोषण गृहस्थ आश्रम से ही होता है। गृहस्थ आश्रमी ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी, तीनों आश्रम वालों का दान और अन्नादि से पालन-पोषण करता है—इसलिये जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो,

वह प्रयत्न से गृहस्थाश्रम का धारण करे।

"जो कोई गृहस्थाश्रम की निन्दा करता है वह निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहस्थ आश्रम से सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिये गृहस्थ आश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।" पृ० 199

पञ्चम समुल्लास

पञ्चम समुल्लास के विषय-निर्धारण के रूप में स्वामीजी ने लिखा है **"अथ वानप्रस्थ संन्यासविधिम् वक्ष्यामः"**। अभिप्राय यह हुआ कि इस समुल्लास का विषय है वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की व्यवस्था का वर्णन करना। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चार वर्ण हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चार आश्रम भी हैं। मनुष्य जीवन को और मनुष्य समाज को सफल, सुखी और सुव्यवस्थित बनाने के लिये चारों वर्ण और चारों आश्रम बहुत आवश्यक हैं। जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम अर्थात् विद्यार्थी जीवन है और ब्रह्मचर्य आश्रम अर्थात् विद्यार्थी जीवन की लापरवाही सारे जीवन के लिये कष्टदायक होगी उसी प्रकार गृहस्थाश्रम अर्थात् जीविका का उपार्जन करते हुए संसार के कल्याण में तत्पर रहना व्यक्तिजीवन के लिये और सामाजिक जीवन के लिये अति आवश्यक है। वानप्रस्थ आश्रम आयु के तृतीयांश में 50 वर्ष की आयु के बाद आरम्भ होता है। संन्यास आश्रम जीवन के चतुर्थांश अर्थात् 75 वर्ष की आयु में आरम्भ होना चाहिये। ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन ऋषि ने तृतीय समुल्लास में और गृहस्थाश्रम का वर्णन चतुर्थ समुल्लास में किया है। अब पाँचवें समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का वर्णन है।

जहाँ तक संन्यास आश्रम का प्रश्न है, इसके लिये पूर्ण विद्या और पूर्ण

वैराग्य अपेक्षित है। इसीलिये सबको संन्यासी बनने का विधान नहीं है। संन्यास आश्रम विद्वानों, ब्राह्मणों के लिये है, किन्तु वानप्रस्थ आश्रम सबके लिये है। संन्यास आश्रम ऐच्छिक है किन्तु वानप्रस्थ आश्रम अनिवार्य है। किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो उसे वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिये, अपने कल्याण के लिये और समाज के कल्याण के लिये भी। हर गृहस्थ के लिये यह कल्याणकारी है कि एक समय आने पर उसे वानप्रस्थ वन जाना चाहिये, इसीमें मनुष्य के जीवन का कल्याण है।

वानप्रस्थ का समय :

सामान्यरूप में 50 वर्ष की आयु में वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने का नियम है। किन्तु 50 वर्ष की संख्या कुछ आवश्यक नहीं है। मनुस्मृति के प्रमाण के आधार पर स्वामीजी यह व्यवस्था देते हैं कि :

> "जब गृहस्थ के सिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जा के बसे।" पृ० 201

इस उद्धरण में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—एक तो यह कि जीवन जवानी से बुढ़ापे की ओर चल पड़ा है और दूसरा यह कि घर का, गृहस्थी का कारबार संभालने के लिये पुत्र प्रस्तुत हो गया है। इस सूरत में चाहे पत्नी को पुत्र के पास छोड़ दे और चाहे अपने साथ ले ले। किन्तु जब पुत्र गृहस्थी संभालने लगे तो स्वयं को गृहस्थ आश्रम से पृथक् कर लेना चाहिये।

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम तपस्या, साधना और स्वाध्याय का आश्रम है उसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रम में भी तपस्या, साधना, स्वाध्याय इत्यादि का अभ्यास करते रहना चाहिए। वानप्रस्थ आश्रम में अनिवार्य कर्त्तव्य यह है :

> स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने पढ़ाने में नित्य युक्त, जितात्मा, सब का मित्र, इन्द्रियों का दमनशील, विद्यादि का दान देनेहारा और सब पर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे, इस

प्रकार सदा वर्तमान करे। पत्नी के रहते हुये भी ब्रह्मचर्य का पालन करे अर्थात् भोग-विलास, विषय-चेष्टा से पृथक् होकर धन-सम्पत्ति आदि में ममता त्याग कर जीवन को स्वाध्याय साधना एवं तपस्या में लगावे। वानप्रस्थ आश्रम में ग्राम्य आहार अर्थात् गृहस्थियों के सुपुष्टकारी भोजन का त्याग और मुनि अन्न अर्थात् सांवा आदि सीधे सरल फल, मूलकन्द का सेवन करे। इन्हीं पदार्थों से यज्ञ और आतिथ्य-धर्म का भी पालन करे। सांगोपांग योगाभ्यास तथा सुविचार युक्त होकर ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे।

संन्यास आश्रम :

जीवन के चतुर्थांश में संन्यास ग्रहण करने का विधान है। उस समय व्यक्ति संन्यासी अर्थात् परिव्राट् हो जाता है। संन्यास में मुख्य बात है वैराग्य की प्राप्ति। यदि वैराग्य हो जाय तो ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाय, गृहस्थ आश्रम और वानप्रस्थ आश्रम बिताने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार यदि पूर्ण वैराग्य हो जाय तो वानप्रस्थ आश्रम में न जाकर गृहस्थ आश्रम में ही संन्यासी बन जाय। मुख्य बात यह है कि पूर्ण वैराग्य प्राप्त होना चाहिए। पूर्ण विद्वान्, विषय-भोग की कामना से रहित, परोपकार करने की इच्छा से युक्त व्यक्ति को संन्यास ग्रहण करना चाहिए। यदि व्यक्ति का जीवन दुराचार से मुक्त नहीं, जीवन में शान्ति नहीं तो उसका संन्यास लेना व्यर्थ है।

संन्यासी को वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थ ज्ञान से शुद्धान्तःकरण होकर मोक्ष की साधना करनी चाहिये। संन्यासी त्रिविध एषणाओं का त्याग कर देता है। लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा सबसे रहित हो जाना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण के आधार पर स्वामीजी ने लिखा है—"लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग वा मान्य, पुत्रादि के मोह से अलग हो के संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं।" पृ० 206

संन्यासी के धर्म :

यों तो संन्यासियों के धर्म के सम्बन्ध में ऋषि ने मनुस्मृति के आधार पर बहुत विस्तृत वर्णन किया है किन्तु "धर्म तो पक्षपात रहित, न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्य भाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् मनुष्यमात्र का एक ही है।" पृ० 207

"इसी प्रकार धीरे-धीरे सब संगदोषों को छोड़, हर्ष-शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है। संन्यासियों का मुख्य कार्य यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा, अधर्म व्यवहारों से छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर सत्य धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें।" पृ० 211

संसार के लिये संन्यासी वैसे ही आवश्यक हैं जैसे शरीर में शिर की आवश्यक्ता है।

> "जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता, क्योंकि संन्यासी को सत्य विद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना प्रकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता है।" पृ० 212

एक चलती बात यह कही जाती है और विशेष कर संन्यासी लोग ऐसा कहते हैं कि उनके लिये कुछ कर्त्तव्य कर्म शेष नहीं हैं। अविद्यारूपी इस संसार में माथापच्ची करना संन्यासी का काम नहीं है, इत्यादि। स्वामी दयानन्द का यह कहना है कि यह मिथ्या धारणा है। मनुस्मृति के आधार पर **वैदिकैश्चैव कर्मभिः—जो धर्मयुक्त वैदिक कर्म हैं उसे संन्यासी को नहीं छोड़ना चाहिये।** स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं :

> "जैसे आँख से देखना और कान से सुनना न हो तो आँख और कान का होना व्यर्थ है, वैसे ही जो संन्यासी सत्योप-

देश और वेदादि सत्य शास्त्रों का विचार प्रचार नहीं करते, तो वे ही जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं।" पृ० 213-214
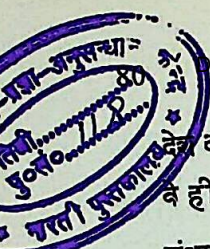
संन्यासियों के सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है कि संन्यासी अग्नि तथा लौह, स्वर्ण आदि धातुओं का स्पर्श नहीं करते। स्वामीजी की दृष्टि में यह सब ठीक नहीं है। संन्यासी उत्तम कर्म करने वाला, सत्य उपदेश करने वाला, परोपकारी पुरुष होता है। अतः संन्यासी को संसार के परोपकार में लगे रहना चाहिये। यह भी कहा जाता है कि संन्यासी को एकत्र एक ही स्थान पर नहीं रहना चाहिये। वस्तुतः ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि एकत्र वास करने से संसार का अधिक उपकार हो तो कोई हानि नहीं है। यह भी प्रचलित है कि संन्यासी को धन नहीं देना चाहिये। पर स्वामी दयानन्द इसमें कुछ सार या तत्त्व की बात नहीं समझते। संन्यासी संसार के कल्याण में लगा रहता है, उसे कोई एषणा नहीं होती। अतः संन्यासी को जो कुछ मिलेगा वह संसार के कल्याण में लगा देगा। हाँ, वह यदि अपने योगक्षेम से अधिक संचय करेगा तो यह संन्यासी के लिये सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार संन्यासी अति महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता है। संसार के कल्याण के लिये संन्यास आश्रम की बड़ी आवश्यकता होती है। संन्यासी की उपाधि परिव्राट् की होती है और वह सेठ-साहूकार, राजा-महाराजा और विद्वानों आदि से उच्च और सबका पूज्य होता है। हाँ, वैरागी, गोसाईं, खाकी आदि संन्यास आश्रम में परिगणित नहीं होते, वे साम्प्रदायिक होते हैं। स्वामी दयानन्द इन्हें संन्यासाश्रमी न कहकर पक्के स्वार्थाश्रमी कहते हैं:

"जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जो आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं, वे ही धर्मात्मा-जन संन्यासी और महात्मा हैं।

पृ० 219

षष्ठ समुल्लास

षष्ठ समुल्लास का विषय है "**अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः**" अब राजधर्म की व्याख्या करेंगे।

वस्तुतः अंग्रेजों के आने के पश्चात् भारतवर्ष में योरोपीय विद्या का पठन-पाठन आरम्भ हो गया और राजनीति विज्ञान और अर्थ विज्ञान (Political Science & Economics) आदि विषयों का अध्यापन आरम्भ हो गया। उस समय अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की सामान्यरूप में धारणा यह थी कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में राजनीति और अर्थनीति अधिक उन्नत अवस्था में नहीं थी। उनकी धारणा थी कि राजनीति और अर्थनीति का जन्म योरोप में हुआ है। भारतवर्ष तो धर्मप्रधान और कृषिप्रधान देश रहा है। यहाँ धर्म और आचार बताने वाले मनु आदि विद्वान् हुए, किन्तु यहाँ राजनीति और अर्थनीति के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण चिन्तन नहीं हुआ था। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि अभी कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्रकाश में नहीं आया था। इसी प्रकार और भी अन्य राजनीति और धर्मनीति की पुस्तकें अधिक प्रकाश में नहीं आयी थीं। स्वामी दयानन्द ने यह समझाना आरम्भ किया कि सारी विद्याएँ भारतवर्ष में थीं। राजनीति शास्त्र भी भारतवर्ष में पर्याप्त उन्नत स्थिति में था। इसीलिए छठे समुल्लास के अन्त में स्वामीजी एक प्रश्न उठाते हैं—क्या संस्कृत विद्या में पूरी राजनीति है या अधूरी है। स्वामीजी इसका उत्तर देते हैं :

> "पूरी है। क्योंकि जो भूगोल में राजनीति चली और चलेगी, वह सब संस्कृत विद्या से ली है। और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है उनके लिये—"**प्रत्यहं लोकदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः**" मनु० 8-3. जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बाँधा करे।" पृ० 272

इस समुल्लास के लिखने में स्वामीजी का एक उद्देश्य तो यह था

कि विद्वानों को विदित होना चाहिए कि संस्कृत में अर्थात् भारतवर्ष में राजनीति की विद्या थी और यह पश्चिम की राजनीति विद्या से बढ़चढ़ कर थी। दूसरा उद्देश्य यह था कि भारतवर्ष के राजा लोग भारतीय पद्धति से शासन करें। उस समय भारतवर्ष में कई भारतीय परम्पराओं के विश्वासी आर्य राजा लोग थे किन्तु उन्हें भारतवर्ष की राजनीति का ज्ञान न था। वे प्लेटो अरस्तू या अन्य पश्चिमी विचारकों के सिद्धान्तों को पढ़ते-समझते थे और राजकाज संचालन के लिये योरोपीय विद्वानों से सहायता लेते थे। स्वामीजी जहाँ-जहाँ भारतीय राजाओं के यहाँ गये। वहाँ उन्होंने राजाओं को मनुस्मृति, विदुरनीति, शुक्रनीति आदि पढ़ाया और समझाया कि भारतवर्ष के ऋषि-मुनियों द्वारा सुचिन्तित राजनीति अधिक अच्छी है और उसीका पालन होना चाहिये।

राजकार्य के लिये तीन सभाएँ :

आजकल जैसे विधिपालिका, कार्यपालिका और न्याय पालिका (Legislature, Executive & Judiciary) शासन के तीन विभाग हैं उसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद और अथर्ववेद के प्रमाणों से यह बताया कि राजा और प्रजा के पुरुष मिलकर तीन सभा—1 विद्यार्य सभा, 2. धर्म्यार्यसभा, 3. राजार्यसभा बनावें। विद्यार्यसभा आज के शिक्षाविभाग से अधिक विस्तृत, मानव संसाधनों को पूर्ण विकसित करने वाली है। धर्मार्यसभा धर्म, जीवन, आचरण की व्यवस्था करने वाली सभा है और राजार्यसभा राजधर्म, शासन, व्यवस्था और संग्राम आदि की व्यवस्था करने वाली सभा है। राजकार्यों का यह वर्गीकरण अद्यतन वर्गीकरण से सर्वथा पृथक् है और इस वर्गीकरण में कार्यसरणि अधिक व्यापक एवं कल्याणकारी राज्य के सभी क्रिया-कलापों को पूर्ण विस्तार से अपने में समेट लेती है। वर्गीकरण का यह पृथक् स्वरूप यह सिद्ध करता है कि भारतीय राजनीति-चिन्तन पाश्चात्य राजनीति-चिन्तन से पृथक् एवं स्वतन्त्र है।

सभापति या राजा :

स्वामी दयानन्द जिस युग में हुए वह राजतन्त्र का युग था।

संसार के कुछ थोड़े से देशों में जनतन्त्र या प्रजातन्त्र था। लोगों का विचार था कि प्राचीन काल में निरंकुश राजतन्त्र था। राजा भी आनुवंशी जन्मना अधिकार के आधार पर हुआ करता था। उस समय राजतन्त्र का विरोध और जनतन्त्र का समर्थन, सो भी वेदों और स्मृतियों के आधार पर, अपने में महत्त्वपूर्ण था। इस ऐतिहासिक सन्दर्भ में स्वामीजी की मान्यताएँ निस्सन्देह क्रान्तिमूलक हैं।

वेद और स्मृतियों के आधार पर स्वामी दयानन्द की सुस्पष्ट मान्यता है कि राजा जन्म से नहीं किन्तु निर्वाचन से होना चाहिये और राजा ही इन ऊपर वर्णित तीन सभाओं के ऊपर सभापति होगा। साथ ही स्वामीजी निरंकुश स्वतन्त्र राजा की व्यवस्था नहीं देते। राजा, सभा और जनता तीन पक्ष बनते हैं। जनता से सभा और राजा का चुनाव होगा। फिर राजा, सभा और प्रजा में शक्ति-संतुलन और शक्ति-समन्वय बनाये रखना आवश्यक होगा। स्वमीजी लिखते हैं :

> "एक को स्वतन्त्र राज का अधिकार न देना चाहिये। किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहें।" पृ० 221

राजा को निरंकुश नहीं होना चाहिये। यदि राजसभा और प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजा रहेगा तो—"जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्टपुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं, वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का का नाश करता है।" पृ० 221

> अतः स्वामी जी लिखते है : "तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग बरतें, सबके हितकारक कामों में सम्मति करें, सर्वहित करने के लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो-जो निज के काम हैं, उनमें स्वतन्त्र रहें।" पृ० 223

स्वामीजी राजा को परमेश्वर की ओर से नियुक्त नहीं मानते। भारतवर्ष में और योरोप में भी राजा के दैवी सिद्धान्तों का बड़ा

बोलबाला रहा है। स्वामीजी राजा को प्रजा के द्वारा निर्वाचित होना बताते हैं। स्वामीजी लिखते हैं :

"राजा में इन्द्र, वायु, अग्नि, वरुण आदि देवताओं जैसे गुण होने चाहिये।" वे लिखते हैं –"जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्मप्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्य वाला होवे, वही सभाध्यक्ष सभेश होने के योग्य होवे।" पृ० 224

सभाओं के सभासद्

आजकल हमारी संसद आदि में कोई भी व्यक्ति जो एक विशेष आयु को प्राप्त कर चुका है और गैरकानूनी कार्यों के लिये दण्डित नहीं हुआ है, निर्वाचित हो सकता है किन्तु विद्या, धर्म, आचरण आदि का कोई बन्धन नहीं है। किन्तु स्वामीजी लिखते हैं :

"महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद् और जो उन सबमें सर्वोत्तम गुण-कर्म-स्वभावयुक्त महान् पुरुष हो उसको राजसभा का पति रूप मानकर सबकी उन्नति करे।" पृ० 223

दण्ड—राजा :

भारतीय राजनीति की परम्परा में राजा निर्वाचित तो होता ही है, साथ ही उसका धार्मिक होना, उसे न्याय से प्रशस्त होना, बहुत आवश्यक है। मनुस्मृति में लिखा है : "**स राजापुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः**" मनु० 7-17। दण्ड ही राजा है, इसलिये दण्ड ही सब प्रजाओं पर शासन करता है। उस दण्ड अर्थात् न्याय को चलाने वाला राजा सत्यवादी, बुद्धिमान, धर्म, अर्थ और काम का जानकार होना चाहिये। जो राजा विद्या, सुशिक्षा से रहित और विषयों में आसक्त रहता है वह कभी न्यायपूर्वक शासन नहीं कर सकता।

"जो पवित्र आत्मा सत्याचार, सत्पुरुषों का संगी यथावत्

नीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा श्रेष्ठ पुरुषों से युक्त बुद्धिमान् है, वही न्यायरूप दण्ड के चलाने में समर्थ होता है।" पृ० 226

स्वामीजी ने राजपुरुषों के लिये विद्या और आचरण आदि को बहुत महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं :

"मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान अर्थात् राजा, ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिए। पृ० 227

स्वामीजी विद्या और चरित्र को इतना महत्त्व देते हैं कि उनके अनुसार मन्त्रिसभा के सदस्यों के लिये भी विद्वान् और चरित्रवान् होना अनिवार्य है। मन्त्रिसभा की बनायी हुई व्यवस्था का किसीको उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है, किन्तु सब वेदों का जानने वाला उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म है। राजा और राजसभासदों के लिये वेदविद्या अर्थात् ज्ञानविद्या, दण्डनीति और न्यायविद्या तथा आत्मविद्या आवश्यक है। राजा और मन्त्रियों को जितेन्द्रिय होना भी आवश्यक है। इन्हें कभी कामज और क्रोधज व्यसनों में नहीं फँसना चाहिये।

मन्त्री और दूत बनाने की शर्तें :

भारतीय मनीषियों ने, किसे मन्त्री बनावें, उसमें क्या-क्या विशेषताएँ होनी चाहिये, इन बातों का भी विचार किया है :

"स्वराज्य, स्वदेश में उत्पन्न हुए वेदादि शास्त्रों को जानने वाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो, कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित 7 वा 8 उत्तम धार्मिक चतुर सचिवान् अर्थात् मन्त्री करे।" पृ० 232

इसी प्रकार दूत नियुक्त करने में भी कुछ शर्तें हैं :

"जो प्रशंसनीय कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से हृदय और भविष्यत् में होने वाली बात को जाननेहारा, सब शास्त्रों में विशारद चतुर है, उस दूत को भी रखे।" पृ० 232

> "राज-काज में अत्यन्त उत्साह प्रीतियुक्त, निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को न भूलने वाला, देश और कालानुकूल वर्त्तमान का कर्त्ता, सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हो, वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है।" पृ० 233

राजा अपने घर के यज्ञ-याग आदि कार्यों को करने के लिये पुरोहित और ऋत्विज् भी नियुक्त करे, और राजा स्वयं रात-दिन राजकार्य में प्रवृत्त रहे और राजकार्य बिगड़ने न दे। यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है।

स्वामीजी ने सेना, युद्ध, सैनिक आदि के पालन-पोषण और युद्ध व्यवहार को बड़े विस्तार से लिखा है। राजा और राजसभा को चार प्रकार का पुरुषार्थ करते रहना चाहिये।

> "राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा और प्राप्ति की प्रयत्न से रक्षा करे। रक्षित को बढ़ावे और बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्मप्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावें।" पृष्ठ 240

राज व्यवस्था के लिये सम्पूर्ण राज का विभाजन करके ग्राम शासक, पुनः 10 ग्रामों का शासक, फिर 20 ग्रामों का शासक, इसी प्रकार 100 ग्रामों का शासक मण्डल और उपमण्डल बनावे। 10 सहस्र गावों पर दो सभापति, जिनमें एक राजसभा में और दूसरा आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को देखते रहे। इन राजपुरुषों को उनके योगक्षेम के लिये धनभूमि राज की ओर से मासिक वा वार्षिक मिला करे। जब वे वृद्ध हो जाँय और असमर्थ हो जाँय तब भी उनको आधी वृत्ति मिलती रहे। उनके देहान्त के पश्चात् उनके बच्चे जबतक समर्थ न हों और उनकी स्त्री जीवित हो तो उसे भी निर्वाहार्थ राज की ओर से यथायोग्य धन मिला करे। **यह व्यवस्था आज की पेन्शन और परिवार-पेन्शन का ही एक रूप जैसा है।**

कर ग्रहण करने की व्यवस्था :

राजा को राजकीय व्यय के लिये धन की आवश्यकता पड़ती है। एतदर्थ राजा को प्रजा से कर वसूल करने की व्यवस्था करनी चाहिये। यह कर व्यवस्था करने के कुछ सुनिश्चित नियम हैं। व्यापार करने वाले शिल्पी को सुवर्ण-चांदी के लाभांश का 50वाँ भाग, चावल आदि अन्न में 6ठाँ अथवा 8वाँ वा 12वाँ भाग कर में लेने का विधान है। कर इस प्रकार ले कि किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।

लोभ के कारण या संग्रह की दृष्टि से कर-व्यवस्था नहीं करनी चाहिये। राजा तथा राजसभा को राज्य में कर-स्थापन का अधिकार है। किन्तु कर व्यवस्था से प्रजाजन को सुखरूप फल से युक्त होना ही चाहिए। कर लेने की भारतीय परम्परा में ऐसा विधान है कि कर लेने के समय राजा इस प्रकार कर की व्यवस्था करे कि कर देने वालों को करभार से न कोई कष्ट हो, न उन्हें करभार की अनुभूति ही हो :

> "जैसे जोंक, बछड़ा और भमरा थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे।" पृ० 245

कर किस प्रकार लिया जाय, यह देश-काल के अनुरूप राजसभा ही निश्चित करेगी। राजा का काम प्रजा का पालन करना है, वह सारी विधि-व्यवस्था अपनी राजसभा के निश्चय से करता रहता है।

सन्धि-विग्रह :

राजकार्य में सन्धि विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संशय, सब दो-दो प्रकार के होते हैं। स्वामीजी मनुस्मृति के आधार पर इन सबका बड़े विस्तार से वर्णन करते हैं। जब प्रजा और सेना प्रसन्न और उन्नतिशील हों तब युद्ध करना, जब शत्रु को निर्बल देखे तब युद्ध करना, जब सेना बल-वाहन से क्षीण हो जाय, शत्रु अत्यन्त बलवान हो, तब बलवान का आश्रय लेना, इत्यादि बहुत प्रकार के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का वर्णन

किया गया है। स्वामीजी ने युद्ध की तैयारी, विविध प्रकार के व्यूहों की रचना और पराजित शत्रु के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना, किस समय किस प्रकार युद्ध करना, किस परिस्थिति में किस प्रकार का व्यूह बनाना, इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया है। विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि राजा पराजित राजा का भी सम्मान करे, उन्हें मनोवांछित पदार्थ दे, उन्हें कभी चिढ़ावे नहीं, न कभी अपमान करे, शत्रु-मित्र-उदासीन आदि का सदा ध्यान रखे।

राजाओं के राजा किसान :

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचार इतने उच्च और उदार हैं कि शुद्ध अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों को आश्चर्य होता है कि केवलमात्र वेदशास्त्र और संस्कृत विद्या पढ़ा हुआ संन्यासी राजनीति की इतनी उदार व्याख्या कैसे कर सकता है। किन्तु स्वामीजी ने मनुस्मृति और वेदों के आधार पर ऐसी-ऐसी बातें लिखी हैं जो उस समय योरोप के भी उदार राजनीतिज्ञ नहीं बोल रहे थे। स्वामीजी ने किसान मजदूरों को राजाओं का भी राजा कहा है :

> "यह बात ठीक है कि राजाओं का राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है।" पृ० 256

कई लोग ऐसा समझते हैं कि स्वामीजी ने किसान श्रमजीवियों को जो स्थान दिया है उसके पीछे कार्ल मार्क्स के विचारों का प्रभाव है, किन्तु यह बात इतिहास से सिद्ध नहीं होती। एक तो कार्ल मार्क्स और स्वामी दयानन्द समकालीन हैं और दूसरे जिस समय स्वामीजी सत्यार्थप्रकाश लिख रहे थे उस समय कार्ल मार्क्स की प्रसिद्ध पुस्तक "दास कैपिटल" का अंग्रेजी अनुवाद भी नहीं हुआ था, हिन्दी अनुवाद की तो बात ही क्या है। दास कैपिटल का अंग्रेजी अनुवाद 1887 में हुआ था। उस समय सन् 1880-83 ई० के आसपास मार्क्स की कोई सार्वजनिक चर्चा भी न थी। अतः किसान और श्रमजीवियों के प्रति जो

भावना स्वामी दयानन्द की है वह उनकी अपनी है और वेद एवं स्मृति आदि भारतीय ग्रन्थों से अनुप्राणित है। "इन्द्रोसि विशौजाः (यजु० 10/28) अर्थात् हे राजन्! तेरा बल प्रजा है।"[1]

राजा प्रजा के सम्बन्ध में भी स्वामी दयानन्द की मान्यता बड़ी उदार है। वे लिखते हैं :

> "जो प्रजा न हो तो राजा किसका ? और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे। दोनों अपने अपने काम में स्वतन्त्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र रहें। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा वा राजपुरुष न हों। राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले।" पृ० 257

जनतन्त्र का इतना सुस्पष्ट सम्मान उस युग में अन्यत्र दुर्लभ है।

स्वामीजी अपने देश में राजकीय व्यवस्था, न्याय, साक्ष्य आदि की पद्धति मनुस्मृति के आधार पर वर्णन करते हैं। उन्होंने विवादों का निर्णय करना, साक्षियों का ग्रहण करना और दण्ड की व्यवस्था करना आदि विषयों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। दण्ड के सम्बन्ध में वे मनुस्मृति के आधार पर यह वर्णन करते हैं कि जिसका जितना ऊँचा पद हो उसको उतना ही अधिक दायित्वपूर्ण होना चाहिये और यदि वह अपराध करे तो उसे उतना ही अधिक दण्ड मिलना चाहिये। साधारण मनुष्य की अपेक्षा राजा को सहस्र गुना दण्ड होना चाहिये मन्त्रियों को आठ सौ गुना, और इसी प्रकार घटते-घटते राजपुरुष चपरासी आदि को साधारण मनुष्य की अपेक्षा आठ गुना से कम दण्ड न होना चाहिये। स्वामीजी लिखते हैं :

> "जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े से ही दण्ड से वश में आ जाती है, इसलिये राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्य पर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिये।" पृ० 268

---

1. स्वा० वेदा० संस्करण पृ० 142 की टिप्पणी

इसी प्रकार ब्राह्मण को सब से अधिक, क्षत्रिय को उससे कम, वैश्य को उससे कम, शूद्र को उससे भी कम दण्ड देना चाहिये। अभिप्राय यह हुआ कि जो अधिक विद्वान् है उसे अधिक दायित्वपूर्ण आचरण करना चाहिये। स्वामीजी व्यभिचारियों को बड़े कठोर दण्ड की व्यवस्था करते हैं।

महाभियोग :

न्यायाधीश को राजा नियुक्त करता है। अतः राजा के अपराध पर दण्डविचार न्यायाधीश को करना उचित नहीं है। न्यायाधीश के अपराध पर दण्ड-विचार राजा या अन्य न्यायाधीश को करना उचित नहीं है। इस प्रकार के अभियोग जो राजा या न्यायाधीश के विरुद्ध लगाये जाते हैं, उनकी प्रकृति या उनका स्वरूप महाभियोग का होता है। ऐसे अभियोग राजसभा के अधिकार क्षेत्र में है। आशय यह है कि राजा, रानी, न्यायाधीश आदि को भी व्यभिचार आदि करने के कारण कठोर दण्ड मिलना चाहियें। यह दण्ड न्यायाधीश नहीं बल्कि राजसभा देगी। जैसे आजकल राष्ट्रपति पर संसद में महाभियोग (Impeachment) लगाया जाता है वैसे राजा, रानी और न्यायाधीश आदि पर राजसभा में "संसद में" महाभियोग चलाना चाहिये। स्वामीजी प्रश्न करते हैं :

> "जो राजा वा रानी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे तो उसको कौन दण्ड देवे। उत्तर—सभा अर्थात् उनको तो प्रजा-पुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिये।" पृ० 270

स्वामीजी ने राजनीति के सम्बन्ध में सामान्यरूप से वेद, मनुस्मृति, शुक्रनीति, विदुरप्रजागर और महाभारत शान्तिपर्व आदि का सहारा लिया है। किन्तु यह कुछ आवश्यक नहीं है कि हर समय में हर समस्या के सामाधान का राजनीतिक वर्णन इन स्थलों पर मिल ही जाय। अतः स्वामीजी व्यवस्था करते हैं कि ऐसे अनुक्त प्रसंग जब उपस्थित हो जाँय तो पूर्ण विद्वानों की राजसभा उन नियमों को निर्धारित कर ले। स्वामीजी लिखते हैं :

"और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है उनके लिये **प्रत्यहं लोकदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः—** मनु 3/8. जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझे, उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बांधा करे।" पृ० 272

स्वामी दयानन्द स्वतन्त्रता के परम समर्थक थे। परतन्त्रता उन्हें एक क्षण के लिये भी स्वीकार्य न थी। इसीलिये उन्होंने अंग्रेजों के शासन की प्रशसा नहीं की और वे सदा ही स्वतन्त्रता का पक्ष लेते रहे। वे यही उपदेश करते थे कि परमेश्वर हमारा राजा है और हम उसकी प्रजा हैं। उनके हृदय की वेदना इस प्रार्थना में फूट निकलती है कि "परमेश्वर कृपा करे और हम लोगों को स्वराज्य का अधिकारी बनावे।" वे लिखते हैं :

"**वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम**—यह यजुर्वेद का वचन है। हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।" पृ० 273

सप्तम समुल्लास

विषय वर्णन का क्रम :

स्वामीजी ने सप्तम समुल्लास का शीर्षक इस प्रकार लिखा है— "**अथेश्वर वेदविषयम् व्याख्यास्यामः**" अब ईश्वर और वेद विषय की व्याख्या करेंगे। सत्यार्थ प्रकाश के समुल्लासों के क्रम पर ध्यान दें तो यह एक जीवन निर्माण का क्रम दिखाई पड़ता है। प्रथम समुल्लास में ईश्वर के नामों की व्याख्या करके ऋषि ने द्वितीय समुल्लास में शिक्षा—कुमारभृत्या की व्याख्या की है। तृतीय समुल्लास में अध्ययन-अध्यापन-विधि का वर्णन है। इस प्रकार द्वितीय और तृतीय समुल्लास जन्म से लेकर ब्रह्मचर्य आश्रम पर्यन्त जो आवश्यकीय विषय हैं

उनके सम्बन्ध में लिखे गये हैं। चतुर्थ समुल्लास गृहस्थाश्रमियों के सम्बन्ध में है। पंचम समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का वर्णन है। इस प्रकार द्वितीय समुल्लास से आरम्भ कर पञ्चम समुल्लास तक मनुष्य जीवन से सम्बन्धित सभी कर्त्तव्य कर्मों का वर्णन हो चुका है। मनुष्य की व्यक्तिगत सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये और इन चारो आश्रमों के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों की विस्तार से व्याख्या हो चुकी है। षष्ठ समुल्लास में राजा-प्रजा के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विचार हो चुका। इस प्रकार लौकिक एवं व्यावहारिक पक्ष की पूर्ण व्याख्या हो चुकी। अब सातवें समुल्लास में ईश्वर और वेद के सम्बन्ध में विचार प्रकट कर रहे हैं। आठवें समुल्लास में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की व्याख्या है। नवें समुल्लास में विद्या-अविद्या, बन्ध-मोक्ष आदि की व्याख्या है। दशम समुल्लास में आचार-अनाचार, भक्ष्य-अभक्ष्य विषयों का वर्णन है।

ईश्वर और वेद विषय :

ईश्वर और वेद दोनों के सम्बन्ध में कई प्रचलित भ्रान्तियाँ थीं। आज इस ग्रन्थ के प्रकाशन के शताधिक वर्षों पश्चात् बहुत सारे लोग संसार के बनाने वाले, चलाने वाले, पालन करने वाले ईश्वर की एकता को मानने लगे हैं। जिस समय स्वामीजी ने लोगों को सुधारना, समझाना और सच्चे धर्म की शिक्षा देना आरम्भ किया था उस समय ईश्वर, गॉड और अल्लाह तीनों का स्वरूप अलग-अलग था। तीनों अलग-अलग जगहों में निवास करते माने जाते थे। विष्णु क्षीर सागर में, शिव कैलाश पर्वत पर, अल्लाह चौथे आसमान पर और गॉड सातवें आसमान पर। सभी एक देशीय ईश्वर में विश्वास करते थे और सबके पीर-पैगम्बर, अवतार आदि साथ-साथ लगे थे। इस प्रकार हिन्दुओं का ईश्वर, ईसाइयों का गॉड और मुसलमानों का अल्लाह सब अलग-अलग, एक दूसरे से पृथक् माने जाते थे। 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम' बहुत परवर्ती विचार है।

वेदमूलक भारतीय मतपन्थों में भी शैव, शाक्त, वैष्णव कितने ही

अलग-अलग सम्प्रदाय उभर कर ईश्वर की अलग-अलग प्रकार से व्याख्या करते थे। इसी प्रकार वेद के सम्बन्ध में भी बड़ा भ्रम छाया हुआ था। कई लोग ऐसा मानते थे कि वेद को ब्रह्मा ने बनाया है। कई ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद मानते थे। लोग वेदो में मानवीय इतिहास भी मानते थे। कुछ लोग वेदों को जादू-टोना का ग्रन्थ भी कहते थे। बहुत सारे लोग वेदत्रयी को आधार बनाकर अथर्ववेद को वेद ही नहीं मानते थे। फिर ऐसे भी बहुत से लोग थे जो यह कहते थे कि शंखासुर वेदों को चुराकर पाताल लोक में चला गया। अब इस मर्त्यलोक में, कलियुग में, वेद हैं ही नहीं। इन सारे भ्रान्तिमूलक विचारों की भूमिका मे स्वामीजी ने इस सप्तम समुल्लास में ईश्वर और वेद विषय की व्याख्या की है।

उस समय योरोप के तथाकथित प्राच्य विद्याविशारदों ने बड़े बल-पूर्वक यह कहना आरम्भ कर दिया था कि वेद में एक ईश्वर का वर्णन नहीं है, बल्कि वेद तो बहुत-सारे देवताओं को मानते हैं। सप्तम समुल्लास आरम्भ करते हुए स्वामीजी ने पहले इसी मान्यता का निराकरण किया है कि वेद में अनेक ईश्वर नहीं हैं। वेद केवल मात्र एक ही ईश्वर का वर्णन करते हैं। स्वामीजी लिखते हैं :

> "प्रश्न—वेद में ईश्वर अनेक हैं, इस बात को तुम मानते हो या नहीं ?
>
> उत्तर—नहीं मानते, क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।" पृ० 275

स्वामीजी इस प्रसंग को प्रथम समुल्लास में ही लिख चुके हैं :
"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मात-रिश्वानमाहुः।" ऋग्० 1/164/46

अब एक प्रश्न यह उठता है कि वेदों में अनेक देवताओं का वर्णन तो है। यजुर्वेद 14/31 में **त्रयस्त्रिंशस्त्रिंशताः** देवताओं का वर्णन मिलता है। स्वामीजी ने यह बताया कि 33 देवता के प्रसंग की व्याख्या

शतपथ ब्राह्मण में की गयी है, जिनमें 8 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य, इन्द्र और प्रजापति, ये 33 देवता हैं। ये दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण देवता कहलाते हैं। इस प्रकार देवता अनेक हैं, किन्तु ईश्वर एक ही है। बहुत देवता होने के कारण अनेक ईश्वर को मानने का सिद्धान्त ठीक नहीं है। वेदों में अनेकानेकों मन्त्रों में ईश्वर के एक ही होने का वर्णन है और अधिक का निषेध है।

ईश्वर का अस्तित्व और प्रत्यक्ष :

अगला प्रश्न ईश्वर को न मानने वालों से सम्बन्धित है। संसार में ईश्वर को मानने वाले आस्तिक और न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं। नास्तिक लोग ईश्वर की सत्ता में ही विश्वास नहीं करते। अतः यह बड़ा मौलिक प्रश्न है कि ईश्वर है भी या नहीं। और यदि है तो उसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द की मान्यता यह है कि ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं। स्वामीजी लिखते हैं :

> "अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से, गुणी जो पृथ्वी उसका आत्मा युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि कर्म और ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।" पृ० 278

स्वामीजी ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में एक और अनुभवसिद्ध बात लिखते हैं कि जब आत्मा किसी बुरे कार्य में लगता है तो भय, शंका और लज्जा आदि का अनुभव होता है और जब अच्छे कामों में लगता है तो अभय, निःशंकता और आनन्द, उत्साह का अनुभव होता है। "वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।" पृ० 278

स्वामीजी परमेश्वर के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में समाधिस्थ अनुभव की बात लिखते हैं :

"और जब जीवात्मा शुद्ध हो के परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।" पृ० 278

इस उद्धरण का बहुत सीधा अर्थ यह है कि जीवात्मा ईर्ष्या, द्वेषादि मलिनताओं से रहित होकर जब परमात्मा का विचार करता है उस समय जीवात्मा को जीवात्मा और परमात्मा दोनों का प्रत्यक्ष होता है।

स्वामीजी ईश्वर को सर्वव्यापक, दयालु और न्यायकारी बताते हैं। ईश्वर की सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में ऋषि लिखते हैं कि ईश्वर सर्व-व्यापक है, इसीलिये तो सर्वान्तर्यामी है, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका स्रष्टा, सबका धर्ता है। यदि सर्वव्यापक न हो तो जहाँ परमेश्वर न होगा वहाँ "अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का होना असम्भव है।" पृ० 279

ईश्वर दयालु और न्यायकारी है :

सामान्य रूप से आस्तिकों में एक भावना व्याप्त है कि परमेश्वर बड़े दयालु हैं और दयालुता का अर्थ यह है कि दुखड़ा रोने वाले, गिड़-गिड़ाने वाले, क्षमा की प्रार्थना करने वाले लोगों के सब दुःख भगवान् दूर कर देते हैं, उनके पापकर्मों को क्षमा कर देते हैं, इसलिये कई बार शंकरजी को आशुतोष भी कहते हैं। भक्त कवियों ने पूरी शक्ति लगाकर परमेश्वर की दयालुता का वर्णन किया है। किन्तु स्वामी दयानन्दजी परमेश्वर को इस प्रकार का दयालु नहीं मानते। स्वामीजी के विचार से न्याय और दया दोनों से एक ही अभिप्राय का बोध होता है। परमेश्वर दण्ड इसलिये देते हैं कि मनुष्य बुरे कर्मों से बचकर पुण्य कर्म में लगे। अतः दया का अर्थ दण्ड न देना या पाप क्षमा करना नहीं है। दण्ड न देने से या पाप क्षमा करने से कुकर्म बढ़ जायेंगे और मनुष्य का पतन हो जायगा। अतः न्याय न करना, दण्ड न देना निर्दयता का कार्य है। स्वामीजी लिखते हैं :

> "न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है, क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्ध होकर दुःखों को

प्राप्त न हो। वही दया कहाती है जो पराये दुःखों को छुड़ाना।''
पृ० 279

स्वामीजी ईश्वर को निराकार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् बताते हैं। साकार परमेश्वर न सर्वव्यापक हो सकता है न सर्वशक्तिमान् हो सकता है। साकार होने का अर्थ ही है कि उसका आकार है और उस आकार की फिर सीमा बन गयी, और सीमित आकार, सीमित देश में वर्त्तमान ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता।

सर्वशक्तिमान् के सम्बन्ध में भी स्वामी दयानन्दजी ने बताया है कि सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नहीं है कि परमेश्वर उल्टा-पल्टा, सम्भव असम्भव सब कुछ कर दे। जड़ को चेतन या सृष्टिक्रम विरुद्ध कुछ भी परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता में नहीं आता है :

> ''सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि, और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किञ्चित भी किसी की सहायता नहीं लेता।'' पृ० 281

ईश्वर सब कुछ नहीं कर सकता इस बात को समझाने के लिए स्वामीजी लिखते हैं :

> ''जो तुम कहो कि ईश्वर सब कुछ चाहता और कर सकता है तो हम तुमसे पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् होकर चोरी, व्यभिचारादि पाप कर्म कर और दुःखी भी हो सकता है? जैसे ये काम ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के विरुद्ध हैं तो जो तुम्हारा कहना है कि वह सब कुछ कर सकता है, वह कभी नहीं घट सकता।'' पृ० 281

ईश्वर के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि जब परमेश्वर पाप क्षमा करता नहीं और दया करके कुछ लाभ पहुँचाता नहीं तो उसकी स्तुति, प्रार्थना, आदि चाहे की जाय या न की जाय, सब एक-सा ही है। हम किसी की प्रशंसा करें और उस प्रशंसा के बदले

में वह हमारी कुछ रियायत करे, हमें कुछ छूट दे, तब तो उसकी प्रशंसा, चापलूसी का हमें कुछ फल मिला, नहीं तो स्तुति व्यर्थ है। इसलिये स्वामीजी ने एक प्रश्न उठाया है कि—"क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति, प्रार्थना आदि करने वाले का पाप छुड़ा देगा।" स्वामीजी का सीधा उत्तर है—"नहीं। पुनः स्तुति, प्रार्थना क्यों करें ?" स्वामीजी इसका उत्तर देते हैं :

> "स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना। प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना। उपासना से परब्रह्म से मेल और उससे साक्षात्कार होना। पृ० 282

स्वामीजी का सुस्पष्ट मत है कि ईश्वर की स्तुति करते हुए अपने गुण-कर्म-स्वभाव को भी सुधारना चाहिये और यदि गुण-कर्म-स्वभाव को सुधारने का प्रयास न करे, केवल भजन-कीर्त्तन ही करता फिरे तो यह सब व्यर्थ है। स्वामीजी लिखते हैं :

> "जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे, और जो केवल भाँड़ के समान परमेश्वर के गुण-कीर्त्तन करता जाता और अपना चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है।" पृ० 283

स्वामीजी ने प्रार्थना का विस्तृत वर्णन किया है और कैसी प्रार्थना करनी चाहिए, कैसी प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, यह सब विस्तार से समझाया है। उन्होंने कई वेदमन्त्र देकर, उनका अर्थ लिखकर प्रार्थना का प्रकार समझाया है। एक विशेष बात यह लिखी है कि जैसी प्रार्थना करे वैसा ही आचरण भी करे, नहीं तो प्रार्थना भी व्यर्थ है। स्वामीजी लिखते हैं :

> "जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिये। अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करे, उसके लिये जितना

7

अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे, अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।" पृ० 287

स्वामीजी ने यह भी कहा है कि कई तरह की प्रार्थनाएँ नहीं करनी चाहियें :

"ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि जैसे—हे परमेश्वर आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे आधीन सब हो जाँय, इत्यादि।" पृ० 287

परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहना मूर्खता का कार्य है और पुरुषार्थी की ही प्रार्थना फलवती होती है। कहते भी हैं—'कायर मन के एक अधरा, दैव दैव आलसी पुकारा।'

उपासना :

भक्त के लिये परमेश्वर की उपासना बहुत आवश्यक है। स्वामीजी उपासना के विषय को बहुत विस्तार से समझाते हैं :

"उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है। अष्टाङ्ग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसके सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो काम करना होता है, वह सब करना चाहिये।" पृ० 288

उपासना के लिये क्या कर्त्तव्य कर्म है, इसे स्वामीजी अष्टाङ्ग योग के आधार पर बताते हैं। मूर्त्तिपूजा के प्रचलन से जहाँ स्तुतियाँ, प्रार्थनाएँ और उनके प्रकार विकृत हुए थे वहीं अष्टाङ्ग योग की भी बड़ी अवमानना की गई थी। भक्ति-साहित्य में योग और उसके अङ्गों की कई स्थलों पर खिल्ली उड़ाई गयी है। सर्वत्र इष्ट-देव के विग्रह के पूजन ने अष्टाङ्ग योग को प्रायः तिरस्कृत कर दिया था। स्वामीजी ने अपने सभी ग्रन्थों में अष्टाङ्ग योग को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वे अष्टाङ्ग योग का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि इन योगाङ्गों को पतंजलि ऋषिकृत योग-शास्त्र में अथवा स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के उपासना

प्रकरण में देखना चाहिए। उपासना किस प्रकार करनी चाहिए, इस सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं :

> "जब उपासना करना चाहे तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभि प्रदेश में, वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में, किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे।" पृ० 289

सगुण-निर्गुण स्तुति की तरह उपासना के भी दो भेद—सगुणोपासना और निर्गुणोपासना हैं। जैसे स्तुति और प्रार्थना के अपने-अपने फल हैं, उसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने उपासना के भी फल बताये हैं। स्वामीजी लिखते हैं :

> जैसे शीत से आतुर होकर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष-दुःख छूट कर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। पृ० 290

स्वामीजी का तर्क बहुत सीधा है। अग्नि में ऊष्णता है, अतः अग्नि के समीपस्थ होने से ऊष्णता की प्राप्ति और शीत की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं और परमेश्वर के समीपस्थ होने से परमेश्वर के पवित्र गुण-कर्म-स्वभाव की प्राप्ति और दोष-दुःख की निवृत्ति होना सहज स्वाभाविक है। इस गुण-कर्म-स्वभाव की पवित्रता के अतिरिक्त उपासना करने से मनुष्य के आत्मा का बल भी बढ़ता है। स्वामीजी लिखते हैं :

> "आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सब को सहन कर सकेगा।" पृ० 290

परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना करना मनुष्य के लिये

कृतज्ञता की बात है। परमात्मा ने हमें सब सुखके पदार्थ दिये हैं, अतः उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना न करना कृतघ्नता है।

स्वामीजी वेदमन्त्रों, शास्त्रों और तर्क के आधार पर परमेश्वर को निराकार बताते हैं। परमेश्वर आकार रहित होकर भी अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सभी कार्य सम्पन्न कर देता है। परमेश्वर को कई लोग निष्क्रिय भी मानते हैं। स्वामीजी समझाते हैं कि यदि परमात्मा निष्क्रिय होता तो यह संसार के उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप कार्य किसी अन्य के वश का नहीं है। परमेश्वर अनन्त है, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया गया है।

कपिलाचार्य आस्तिक हैं :

प्रसिद्ध मुनि आचार्यकपिल ने सांख्य दर्शन लिखा है। उन्होंने सांख्य दर्शन में प्रकृति का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद के प्रचार के सन्दर्भ में प्रकृति का तिरस्कार किया गया। सांख्य दर्शन में कपिलाचार्य प्रकृति को संसार का उपादान कारण मानते हैं और श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में भी प्रकृति को उपादान कारण के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु अद्वैतवादी ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं। वे ब्रह्म को ही निमित्त कारण और ब्रह्म को ही उपादान कारण भी मानते हैं। स्वामी दयानन्द ने इस सिद्धान्त की समालोचना की और कहा कि परमेश्वर संसार का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। कपिलाचार्य प्रकृति को उपादान कारण मानते हैं और परमेश्वर को निमित्त कारण मानते हैं। अतः उन्हें अनीश्वरवादी नहीं कहना चाहिये। स्वामीजी लिखते हैं :

> "इसीलिये जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं।" पृ० 294

ईश्वर का अवतार :

भारत की परम्परा में एक सामान्य धारणा यह काम करती आ रही है कि जब-जब संसार पर विपत्ति आती है और गो, ब्राह्मण, साधु-सन्त

कष्ट पाते हैं तथा अधार्मिक असुर बलवान् हो उठते हैं तो उनके विनाश के लिये परमेश्वर अवतार लेते हैं। यह बात हिन्दी के भक्त कवियों ने भी कही है और गीता में भगवान कृष्ण ने भी कहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है तब-तब मैं शरीर धारण करता हूँ। स्वामीजी का उत्तर बहुत सुस्पष्ट है। ईश्वर का अवतार लेना, न वेद-शास्त्र से समर्थित है और तर्कसम्मत भी नहीं है, अतः ईश्वर के अवतार का प्रमाण नहीं हो सकता। गीता के प्रसिद्ध श्लोक (भ० गी० 4-7) के सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं :

> "ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्माओं और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म ले के श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ तो कुछ दोष नहीं, क्योंकि 'परोपकाराय सताम् विभूतयः'। परोपकार के लिये ही सत्-पुरुषों का तन-मन-धन होता है तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।" पृ० 295

एक और प्रश्न भक्तों के मन में होता है—"जो ईश्वर अवतार न लेवे तो कंस, रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके?" इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी दयानन्द का कहना है :

> जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा और सही बात तो यह है कि "जो ईश्वर अवतार और शरीर धारण किये बिना जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है, उसके सामने कंस, रावणादि एक कौड़ी के समान भी नहीं।" ....जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है, भला इस अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव युक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव को मारने के लिये जन्म-मरण युक्त कहने वाले को मूर्खपन से युक्त कुछ विशेष उपमा मिल सकती है?" पृ० 295

तर्क और युक्ति से भी ईश्वर का अवतार सिद्ध नहीं होता। ईश्वर सर्वव्यापक है, अनन्त है। जैसे अनन्त आकाश किसी गर्भ या मुट्ठी में

नहीं समेटा जा जकता, उसी प्रकार अनन्त, सर्वव्यापक परमात्मा का आना-जाना, गर्भ में पहुँचना, आदि नहीं हो सकता। परमेश्वर सर्वत्र है, अतः उसका अवतार नहीं हो सकता।

स्वामीजी जैसे कृष्ण आदि भारतीय परम्परा में प्रचलित अवतारी का खण्डन करते हैं उसी प्रकार ईसाई आदि विदेशी परम्पराओं में प्रचलित अवतारवाद के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उन्होंने लिखा है :

"इसलिये ईसा आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं, ऐसा समझ लेना, क्योंकि राग, द्वेष, क्षुधा, तृषा, भय, शोक, दुःख, सुख, जन्म, मरण आदि गुण युक्त होने से वे मनुष्य थे।" पृ० 296

पाप क्षमा का सिद्धान्त :

भक्तों में प्रायः यह भावना समायी हुई है कि प्रभु का नाम लेने से पाप क्षमा हो जाता है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। किन्तु स्वामीजी का कहना है कि ईश्वर किसी का पाप क्षमा नहीं करता, भक्तों का भी पाप क्षमा नहीं करता :

"क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनके पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाय।"
पृ० 296

जीव अपने कर्मों में स्वतन्त्र है :

जीव कर्म करने से स्वतन्त्र और उसका फल भोगने में परमेश्वर के नियमों के परतन्त्र है। ईश्वर जीव को बनाता नहीं, जीव वैसा ही अनादि है जैसा ईश्वर और प्रकृति। परमात्मा ने जीवात्मा को शरीर दिया। शरीर की इन्द्रियाँ बनायीं, किन्तु ये सब साधन जीव के आधीन हैं। अतः जीव अपने कर्म करने में स्वतन्त्र और कर्मों के अनुसार फल भोगने में परमेश्वर के आधीन है। जीव और ईश्वर—"दोनों चेतन-स्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है।" पृ० 298

परमेश्वर सारे संसार को नियमों में रखता है। वह उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, पाप-पुण्य सबकी व्यवस्था करता है। वह सर्वज्ञ, आनन्द स्वरूप आदि विशेषणों से युक्त है और जीवात्मा सत्-स्वरूप है, जन्म-मरण, सन्तानोत्पत्ति, परिवार का पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म जीवात्मा के हैं। ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर के सान्निध्य में भूत-भविष्य न होकर सदा वर्तमान ही रहता है :

> "इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित, वर्त्तमान रहता है। भूत-भविष्यत् जीवों के लिए है। हाँ, जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं।"
>
> पृ० 299

क्या जीव ब्रह्म एक हैं ?

स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद के प्रचार से यह एक सामान्य-सी धारणा बन गयी है कि जीव ब्रह्म का ही अंश है और इसलिये 'अहम् ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों का उद्धरण दिया जाता है। स्वामी दयानन्द ईश्वर और जीव को पृथक्-पृथक् मानते हैं। जीवात्मा परिच्छिन्न और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मातिसूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। इसलिये जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि एक ही स्थान में दो वस्तुएँ नहीं रह सकतीं तो जीव और ईश्वर एक ही स्थान में कैसे रह सकेंगे ? स्वामीजी इसका उत्तर देते हैं :

> "यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल और अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण लोहे में विद्युत् अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं। वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है।" पृ० 300

'अहम् ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्य वेद में नहीं हैं। ये उपनिषदों और

ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। 'अहम् ब्रह्मास्मि' में तात्स्थ्योपाधि है अर्थात् कि जो मनुष्य ब्रह्मस्थ हो जाता है अर्थात् जो जीव ब्रह्म का सहचारी हो जाता है उसमें और ब्रह्म में अविरोध हो जाता है :

> "जो जीव समाधिस्थ हो परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक अवकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभाव करता है, वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है।" पृ० 301

इसी प्रकार स्वामीजी ने 'तत्त्वमसि', 'एकमेवाद्वितीयम्', 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि अद्वैतवाद के समर्थक वाक्यांशों की सुन्दर व्याख्या उपनिषद् आदि शास्त्रों के आधार पर की है।

स्वामीजी कहते हैं कि ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है और जीव सत्चित् स्वरूप है। इस प्रकार परमेश्वर भी चेतन है और जीव भी चेतन है। इस चेतनता मात्र साधर्म्य से जीव और ब्रह्म एक नहीं हो सकते। स्वामीजी ने "भागत्याग लक्षणा" के आधार पर समझाया है कि सर्वज्ञत्वादि वाच्यार्थ ईश्वर का और अल्पज्ञत्वादि वाच्यार्थ जीव का गुण है। इस प्रकार दोनों एक नहीं हो सकते। वे लिखते हैं :

> "किञ्चित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथ्वी जड़ है, दृश्य है वैसे जल, अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं। इतने से एकता नहीं होती।" पृ० 309

इसी प्रकार चेतन गुण के कारण जीव और ब्रह्म एक नहीं हो सकते।

'एकमेवाद्वियीयम् ब्रह्म' के सम्बन्ध में स्वामीजी कहते हैं कि जैसे इस नगर में देवदत्त अद्वितीय धनाढ्य है—"अस्मिन्नगरे अद्वितीयो धनाढ्यो देवदत्तः।" इसका यह अर्थ नहीं है कि दूसरे मनुष्य या संसार के अन्य पदार्थ या अन्य वस्तुओं का निषेध हो गया।

स्वामी दयानन्द निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहना ठीक नहीं समझते। परमेश्वर निराकार है, पर वह सगुण और निर्गुण दोनों है :

"यद् गुणैस्सह वर्तमानं तत् सगुणम्, गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तत् निर्गुणम्"—जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरों के विरोधी गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं.........वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बलादि सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहाता है।" पृ० 311

वेद विषय

स्वामी दयानन्द ने सप्तम समुल्लास में ईश्वर विषय और वेद विषय का व्याख्यान किया है। वे ईश्वर के सम्बन्ध में अपना कथ्य संक्षेप से कहकर अब वेद विषय के सम्बन्ध मे अपना विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसे वेद के सम्बन्ध में अधिक विस्तृत और निर्भरयोग्य जानकारी प्राप्त करने के लिये स्वामी दयानन्द का 'ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका' ग्रन्थ बहुत अच्छा है। कहने को तो उन्होंने अपने वेदभाष्य की भूमिका के रूप में इसे लिखा है, पर वास्तविकता की दृष्टि से, वेद के सम्बन्ध में विभिन्न पक्षों की जानकारी के लिये यह ग्रन्थ रत्न है। सत्यार्थप्रकाश में भी उन्होंने अनेक स्थलों पर अनेक विषयों की विस्तृत जानकारी के लिये ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पढ़ने को कहा है।

वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। भारतीय परम्परा में सभी आस्तिक वेदों का मान करते हैं और वेदों की धार्मिक महिमा स्वीकार करते हैं। किन्तु वेदों के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ भी खूब हैं। कोई कहते हैं कि वेद ब्रह्मा ने बनाये। कोई कहते हैं महर्षि वेदव्यास ने इन्हें चार संहिताओं में विभक्त किया। कोई-कोई तो यहाँ तक कहते हैं कि वेदों को चुराकर शंखासुर पाताल लोक में चला गया। अब कलियुग में वेद हैं ही नहीं। ऐसे भी लोग हैं जो वेदों की हजारों शाखाओं,

ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् आदि सबको वेदों में ही गिनते हैं। इस प्रकार वेदों के सम्बन्ध में अनेकों भ्रान्त विचार प्रचलित थे। स्वामीजी ने वेदों के सम्बन्ध में बहुत संक्षिप्त किन्तु बड़े मूल्यवान विचार यहाँ प्रस्तुत किये हैं। परमात्मा ने ऋग्, यजुः, साम और अथर्व सब वेदों को अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों के हृदयों में सृष्टि की आदि में प्रकाशित किया। प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि नामक ऋषि के आत्मा में ऋग्वेद, वायु के आत्मा में यजुर्वेद, आदित्य के आत्मा में सामवेद और अङ्गिरा के आत्मा में अथर्ववेद का प्रकाश किया। एक प्रश्न होता है कि परमेश्वर तो निराकार है, उसके मुख, जिह्वा, तालु, आदि बोलने के साधन तो हैं नहीं, फिर उसने इन ऋषियों के आत्मा में वेदों का प्रकाश कैसे किया ? स्वामीजी ने इसका जो सीधा-सा उत्तर दिया है वह निम्न प्रकार है :

"परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेदविद्या का उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मुख, जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिये किया जाता है, कुछ अपने लिये नहीं। क्योंकि मुख, जिह्वा के व्यापार करे बिना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है। कानों को अंगुलियों से मूँदकर देखो सुनो कि बिना मुख, जिह्वा, ताल्वादि स्थानों के कैसे-कैसे शब्द हो रहे हैं। वैसे जीवों को अन्तर्यामी रूप से उपदेश किया है। किन्तु केवल दूसरों को समझाने के लिये उच्चारण करने की आवश्यकता है।" पृ० 313

"जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है तो अपनी अखिल वेदविद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है।" पृ० 313

परमात्मा ने सृष्टि की आदि में जैसे आँखों के लिये रूप और प्रकाश दिया, कानों के लिये शब्द और आकाश दिया, प्रत्येक इन्द्रिय के लिये

उसके विषय और पदार्थ दिये, सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, वनस्पति, औषधियाँ आदि सब कुछ दीं, उसी प्रकार से अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों को वेदों का उपदेश किया। "वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्र आत्मा थे, अन्य उनके सदृश नहीं थे, इसलिये पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हींमें किया।" पृ० 315

इन चार ऋषियों ने चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये। अतः ब्रह्मा ने वेदों को नहीं बनाया, बल्कि इन चार ऋषियों से ग्रहण किया।

वेद किसी देश-भाषा में न होकर संस्कृत भाषा में है, क्योंकि :

"जो किसी देश-भाषा में प्रकाश करता तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता, क्योंकि जिस देश का भाषा में प्रकाश करता, उनको सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों को पढ़ने-पढ़ाने की होती। इसलिये संस्कृत में ही प्रकाश किया जो किसो देश की भाषा नहीं। और वेद भाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है उसीमें वेदों का प्रकाश किया।" पृ० 315

वेद ईश्वरकृत हैं, यह क्यों माना जाता है? ईसाई बाइबिल को और मुसलमान कुरान को ईश्वरोक्त मानते हैं। स्वामीजी कहते हैं :

"ईश्वर पवित्र, सर्वविद्याविद्, शुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव, न्यायकारो, दयालु आदि गुण वाला है। वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत, अन्य नहीं।" पृ० 315

"जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्ति रहित ज्ञान का प्रतिपादन हो वह ईश्वरोक्त। जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रखा है वैसा ही ईश्वर सृष्टि कार्य कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे, और प्रत्यक्षादि विषयों के अविरुद्ध, शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है। इस प्रकार के वेद हैं, अन्य बाइबिल, कुरानादि पुस्तकें नहीं।" पृ० 315-316

कई लोगों का यह विचार है कि संसार का आधार विकासवाद है और ज्ञान के विकास से ही वेदों का भी निर्माण हो गया होगा। अतः वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने की आवश्यकता नहीं है। इन्हें मनुष्यों ने अपना ज्ञान बढ़ाते-बढ़ाते बना लिया होगा। स्वामीजी कहते हैं :

"कभी नहीं बना सकते। क्योंकि बिना कारण के कार्योत्पत्ति होना असम्भव है। जैसे जंगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाय तो विद्वान् हो जाते हैं और अब भी पढ़े बिना कोई विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार जो परमात्मा उन आदि सृष्टि के ऋषियों को वेदविद्या न पढ़ाता और वे अन्य को न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान् रह जाते।" पृ० 316

वेद मन्त्रों के अर्थ ऋषियों ने कैसे जाना, इसका उत्तर स्वामीजी देते हैं :

"परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब-जब जिस-जिसके अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये।" पृ० 317

वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ :

मध्यकाल में संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद माना जाने लगा था, किन्तु स्वामीजी ने ब्राह्मण ग्रन्थों को मन्त्र संहिताओं से पृथक् और उन्हींकी व्याख्या बताया है। पाणिनीय व्याकरण के प्रमाण के आधार पर उन्होंने बताया कि वेदमन्त्र भाग संहिताएँ हैं और ब्राह्मण ग्रन्थ व्याख्या भाग हैं। उनमें मन्त्रों के प्रतीक देकर मन्त्रों की व्याख्याएँ की गयी हैं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋषि-महर्षि और राजाओं आदि के इतिहास भी लिखे हैं। अतः परमेश्वरकृत चारों ऋग्, यजुः, साम, अथर्व वेद हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ और वेदों की शाखाएँ व्याख्या के लिये ऋषियों ने लिखी हैं। वेदों की 1127 शाखाएँ कही जाती हैं, किन्तु कुछ ही मिलती हैं और वे ऋषि-मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं।

स्वामीजी वेदों को नित्य मानते हैं—"क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण-कर्म-स्वभाव नित्य हैं और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं। पृ० 321

वेद की पुस्तक नित्य नहीं हैं। पुस्तकें तो कागज-पन्ने-स्याही आदि की हैं, वे नित्य नहीं हो सकतीं, किन्तु जो वेदों का ज्ञान है, जो अर्थ शब्द सम्बन्ध है, वह नित्य है।

स्वामीजी ने एक और प्रश्न उठाया है—"ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिये होंगे।" स्वामीजी ने उत्तर दिया है :

> "ज्ञान ज्ञेय के बिना नहीं होता। गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्तानुदात्तादि स्वर के ज्ञानपूर्वक गायत्र्यादि छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के बिना किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार का सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सके।" पृ० 322

समुल्लास का उपसंहार करते हुए स्वामीजी लिखते हैं :

> इसलिये वेद परमेश्वरोक्त हैं। इन्हींके अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये, और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है, तो यही उत्तर देना है कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उसको मानते हैं।" पृ० 322

लोग अपने मत-पन्थ-सम्प्रदाय का परिचय देने के प्रसंग पर अपने को शैव या शाक्त या वैष्णव आदि सम्प्रदाय का बताते थे। या फिर अपने को अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी आदि सम्प्रदाय का बताते थे। वेदों से सभी पराङ्मुख हो चुके थे। उस समय स्वामी दयानन्द ने युगप्रवाह को वेदों की ओर मोड़ा और वेदों को सर्वोच्च धर्मग्रन्थ एवं स्वतः प्रमाण के रूप में संसार में प्रतिष्ठित किया।

अष्टम समुल्लास

अष्टम समुल्लास का विषय **सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है।** इन सब विषयों के अलग-अलग विचार और

विचारों में पर्याप्त विभेद हैं। कई लोग ऐसा मानते हैं कि सृष्टि स्वतः अपने आप बन जाती है, अपने आप चलती रहती है और अपने आप विनष्ट भी हो जाती है। सृष्टि सदा से है और सदा बनी रहेगी। ऐसा भी मानने वाले लोग हैं, कि ईश्वर ने, गॉड या अल्लाह ने कहा कि हो जा और सृष्टि हो गयी, बिना उपादान कारण के, बिना किसी नियम के और एक दिन इसका प्रलय हो जायगा। परमेश्वर ने, गॉड या अल्लाह ने एक ही बार सृष्टि बनायी है और एक ही बार प्रलय होगा, ऐसा ईसाई और मुसलमानों का कहना है। हमारा यहाँ इतना मात्र आशय है कि सृष्टि कैसे हुई, क्या कारण थे, उपादान या निमित्त कारण क्या था, कैसे सृष्टि की स्थिति-पालना हो रही है, और फिर कैसे प्रलय हो जायगा, इन सब विषयों में आस्तिकों और नास्तिकों में तो मतभेद है ही, आस्तिकों में भी आपस में बहुत मतभेद है। ईसाई-मुसलमानों के मत वेद को स्वीकार करने वालों से भिन्न हैं, यह बात भी कुछ दूर तक समझ में आती है, किन्तु वेदों को आधार मानकर चलने वाले वेदभक्तों में भी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को लेकर पर्याप्त मतभेद है। अतः ईश्वर और वेद विषय का वर्णन कर लेने के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने अष्टम समुल्लास में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन तीन विषयों को लिया है।

परमेश्वर निमित्त कारण :

स्वामीजी ने वेदों, उपनिषदों और दर्शन ग्रन्थों से अनेक प्रमाण देकर यह बताया है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों ही अनादि हैं। परमेश्वर इस सृष्टि का निमित्त कारण है, प्रकृति उपादान कारण है। जीव के कल्याण के लिये परमेश्वर ने प्रकृति से सृष्टि का निर्माण किया। सृष्टि बनने के पूर्व प्रलयकाल में रात्रिरूप अन्धकार था, प्रकृति सत्व, रज, तम परमाणुओं के समुदाय के रूप में थी। परमेश्वर ने सब पृथिव्यादि पदार्थ उत्पन्न किया। उसी परमेश्वर से "इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, वही ब्रह्म जानने योग्य है।" पृष्ठ 324

स्वामी दयानन्द ने परमेश्वर को निमित्त कारण सिद्ध किया है। स्वामी शंकराचार्य ब्रह्म को निमित्त और उपादान दोनों कारणों के

रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिये अद्वैतवादी ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं। स्वामी दयानन्द परमेश्वर को उपादान कारण नहीं मानते। यदि परमेश्वर उपादान कारण हो तो उपादान कारण के गुण कार्य में आने चाहियें, इसलिए प्रकृति में परमेश्वर के गुण आने चाहिये। वेदमन्त्र के आधार पर ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को अनादि माना गया है। स्वामीजी ऋग्वेद का एक मन्त्र प्रमाणरूप में देते हैं:

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
> समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन-
> श्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥
>
> ऋग्० 1.64.20

इसमें यह कहा गया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, एक फल खा रहा है और दूसरा उसे देख रहा है। इसलिये स्वामीजी लिखते हैं:

> "इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्य रूप फलों को अच्छे प्रकार भोगता है, और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप है। ये तीनों अनादि हैं।" पृष्ठ 325

स्वामीजी श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रमाण देकर लिखते हैं:

> "प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता, और न कभी ये जन्म लेते। अर्थात् ये तीन जगत् के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है।" पृष्ठ 326

इस संसार का उपादान कारण प्रकृति है। ब्रह्म और जीव निमित्त

कारण हैं। अद्वैतवादी एक ब्रह्म ही की सत्ता स्वीकार करते हैं, अतः वे ब्रह्म को ही निमित्त कारण और ब्रह्म को ही उपादान कारण भी स्वीकार करते हैं। स्वामीजी ने बहुत सारे प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म उपादान कारण नहीं है। जगत् का उपादान कारण तो प्रकृति ही है। प्रकृति क्या है—इसका उत्तर सांख्य दर्शन के आधार पर स्वामी जी ने यह दिया है कि प्रकृति सत्व, रजः और तमः का संघात है, उसीसे महत्तत्व, बुद्धि, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, मन और पृथिव्यादि पाँचों भूत सब उत्पन्न होते हैं।

स्वामीजी ने उपनिषद् के उन तमाम उद्धरणों को यहाँ एकत्र किया है जिनसे अद्वैतवाद 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' की सिद्धि की जाती है। स्वामीजी ने उपनिषदों के सन्दर्भों को उपस्थित करके यह सिद्ध किया है कि जगत् के तीन कारण हैं—एक निमित्त कारण, दूसरा उपादन कारण और तीसरा साधारण कारण। सृष्टि की उत्पत्ति में एक निमित्त मुख्य कारण परमात्मा है और साधारण निमित्त कारण जीव है। प्रकृति उपादान कारण है—"जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। वह जड़ होने से आप से आप न बन, न बिगड़ सकती है किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है।" पृ० 329

अद्वैतवादी ब्रह्म को उपादान कारण भी मानते हैं। इस प्रश्न को स्वामीजी ने बहुत विस्तार से लिखा है और यह सिद्ध किया है कि जब उपादान कारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं:

> "तो ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप, जगत् कार्यरूप से असत् जड़ और आनन्दरहित। ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ। ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है। ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है। जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न होवें तो पृथिव्यादि में कार्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें। अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं, वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाय और जैसा परमेश्वर चेतन है वैसा पृथिव्यादि कार्य आदि भी चेतन होना चाहिये।" पृष्ठ 330

सृष्टि का निर्माण और व्यवस्था :

एक बड़ा प्रश्न यह है कि परमेश्वर ने इस जगत् को बनाया ही क्यों ? लोग सोचते हैं कि यदि यह संसार न बनता तो जीव सुख-दुःख के झञ्झटों में न पड़ता। स्वामी दयानन्द इस तरह के विचार को आलसी और दरिद्र लोगों की बातें बताते हैं, पुरुषार्थी की नहीं :

"जो सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुना अधिक होता है और बहुत-से पवित्रात्मा जीवनमुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं।" पृ० 332

संसार में न्याय, दया आदि परमेश्वर के गुण सृष्टि के निर्माण से ही सार्थक होते हैं—"जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।" पृ० 332

सभी धार्मिक लोग यह मानते हैं कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है और इसका अर्थ यह करते हैं कि परमेश्वर जो चाहे वह सबकुछ कर सकता है। स्वामी दयानन्द का कहना है कि परमेश्वर कोई असम्भव बात नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये कारण के बिना कार्य नहीं कर सकता। बिना मिट्टी के घड़ा नहीं बना सकता। स्वामीजी कहते हैं कि यदि ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का यही अर्थ है कि वह बिना कारण सब कुछ कर सकता है तो—"बिना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड़, दुःखी, अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं ?" पृ० 333

इसका सीधा अर्थ है कि परमेश्वर यह सब कुछ नहीं कर सकता, अपने नियमों का विरोध भी नहीं कर सकता। अग्नि का गुण उष्णता है, जल शीतल और पृथिव्यादि जड़ पदार्थों को विपरीत गुणवाला ईश्वर भी नहीं कर सकता—"ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं, इसलिये परिवर्तन नहीं कर सकता। इसलिये सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा बिना किसी के सहाय के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है।" पृ० 333

स्वामीजी यह प्रमाणित करते हैं कि ईश्वर निराकार है। क्योंकि जो साकार होगा, उसका शरीर होगा, वह एक देश विशेष में होगा, उसको शक्ति परिमित होगी, उसे भूख, प्यास, शीतोष्ण, ज्वर आदि व्याधियाँ भी होंगी, अतः परमेश्वर साकार नहीं, निराकार है। निराकार परमेश्वर ही सृष्टि का निर्माण कर सकता है। परमेश्वर में अनन्त शक्ति, बल और पराक्रम है, परमेश्वर प्रकृति से भी सूक्ष्म और उसमें व्यापक है। वह सभी अणू, परमाणु, त्रसरेणु सबको अपनी शक्ति से जगदाकार बना देता है।

ईश्वर और जीव में भिन्नता :

स्वामीजी ने सृष्टि रचना के अनेक पक्षों को प्रस्तुत किया है और नास्तिकों के नौ प्रकार के पक्ष प्रस्तुत करके उनका सामाधान किया है तथा इसीमें यह प्रश्न भी ले लिया है कि जीव ब्रह्म से भिन्न है, अर्थात् जीव ब्रह्म नहीं है।

स्वामीजी इस प्रसंग को विस्तार से उठाते हैं कि जीव कभी ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर अनादि है, संसार का स्रष्टा है, कोई जीव ऐसा नहीं हो सकता। किसी जीव का अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य नहीं हो सकता। परमेश्वर ने जो नियम बना दिये हैं उन्हें कोई कैसा भी बड़ा सिद्ध महात्मा हो, बदल नहीं सकता—"जैसा अनादि सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्ध किया है, उसको कोई भी योगी बदल नहीं सकता। अतः जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता।"

पृ० 342

सृष्टि प्रवाह से अनादि :

मुसलमान और ईसाई तो एक ही बार सृष्टि का बनना मानते हैं, किन्तु वैदिक सिद्धान्त में सृष्टि प्रवाह से अनादि है। अनेक बार सृष्टि बनी, प्रलय हुआ, फिर सृष्टि बनी, फिर प्रलय हुआ। इस प्रकार सृष्टि-प्रलय का चक्र अनादि काल से चलता हुआ अनन्तकाल तक चलता रहेगा। एक प्रश्न है कि क्या हर सृष्टि में इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, पशु-पक्षी, वनस्पति, मनुष्य, सब बनते रहे हैं और इसी प्रकार

ऐसे ही बनते रहेंगे ? स्वामीजी का उत्तर वेदमन्त्र के आधार पर बहुत सीधा है :

> "परमेश्वर ने जैसे पूर्व कल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि बनाये थे, वैसे ही अब बनाये हैं और आगे भी वैसा ही बनावेगा।" पृ० 342

परमेश्वर का ज्ञान पूर्ण है। उससे भूल-चूक होने का प्रश्न ही नहीं, वह सदा एक प्रकार से ही कार्य किया करता है। अतः परमेश्वर के कार्य में सुधार, संशोधन इत्यादि के लिये अवकाश नहीं होता। सृष्टि के आदि में जैसे वेदज्ञान प्रकाशित हुआ, जैसे सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, वनस्पति आदि बने, वे सब अपने में त्रुटिरहित हैं और हर सृष्टि में इसी प्रकार परमेश्वर सृष्टि का निर्माण करते रहते हैं।

कुछ मत-पन्थ वालों का यह विचार है कि प्रभु के आदेश से ही सारी सृष्टि एक साथ ही हो जाती है। किन्तु स्वामीजी वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि "परमेश्वर प्रकृति के उपादान से सारे संसार की सृष्टि क्रमशः करते हैं। सर्वप्रथम आकाश, आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथ्वी, पृथ्वी के पश्चात् ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् मनुष्य उत्पन्न होता है। यह सृष्टि निर्माण का क्रम है। कहीं-कहीं सृष्टि के निर्माण-क्रम में अग्नि से, कहीं जल से सृष्टि का आरम्भ होना बताया गया है। स्वामीजी कहते हैं कि जब महाप्रलय होता है तब पूर्वोक्त आकाशादि क्रम से सृष्टि होती है। जब आकाश, और वायु का प्रलय नहीं होता तब अग्नि आदि के क्रम से और जब अग्नि का भी प्रलय नहीं होता तब जल आदि क्रम से सृष्टि होती है। "अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है, वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।" पृ० 344

खण्ड प्रल... ...
...

षड्दर्शनों में अविरोध :

स्वामी शङ्कराचार्य प्रतिपादित अद्वैतवाद के प्रचार से तथा उनके

वेदान्त आदि प्रस्थानत्रयी के भाष्य के प्रचार से भारतवर्ष में पण्डितों की यह धारणा बन गई कि छहों दर्शनों में परस्पर विरोध है। स्वामी दयानन्द षड्दर्शनों में अविरोध और सामञ्जस्य मानते हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति के प्रसंग में स्वामीजी ने भारतीय ऋषियों के चिन्तन के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह लिखी है कि सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में भारतवर्ष के न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि छहों दर्शनों में कोई विरोध नहीं, अपितु सामञ्जस्य है। स्वामीजी लिखते हैं कि मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में समय, न्याय में उपादान कारण, योग में विद्याज्ञान, सांख्य में तत्त्वों का मेल, वेदान्त में बनाने वाला कर्त्ता, इन सबका वर्णन है :

"इसलिए सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलकर एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें वैसे ही सृष्टि रूप कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।" पृ० 344

ऋषि ने **सृष्टि-रचनाक्रम** को बहुत विस्तार से दिखाया है। निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है :

"जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्त्व और जो उससे कुछ सूक्ष्म होता है उसका नाम अहङ्कार और अहङ्कार से भिन्न-भिन्न पाँच सूक्ष्म भूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, ये पाँच कर्म-इन्द्रियाँ हैं और ग्यारहवाँ मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है और उन पञ्च तन्मात्राओं से अनेक स्थूल अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पाँच स्थूल भूत, जिनको हमलोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की

ओषधियाँ, वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है। परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती, क्योंकि जब परमात्मा स्त्री-पुरुषों के शरीर बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।''

पृ० 346-347

सृष्टि की आदि में परमेश्वर ने स्त्री-पुरुषों को युवावस्था में उत्पन्न किया। सृष्टिप्रवाह से अनादि है, जैसे रात के पश्चात् दिन और दिन के पश्चात् रात होते हैं, उसी प्रकार सृष्टि के पश्चात् प्रलय और प्रलय के पश्चात् सृष्टि अनादि काल से चल रहा है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं।

एक प्रश्न होता है कि परमेश्वर ने भिन्न-भिन्न जीवों को विभिन्न योनियों में क्यों जन्म दिया ? कोई सिंह, सर्प आदि क्रूर पशु, कोई हरिण, गाय आदि, किन्हीं को कृमि, कीट, पतंग आदि की योनि मिली, ऐसा क्यों ? क्या यह परमात्मा का पक्षपात नहीं है ? स्वामीजी का सुस्पष्ट उत्तर है कि इसमें परमात्मा का पक्षपात नहीं है, क्योंकि जिस जीव ने पूर्व सृष्टि में जैसा कर्म किया था उसको उसीके अनुरूप कर्मानुसार व्यवस्था करके उसकी योनि दे दी गयी है।

मानव की आदि सृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई थी। मनुष्य की एक ही जाति थी। उनमें अच्छे श्रेष्ठ लोगों का नाम आर्य और दुष्ट लोगों का नाम दस्यु था। वहीं से (त्रिविष्टप से) आर्य लोग भारतवर्ष में आये। स्वामीजी बहुत सुस्पष्ट कहते हैं :

"इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे, क्योंकि आर्य लोग सृष्टि की आदि में तिब्बत से सीधे इसी देश में आकर बसे थे।" पृ० 351

इस प्रकार यह कहना कि आर्य लोग ईरान और कहीं अन्यत्र से आकर यहाँ के आदिवासियों से लड़े, यह सब मिथ्या धारणा है। आर्यों ने आर्यावर्त देश बसाया। मनुस्मृति के आधार पर स्वामीजी ने आर्यावर्त की सीमा निम्न प्रकार लिखी है :

"हिमालय को मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको आर्यावर्त इसलिये कहते हैं कि यह आर्यावर्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया। और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त कहाया है।" पृ० 351

यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर के पास जो विन्ध्याचल है वह भारत की प्राचीन परम्परा में विन्ध्याचल नहीं है। बाल्मीकि रामायण में बहुत सुस्पष्ट लिखा है कि समुद्र के तटवर्ती पर्वत विन्ध्य पर्वत कहलाते थे।[1] इसीलिये स्वामीजी ने आर्यावर्त की सीमा रामेश्वर पर्यन्त मानी है।

स्वामीजी ने लिखा है कि "इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पाण्डव तक सर्व भूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों का थोड़ा-थोड़ा प्रचार आर्यावर्त से भिन्न देशों में भी रहा।" पृ० 353

"अब अभाग्योदय से, आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है।" पृ० 354

स्वामीजी परतन्त्रता से कितने दुःखी थे और स्वराज्य की महत्ता के कितने समर्थक थे, यह द्रष्टव्य है :

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मातान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्नभिन्न भाषा, पृथक्-

1. बाल्मीकि रामायण किष्किन्धा काण्ड सर्ग 60 श्लो० 7

पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है, बिना इसके छूटे परस्पर का उपकार और परस्पर का अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।" पृ० 354

स्वामीजी ने सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, एक अरब, छानवे करोड़, कई सहस्र वर्ष का समय व्यतीत हुआ माना है। इसका विस्तृत विवेचन स्वामीजी के अद्वितीय ग्रन्थ 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में हुआ है। पृथिवी, सूर्य आदि ग्रह, उपग्रह और समस्त ब्रह्माण्ड को ईश्वर ने धारण किया है। पृथिवी, शेष, सर्प या बैल के सींग पर है, यह सब मिथ्या धारणा है। पृथिवी सूर्य के चारों ओर भ्रमण करती है और सूर्य अपनी धुरी पर घूमता रहता है। यह सब स्वामीजी ने वेदमन्त्रों के प्रमाण के आधार पर लिखा है। आज से एक सौ वर्षों से भी अधिक पूर्व ये सब चौंकाने वाली बातें थीं, किन्तु स्वामीजी वेदमन्त्रों के आधार पर ज्ञान-विज्ञान, भूगोल-खगोल की बड़ी ऊँची-ऊँची बातें भी लिख गये हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे इत्यादि सब वसु इसलिये कहलाते हैं कि ये ही सब प्राणियों को बसाते हैं। स्वामीजी के अनुसार लोक-लोकान्तरों में प्राणियों के निवास की सम्भावना है और उनमें किञ्चित् आकृति भेद होना भी सम्भव है, किन्तु विज्ञान के जो नियम इस सृष्टि में हैं वैसे ही सब सृष्टियों और सभी ब्रह्माण्डों में सम्भव हैं। परमेश्वर का ज्ञान पूर्ण है, उसके नियम पूर्ण हैं, उसकी सृष्टि पूर्ण है, अतः इसमें किसी परिवर्तन, परिवर्द्धन और सुधार की आवश्यकता नहीं पड़ती।

परमेश्वर प्रकृति के उपादान से जीवों के सुख और कल्याण के लिये संसार का निर्माण करता है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, संसार की सृष्टि, पालन और प्रलय करने में समर्थ है। और अनादि काल से प्रवाहरूप में सृष्टि, स्थिति, प्रलय का क्रम चलता चल रहा है। यह सृष्टि और प्रलय का चक्र एक ही प्रकार से सदा से चला आ रहा है और इसी प्रकार सदा चलता रहेगा।

नवम समुल्लास

अष्टम समुल्लास में सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय और स्थिति की व्यवस्था बताकर अब स्वामीजी नवम समुल्लास में **विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष** इन विषयों की व्याख्या कर रहे हैं। बन्ध और मोक्ष दो मूल समस्याएँ हैं।

जब जीव जन्म-मरण के चक्र में फँसता है तो यह बन्ध या बन्धन, जीवन-मरण का बन्धन है। जब जन्म-मरण से छुटकारा पा जाता है तो यह जीव का मोक्ष है, जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति है। बन्ध और मोक्ष क्या हैं, इनका क्या स्वरूप है ? इसका क्या कारण है ? स्वाभाविक है या नैमित्तिक है ? इत्यादि कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं और इन प्रश्नों के समाधान में अनेक सम्प्रदायों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें बना रखी हैं। बन्धन तो सभी शरीरधारी जीवों का है ही, मोक्ष कैसे होगा, इस सम्बन्ध में हिन्दुओं में गंगाजल और चरणामृत से आरम्भ करके सामाधि तक इतने उपाय बताये गये हैं कि उन्हें गिनना आसान नहीं। मुसलमान और ईसाई भी मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग-नरक की कल्पना किसी न किसी रूप में करते ही हैं। हिन्दुओं में समानरूप से लोग यह कहते हैं कि मोक्ष हो जाने पर फिर जीवात्मा इस संसार में जन्म लेने नहीं आता, अर्थात् मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं होती। किन्तु वेद का सिद्धान्त इससे पृथक् है। वहाँ मोक्ष से पुनरावृत्ति का ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

समुल्लास के आरम्भ में, स्वामीजी विद्या क्या है और अविद्या क्या है, इस प्रश्न को उठाते हैं। यजुर्वेद के 40वें अध्याय में एक मन्त्र आता है जिसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य विद्या और अविद्या दोनों को साथ-साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को तरकर विद्या के द्वारा अमृत को प्राप्त कर लेता है। स्वामीजी ने यहाँ अविद्या में नञ् समास, न विद्या अविद्या, विद्या से भिन्न किन्तु विद्या सदृश अर्थात् कर्मोपासना अर्थ किया है। "अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।" पृष्ठ 362. यहाँ 'प्रसङ्ग

प्रतिषेध' मात्र नहीं, अपितु 'पर्युदास' तद्भिन्न तत्सदृश है।[1]

स्वामीजी ने अविद्या का अर्थ जो यहाँ किया है वह सर्वसाधारण के लिये अजीब सा लगेगा, क्योंकि लोग अविद्या का अर्थ मूर्खता, नासमझी समझते हैं। इसलिये स्वामीजी ने अविद्या का योगदर्शन के अनुसार इस अर्थ में भी लक्षण लिखा है—"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"[2] अनित्य को नित्य समझना, अशुचि को शुचि समझना, दुःख में सुख समझना और अनात्मा में आत्मा समझना, यह अविद्या है। "इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख और सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है।" पृ० 363

स्वामीजी ने कर्म और उपासना को अविद्या में व्याख्यात करने का कारण निम्न प्रकार लिखा है :

> "कर्म और उपासना अविद्या इसलिये हैं कि यह बाह्य और अन्तर क्रियाविषेश का नाम है, ज्ञान विशेष का नहीं। इसीसे मन्त्र में कहा है कि बिना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं होता।" पृ० 363

अब मुक्ति का क्या साधना है, इस सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं :

> "कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म, उपासना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिये धर्मयुक्त सत्य भाषणादि करना और मिथ्या भाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।" पृ० 364

स्वामी शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के रूप में नवीन वेदान्त का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार जीव ब्रह्म ही है, और वह न जन्म लेता, न बन्धन में आता, न कुछ साधना करने वाला, न मोक्ष की

1. द्रष्टव्य रा० क० ट्र० सत्यार्थप्रकाश सं० पण्डितप्रवर युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी।
2. योगदर्शन, साधनपाद, सू० 5

इच्छा करने वाला है, क्योंकि अद्वैतवाद के अनुसार जीव का जीवरूप में शरीर-धारण एक व्यावहारिक बात है, पारमार्थिक नहीं। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि यह सत्य सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि जीव का स्वरूप अल्पज्ञ है, वह शरीर धारण करके जन्म लेता है, अपने कर्मफल के अनुसार बन्धनों में पड़ता है और फिर छुड़ाने की साधना करके दुःखों से छूटकर मोक्ष को प्राप्त होकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होता है और मुक्ति का सुख भोगता है।

जो लोग मुक्ति को नित्य मानते हैं, उनके लिये स्वामीजी का सुस्पष्ट कहना है कि बन्ध और मोक्ष दोनों ही नैमित्तिक हैं, निमित्त से होते हैं—"क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती।" पृष्ठ 364

नवीन-वेदान्ती पाप-पुण्यरूप कर्म को देह और अन्तःकरण का कार्य मानते हैं, क्योंकि जीव तो, उनके सिद्धान्त में, पाप-पुण्य से रहित साक्षी मात्र है। स्वामीजी इन सब सिद्धान्तों को असत्य बताते हैं। मन, अन्तःकरण, देह सभी तो जड़ हैं। इनके सहारे से जीवात्मा सुख-दुःख भोगता है किन्तु :

> "अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला जीव दण्ड और मान्य का भागी होता है। जैसे तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है, तलवार नहीं होती, वैसे ही देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं किन्तु कर्त्ता-भोक्ता है। कर्मों का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है।" पृष्ठ 365-366

नवीन-वेदान्तियों का एक सिद्धान्त है कि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण में छाया पड़ती है और प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है किन्तु दर्पण के टूटने फूटने से प्रतिबिम्ब का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

इसी प्रकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जबतक अन्तःकरण में पड़ता है तबतक अन्तःकरण की उपाधि से युक्त ब्रह्म ही जीव है। जब अन्तःकरण नष्ट को गया तब जीव भी मुक्त हो गया। स्वामीजी ने नवीन वेदान्तियों के इस सिद्धान्त को भी अशुद्ध अपसिद्धान्त बताया है, क्योंकि—"प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है" किन्तु ब्रह्म निराकार है, सर्वव्यापक है, अतः उसके प्रतिबिम्ब की बात करना ठीक नहीं। वेदान्ती लोग चिदाभास—अन्तःकरण में परमात्मा के आभास की बात करते हैं, यह सब भी बालबुद्धि ही है। स्वामीजी ने अद्वैतवाद के जीव-ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्तों की समालोचना बड़े विस्तार से की है। वेदान्ती लोग "ब्रह्म वस्तु में सब जगत् और इसके व्यवहार का अध्यारोप करने से जिज्ञासु को बोध कराना होता है; वास्तव में सब ब्रह्म ही हैं" ऐसा कहते हैं; किन्तु अध्यारोप के इस सिद्धान्त से सत्यस्वरूप, सत्यकाम, सत्यसंकल्प परमात्मा अध्यारोप में पड़कर मिथ्यावादी हो जाता है। इस प्रकार अध्यारोप का यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं।

मुक्ति का अर्थ दुःख से छूटकर, सुख को प्राप्त होकर परमात्मा में विचरण करना है। किन कारणों से मुक्ति और किन कारणों से बन्धन होता है, इस सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं :

> परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित, न्याय-धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित, न्याय धर्मानुसार ही करे, इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि काम से बन्ध होता है।" पृष्ठ 370

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा का

परमात्मा में लय हो जाता है। स्वामीजी कहते हैं कि जीव पृथक् विद्यमान रहता है, उसका लय नहीं होता। जीव परमात्मा में ही विचरण करता है और बिना स्थूल शरीर इन्द्रियों के संकल्पमात्र से आनन्द भोगता है. किन्तु भौतिक संग नहीं रहता। मुक्त जीव के सामर्थ्य, मन आदि अन्तःकरण सूक्ष्म-शरीर आदि के सम्बन्ध में स्वामीजी ने बहुत विस्तार से विवेचन किया है और अन्त में लिखा है—"जो शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता, किन्तु सदा आनन्द में रहता है।" पृ० 374

मुक्ति से पुनरावृत्ति :

प्रायः लोगों का ध्यान है कि जीव जब एकबार मुक्त हो जाता है तब फिर जन्म-मरण के बन्धन में नहीं आता। अतः लोग यही समझते हैं कि मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती। स्वामीजी इस सिद्धान्त को वेद विरुद्ध मानते हैं। उन्होंने वेदमन्त्रों के प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि जीवात्मा मुक्ति का सुख भोगकर पुनः इस संसार में जन्म लेता है, माता-पिता के दर्शन करता है। ऐसा वर्णन ऋ० 1.24.1.2 में विद्यमान है।

एक बार जब यह सिद्धान्त हो गया कि मुक्ति के पश्चात् जीव पुनः जन्म लेता है, तो अगला स्वाभाविक प्रश्न स्वतः खड़ा हो जाता है कि मुक्तिकाल की अवधि कितनी है। स्वामीजी ने "मुण्डक उपनिषद्" का प्रमाण देकर यह बताया है कि मुक्तिकाल की अवधि "परान्त काल" तक है। स्वामीजी ने परान्त काल का गणित भी दिया है। पण्डित श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने परान्त काल की गणना 31 नील, 10 खरब, 40 अरब वर्षों की की है।[1]

मुक्ति से पुनरावृत्ति क्यों होगी, इस सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं :

"जीव का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है? अनन्त आनन्द को

1 रा० क० ट्र० शताब्दी संस्मरण पं० युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी पृ० 37/

भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल कभी नित्य नहीं हो सकता।" पृ० 377

कई लोग जीव को एक परिस्थिति विशेष में परमेश्वर के सदृश मानते हैं, किन्तु जीव कभी परमेश्वर के सदृश अनन्त सामर्थ्य, गुण-कर्म-स्वभाव वाला नहीं हो सकता। मुक्ति के लिये जीव को साधन चतुष्टय की अपेक्षा है। ये चार प्रकार के साधन विवेक, वैराग्य, षट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व हैं। विवेक सत्पुरुषों के सत्संग से, सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निश्चिय से होता है। शरीर के 5 कोष—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय हैं। शरीर की जागृत, स्वप्न, और सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन शरीर हैं।

विवेक :

इस प्रकार इन सबका ज्ञानबोध प्राप्त करके "पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण-स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना विवेक कहाता है।" पृ० 381

वैराग्य : "जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो, उसमें से असत्याचरण का त्याग करना वैराग्य है।" पृ० 381-382

षट्कसम्पत्ति में शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान इन छहों की गणना है।

मुमुक्षुत्व : जैसे क्षुधातृषातुर को सिवाय अन्न-जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे बिना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना। पृ० 382

'साधन-चतुष्टय' के पश्चात् 'अनुबन्ध-चतुष्टय' अधिकारी, सम्बन्ध, विषयी और प्रयोजन का वर्णन किया गया है। पुनः श्रवणचतुष्टय, मनन, निदिध्यासन साक्षात्कार का वर्णन किया है। पुनः मुक्ति कैसे प्राप्त हो, उसके अन्य साधनों का भी वर्णन स्वामीजी ने किया है।

आत्मा शरीर से पृथक् है। अविद्याआदि 5 क्लेशों से पृथक् होकर योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करने से जीवात्मा परमानन्द भोगता है।

कई लोग मुक्ति का स्वरूप अन्य प्रकार से मानते हैं। जैनी लोग मोक्षशिला, ईसाई लोग चौथा आसमान, मुसलमान सातवाँ आसमान, वाममार्गी श्रीपुर, शैव कैलाश, वैष्णव वैकुण्ठ और गोकुलीय गोसाईं गोलोक में मुक्ति मानते हैं। स्वामीजी इनकी मुक्ति विषयक मान्यताओं का खण्डन करते हैं और कहते हैं—"ये मुक्तियाँ नहीं हैं, किन्तु एक प्रकार का बन्धन है।" पृ० 386. वस्तुतः किसी स्थान विशेष में खाना-पीना, मौज-मस्ती करना या चुपचाप पड़े रहना, सब बन्धन ही तो हैं।

जीवात्मा को पूर्व जन्म का स्मरण नहीं रहता है, क्योंकि जीव अल्पज्ञ है। किन्तु परमेश्वर पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार जीव को फल देता है और जीवात्मा तदनुकूल सुख-दुःख प्राप्त करता है। जिसका जैसा कर्म होता है. ईश्वर के न्याय से उसको वैसा ही कर्मफल भोगने को मिलता है। जीवात्मा प्राणिमात्र में एक ही प्रकार का है। चाहे मनुष्य का शरीर हो या पशु आदि का हो। स्त्री हो या पुरुष जीवात्मा सब जगह समान है।

> "जब पाप बढ़ जाता है और पुण्य न्यून होता हैं तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर, और धर्म अधिक और अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता है। और जब पाप-पुण्य बराबर होता है, तब साधारण मनुष्य जन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीरादि सामग्री वाले होते हैं।" पृ० :90-391

अनेक जन्मों के प्रयत्न करने से जीवात्मा की अविद्या दूर होती है। और फिर वह मोक्ष को प्राप्त होता है, किन्तु मुक्ति के समय जीवात्मा परमेश्वर में लय नहीं हो जाता। जीवात्मा पृथक् और परमात्मा पृथक् रहता है और जीवात्मा मुक्ति का सुख भोगता है।

सुख-विशेष का नाम स्वर्ग और विषय तृष्णा में दुःख विशेष का भोग करना नरक है. स्वामीजी मनुस्मृति के आधार पर पाप-पुण्य की बड़ी विस्तृत व्याख्या करते हैं। पुनः जिस गुण से जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उसका भी मनुस्मृति के आधार पर बड़ा विस्तृत विवेचन करते हैं :

> "जो मनुष्य सात्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य और जो तमोगुण युक्त होते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं, जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं।" पृ० 398

इसी प्रकार विभिन्न योनियों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। मुक्ति की आकांक्षा रखने वालों को उचित है कि वह विभिन्न गुण-स्वभावों में न फँसकर चित्त की वृत्तियों का निरोध करे और—"**जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है।**" पृ० 400

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, इन तीन प्रकार के दुःखों से पृथक् होकर मुक्ति को प्राप्त करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार मुक्ति के साधनों की व्याख्या के साथ नवम समुल्लास समाप्त होता है।

दशम समुल्लास

दशम समुल्लास का विषय है आचार, अनाचार, भक्ष्य और अभक्ष्य विषयों की व्याख्या। स्वामीजी लिखते हैं : "**अथाचारानाचारभक्ष्याभक्ष्य विषयान् व्याख्यास्यामः।**"

आचार और अनाचार, भक्ष्य और अभक्ष्य आदि के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है। आचार और अनाचार की व्याख्या दशम समुल्लास के आरम्भिक शब्दों में ही स्वामीजी ने इस प्रकार की है :

> "धर्मयुक्त कामों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का

सत्संग और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि आचार और इनसे विपरीत अनाचार कहाता है।" पृ० 401

आचार की बहुत विस्तृत व्याख्या करते हुए स्वामीजी लिखते हैं :

"इसलिए सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शंका, लज्जा जिसमें न हो, उन कर्मों का सेवन करना उचित है।" पृ० 402

श्रुति अर्थात् वेद और स्मृति को धर्मशास्त्र कहते हैं। इन्हींके उपदेशों के अनुसार मनुष्य को अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य निर्णय करना चाहिए। मनुष्य को वेदों के अनुकूल चलना चाहिए और वेद तथा आप्त ग्रन्थों का कभी अपमान या तिरस्कार नहीं करना चाहिए। वेदों की निन्दा करने वाला नास्तिक होता है। "मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करे। ....इनको अपने वश में करके अधर्म मार्ग से हटा के धर्म मार्ग में सदा चलाया करे।" पृ० 405 इसलिए आचार का लक्षण है—"**आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च** अर्थात् जो सत्य भाषणादि कर्मों का आचरण करना है वही वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार है।" पृ० 407 स्वामीजी लिखते हैं :

"जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो, वह-वह कर्म करना और हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली आदि दुष्ट मनुष्यों का संग न करे। आप्त जो सत्यवादी, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय जन हैं, उनका सदा संग करने ही का नाम श्रेष्ठाचार है।" पृ० 407

विदेश यात्रा और आचार धर्म :

20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही नहीं बल्कि 20वीं शताब्दी के आरम्भ में भी धर्मभीरु लोगों का यह विचार था कि विदेश यात्रा करने,

समुद्र पार करने तथा अन्य धर्मस्थ लोगों और विशेषकर विदेशियों के सम्पर्क से आर्यों का, हिन्दुओं का आचार नष्ट हो जाता है। स्वामीजी ने इस भ्रम को दूर किया और बताया कि पवित्रता, सदाचार, सत्यभाषणादि जहाँ कहीं भी किये जायेंगे वहीं सदाचार रहेगा। आर्यावर्त में रहकर भी दुष्टाचारी लोग होते ही हैं। स्वामीजी ने महाभारत शान्तिपर्व का प्रमाण देकर बताया कि भारतवर्ष के लोगों का अमेरिका आदि देशों से आना-जाना था। योरोप के साथ भी आवागमन का सम्पर्क था। अर्जुन और कृष्ण "अश्वतरी" अग्नियान में बैठकर पाताल से उद्दालक ऋषि को लाये थे। आर्यों का विदेशों में आना-जाना ही नहीं था बल्कि विवाह आदि सम्बन्ध भी विदेशों में होता था। धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार में हुआ था। पाण्डु का विवाह ईरान में हुआ था। अर्जुन का विवाह अमेरिका में हुआ था। अतः आर्यलोग देश-देशान्तरों में आते-जाते थे, विदेशों से व्यापार करते थे और वैवाहिक सम्बन्ध भी रखते थे। स्वामीजी लिखते हैं :

> "जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है। जो मनुष्य देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में जाने-आने में शंका नहीं करते वे देश-देशान्तर के अनेक विज्ञ मनुष्यों के समागम, रीति-नीति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय, शूरवीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण और बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।" पृ० 409

इस प्रसंग में स्वामीजी सावधान करते हैं कि चाहे देश में हो या विदेश में, मांस-भक्षण और मद्यपान नहीं करना चाहिये। इससे शरीर और वीर्यादि में दुर्गन्ध आने से हानि होती है, परन्तु विदेशियों में जो अच्छी बातें हैं उन्हें ग्रहण करने में कोई दोष नहीं। विदेशियों को स्पर्श करने या देखने से पाप लगता है, यह नासमझी की बातें हैं। स्वामीजी बहुत बलपूर्वक देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में व्यवसाय आदि बढ़ाकर स्वदेश की उन्नति करने का समर्थन करते हैं।

इसी प्रकार भोजन-छाजन में भी छूतछात की बातों को समझना चाहिए। मद्य-मांस आदि का त्याग तथा सदाचार का पालन करने से देश में रहे या विदेश में, कोई चिन्ता नहीं। यहाँ तक कि क्षत्रियों के लिये स्वामीजी लिखते हैं :

> "किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है।" पृ० 41।

चौका-चूल्हा का स्वामीजी ने कड़ा विरोध किया है :

> "इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते, सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। ....परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त्त देशभर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है।" पृ० 41।

स्वामीजी भोजनशाला की पवित्रता, स्वच्छता का पूरा समर्थन करते हैं. किन्तु सखरी, निखरी, कच्चा, पक्का, सब धूर्तों का चलाया हुआ पाखण्ड बताते हैं। भोजन बनाने का काम भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को नहीं करना चाहिये। भोजन बनाना सेवा का कार्य है और उसे शूद्र से ही कराना चाहिये। स्वामीजी ने "आपस्तम्ब" धर्मसूत्र का प्रमाण दिया है। "**आर्याधिष्ठाता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः**" किन्तु शूद्र का अर्थ अपवित्र, त्याज्य, गन्दा, मैले कपड़े पहिनने वाला आदि नहीं है। भोजन बनाने वाले के शरीर और वस्त्र आदि पवित्र और स्वच्छ रहने चाहिये। स्वामीजी लिखते हैं कि चीनी आदि के बनाने में शूद्र, मुसलमान, पुराने जूते आदि सबका सम्पर्क होता है। आँटा पीसने के समय उसमें पसीना भी टपक जाता है। इन सब कामों में शूद्र का परहेज नहीं करते, केवल भोजन बनाने में शूद्र का विचार करना केवल पाखण्ड है। केवल खाना-पीना या छूतछात का

सुधार होने से ही देश और जाति का कल्याण नहीं होगा—"जबतक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख न मानें, तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है।" पृ० 414

पराधीनता का कुपरिणाम :

देश की अवनति के पीछे स्वामीजी राजनीतिक पराधीनता को बड़ा भारी कारण मानते हैं। स्वामीजी लिखते हैं :

> "विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि कर्म हैं, जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है..........आपस की फूट से कौरव-पाण्डवों और यादवों का सत्यानाश हो गया। परन्तु अबतक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक, नीच के दुष्ट-मार्ग में आर्य लोग अबतक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।" पृष्ठ 414-415

पृ. 223 में पुन:

भक्ष्य और अभक्ष्य :

स्वामीजी ने दो प्रकार के भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थों का वर्णन किया है। क्या अभक्ष्य है और क्या भक्ष्य है, इसका एक विचार तो धर्मशास्त्र की दृष्टि से किया गया है, दूसरा वैद्यक शास्त्र की दृष्टि से। धर्मशास्त्र की दृष्टि से मद्य, गाँजा, भाँग, अफीम आदि नशीले पदार्थ मलिन स्थानों में बिष्ठा, मूत्र आदि के संसर्ग से उत्पन्न शाक, फल आदि अभक्ष्य हैं। मांस सड़े-बिगड़े दुर्गन्धादि से दूषित पदार्थ अखाद्य हैं। मांस-भक्षण से उपकारी पशुओं की हिंसा होती है। गाय, बकरी,

बैल आदि पशु मनुष्य के लिये बहुत उपकारी हैं। स्वामीजी ने हिसाब लगाकर लिखा है—"जैसे एक गाय के शरीर से दूध, घी, बैल, गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में 4 लाख 75 सहस्र 600 मनुष्यों को सुख पहुँचता है वैसे पशुओं को न मारें, न मारने दें।" पृष्ठ 415.

इसी प्रकार स्वामीजी लिखते हैं—"बकरी के दूध से 25920 आदमियों का पालन होता है। वैसे हाथी, घोड़े, उँट, भेंड़, गदहे आदि से भी बड़े उपकार होते है। इन पशुओं को मारने वालों को सब मनुष्यों की हत्या करने वाला जानियेगा।" पृ० 417

स्वामीजी ने सुस्पष्ट लिखा है कि आर्यों के राज्य में ये महोपकारक पशु गाय आदि नहीं मारे जाते थे। तभी उस समय आर्यावर्त में बड़ा आनन्द था। विदेशियों के आनें के पश्चात् इन उपकारी पशुओं की हत्या बढ़ी और देश में सब प्रकार दुःख की बढ़ती होती गयी।

धर्म शास्त्रों की दृष्टि से—"जितना हिंसा, चोरी और विश्वासघात, छल, कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह अभक्ष्य और अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है।"

पृ० 418

वैद्यक शास्त्र की दृष्टि से जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, बुद्धि, बल, पराक्रम और आयु की वृद्धि हो और रोगों का नाश हो उन तण्डुलादि, गोधूम, फल, मूल, कन्द, घी, दूध का सेवन भक्ष्य है और जो पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध विकार करने वाले हैं, वे सब अभक्ष्य हैं।

कई बार कई लोग एक साथ, एक थाली में ही खाते हैं। स्वामीजी कहते हैं कि इस प्रकार दूसरे के साथ खाने में कुछ बिगाड़ ही होता है, सुधार नहीं। किसी को जूठा नहीं खिलाना चाहिये। स्त्री-पुरुष भी एक-दूसरे का उच्छिष्ट न खाँय। गाय के गोबर और मिट्टी आदि से जिस स्थान का लेपन करते हैं, वह स्थान साफ सुन्दर हो जाता है। इसलिए पाकशाला आदि की यथायोग्य स्वच्छता प्रति दिन करनी चाहिए।

ब्राह्मण आदि वर्णों को भोजन बनाने, चौका देने, बर्तन-भाँड़े माजने आदि में नहीं पड़ना चाहिए। इन्हें तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि में सब प्रकार से लगा रहना चाहिए। स्वामीजी महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की घटना का उल्लेख करते हैं कि उस समय एक ही पाक-शाला में सब लोग भोजन करते थे। काबुल, कन्धार, ईरान, अमेरिका, योरोप आदि देशों से भी लोग आये थे और सब एक ही चौके में पका भोजन करते थे। इससे सुख ही बढ़ता है—"अब तो बहुत-से मत वाले होने से बहुत-सा दुःख और विरोध बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है।" पृ० 423

इस समुल्लास के साथ ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध का समापन होता है और इसी के साथ स्वामीजी परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं :

> "**परमात्मा सबके मन में सत्यमत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हो।** इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधभाव छोड़ के आनन्द को बढ़ावें।" पृ० 423

उत्तरार्द्ध

उत्तरार्द्ध के पूर्व निवेदन :

स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश सम्पूर्ण ग्रन्थ को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभाजित किया है। पूर्वार्द्ध में 10 समुल्लास हैं और उत्तरार्द्ध में 4 समुल्लास हैं। उन्होंने पूर्वार्द्ध के समुल्लासों में विधेयात्मक सत्यशिक्षा और मानव-मन्तव्यों का उपदेश किया है। इन 10 समुल्लासों में खण्डन या निषेध-पक्ष का अधिक वर्णन नहीं है। उत्तरार्द्ध में विशेष रूप से खण्डन-मण्डन विषय का वर्णन है। 11वें समुल्लास में आर्यावर्त देश के मत-मतान्तरों का खण्डन-मण्डन है। 12वें समुल्लास में जैनियों के, 13वें समुल्लास में ईसाइयों के और 14वें समुल्लास में मुसलमानों के मन्तव्यामन्तव्य का खण्डन-मण्डन है। सबके पीछे ग्रन्थ के अन्त में

स्वामीजी ने वेदशास्त्र प्रतिपादित अपने मत को "**स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश**" शीर्षक से लिखा है। उत्तरार्द्ध आरम्भ करने से पूर्व स्वामीजी का अपने पाठकों से यही निवेदन हैं :

"विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं। पृ० 424

स्वामीजी ने बड़े विश्वास के साथ यह लिखा है :

"इन 14 समुल्लासों को पक्षपात छोड़ न्यायदृष्टि से जो देखेगा उसको आत्मा में सत्य अर्थ का प्रकाश होकर आनन्द होगा और जो हठ, दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे-सुनेगा उसको इस ग्रन्थ का अभिप्राय यथार्थ विदित होना बहुत कठिन है।"

पृ० 423-424

अनुभूमिका : I

सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध के चारों समुल्लासों में स्वामीजी ने चार अनुभूमिकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार 11वें समुल्लास के आरम्भ में ही प्रथम अनुभूमिका लिखी है। उनका सुस्पष्ट मन्तव्य है कि "**पाँच सहस्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था।**" पृ० 425

महाभारत युद्ध से भारत में इतना ह्रास हुआ कि सारे भूगोल में अविद्या का अन्धकार फैलने लगा। इस अन्धकार के विस्तार के फलस्वरूप संसार में मत-मतान्तरों का जन्म हुआ। सभी मत-मतान्तरों के मूल में पुराणी, जैनी, किरानी (ईसाई) और कुरानी, ये चार मत हैं। धीमे-धीमे इन मतों की शाखाएँ एक सहस्र से कम न होंगी। इन मतवादियों के मत और अन्य मतवादियों के विचारों को जानकर सत्यासत्य का निर्णय करने में सुविधा हो सके, इसलिए स्वामीजी ने "सत्यार्थप्रकाश" ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध लिखा है।

स्वामीजी ने बड़ी नम्रता, सरलता और सहज भाव से निवेदन किया है :

> "जो-जो इसमें सत्य मत का मण्डन और असत्य मत का खण्डन लिखा है, वह सबको जनाना ही प्रयोजन समझा गया है। इसमें मेरी जैसी बुद्धि, जितनी विद्या और जितना इन चारों मतों के मूल-ग्रन्थ देखने से बोध हुआ है, उसको सबके आगे निवेदन कर देना मैंने उत्तम समझा है।" पृ० 425

अनुभूमिका का यह निवेदन सरलता, नम्रता और सत्यता की पराकाष्ठा पर है। अपनी विद्या-बुद्धि का लेशमात्र भी अहङ्कार नहीं और एक सामान्य उद्देश्य यही है कि संसार के विद्वानों को सत्यासत्य का निर्णय हो सके। एकादश समुल्लास में पुराण आदि ग्रन्थों के गुण-दोषों की समीक्षा की गयी है। इस समीक्षा के पीछे किसी के प्रति विरोध भाव नहीं है, केवलमात्र सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का आग्रह है। मनुष्य जन्म की सार्थकता सत्य-असत्य के निर्णय करने में है, वाद-विवाद या विरोध करने-कराने में नहीं। स्वामीजी मनुष्य के स्वभाव की उत्तमता पर बड़ा भरोसा रखते हैं। अनेकों जगह उन्होंने यह लिखा है कि विद्वान् की विद्या की सार्थकता इसी बात में है कि वह ईर्ष्या-द्वेष से रहित होकर सत्यासत्य के निर्णय में तत्पर हो जाय। स्वामीजी ने अपने विश्वास को इस रूप में लिखा है :

> "यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन मत वाले विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध-जाल में फँसा रखा है।" पृ० 426

अनुभूमिका समाप्त करते हुए स्वामीजी परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं—"**सर्व शक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों की आत्माओं में प्रकाशित करें।**" पृ० 426

एकादश समुल्लास

एकादश समुल्लास का शीर्षक स्वामीजी ने निम्न प्रकार से लिखा है : **अथार्य्यावर्त्तीय मतखण्डनमण्डने विधास्यामः**" आर्यावर्त्तीय मत-मतान्तरों के खण्डन-मण्डन की बात आरम्भ करने से पूर्व स्वामीजी एक परम राष्ट्रभक्त, भारतभक्त के रूप में प्रकट होते हैं। जिस समय यह ग्रन्थ लिखा गया था उस समय ईसाई और मुसल्मान दोनों भारतवर्ष देश, यहाँ के इतिहास और जीवन-मूल्यों का उपहास करते थे, इस देश की निन्दा करते थे। यहाँ के महापुरुषों को असभ्य कहते थे। इन सबका आशय यह था कि भारतवासियों के हृदय में स्वाभिमान की भावना का उदय न हो सके। अपने इतिहास और अपनी मान्यताओं के प्रति आदर का भाव राष्ट्रीयता और देशभक्ति का आधारस्तम्भ है और इसी स्वाभिमान को नष्ट करने में अंग्रेज और उनकी व्यवस्था में सञ्चालित शिक्षा और मिशनरी-प्रचारक आदि सभी लगे हुए थे। भारतवासियों को इसी भावना के अनुकूल इतिहास पढ़ाया जाता था। अतः स्वामीजी को जहाँ कहीं भी अवसर मिला है, उन्होंने भारत के गौरवमय इतिहास के स्वर्णिम प्रसङ्ग को उजागर किया है। स्वामीजी इस देश का नाम सुवर्ण भूमि कहते हैं। वे भारतवर्ष की पारस-मणि पत्थर के साथ तुलना करते हैं—"जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।" पृ० 427

भारतवर्ष की यह उन्नति महाभारत काल तक रही और तब तक भारतवर्ष सारे संसार में चक्रवर्ती राजा के रूप में अग्रगण्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध के कारण सब नष्ट-भ्रष्ट हो गया। स्वामीजी भारतवर्ष की अवनति को निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं :

> "क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्याय-कारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है, तब आलस्य, पुरुषार्थ रहितता,

ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या, सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं, जैसे कि मद्य-मांस सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचार आदि दोष बढ़ जाते हैं।" पृष्ठ 429

इन्हीं कारणों से महाभारत काल से ही भारत देश का पतन आरम्भ हो गया।

भारतवर्ष में आग्नेयादि अस्त्र :

स्वामीजी ने भारतवर्ष के प्राचीनकाल के गौरव को बड़े प्रयास से उजागर किया है। उनकी मान्यता है कि प्राचीन भारत विज्ञान, कला-कौशल, भूगोल, खगोल, गणित आदि की दृष्टि से बहुत उन्नत था। इसी सिलसिले में वे लिखते हैं कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में आग्नेय अस्त्र, तोप, बन्दूक आदि अस्त्र थे। इनमें कोई जादू-टोना या झाड़-फूँक जैसे मन्त्रादि का अन्धविश्वास न होकर केवल विज्ञान था। आग्नेयास्त्र से अग्नि जल उठती थी, वरुणास्त्र से पानी बरस जाता था, नागफाँस सबके अंग जकड़ लेता था, मोहनास्त्र से सेना निद्रास्थ—मूर्च्छित हो जाती थी। इसी प्रकार पाशुपतास्त्र भी था।

स्वामीजी की सुस्पष्ट मान्यता है कि भारतवर्ष ने सारे संसार को विद्या पढ़ायी। स्वामीजी लिखते हैं :

"जितनी विद्या भूगोल में फैली है वह सब आर्यावर्त्त देश से मिस्रवालों, उनसे यूनानी, उनसे रोम और उनसे योरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।" पृष्ठ 431

स्वामीजी का सुनिश्चित मत है कि अभी भी भारतवर्ष में संस्कृत विद्या का बहुत प्रचार है। उस समय कई लोगों को धारणा बन गई थी कि संस्कृत का प्रचार योरोप में, विषेशतः जर्मनी में बहुत अधिक है और मैक्समूलर साहब संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् हैं। स्वामीजी अपनी जानकारी के आधार पर लिखते हैं कि यह सब कहने की बातें हैं। योरोप वाले बहुत थोड़ी संस्कृत जानते हैं। विद्या का प्रचार भारतवर्ष

से ही हुआ है ऐसा फ्रान्स के गोल्डस्टर और दाराशिकोह आदि ने स्वीकार किया है। खगोल विद्या का प्रमाण काशी के मानमन्दिर आदि में मिलता है। वस्तुतः महाभारत युद्ध से पूर्व भारतवर्ष देश संसार का शिरोमणि देश था। किन्तु महाभारत के युद्ध ने, भाई-भाई के युद्ध ने, सम्पूर्ण देशका विनाश कर दिया :

> "जब बड़े-बड़े विद्वान् राजा-महाराजा. ऋषि-महर्षि लोग महाभारत युद्ध में बहुत-से मारे गये और बहुत-से मर गये तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला।" पृ० 434

इस प्रकार सम्पूर्ण संसार पर चक्रवर्ती राज्य की तो कथा ही क्या, भारतवर्ष में ही कोई चक्रवर्ती राजा न रह गया और माण्डलिक राज्य, ईर्ष्या-द्वेष, विद्याहीन ब्राह्मण, इन्हीं सबका बोल-बाला हो गया। इस पतन के युग में ब्राह्मणों ने अपनी महिमा बढ़ा ली—"ब्रह्म वाक्यम् जनार्दनः" जो कुछ ब्राह्मण कहे वह जानो भगवान् का वचन है और "ब्रह्मद्वेषी विनश्यति" ब्राह्मण से द्वेष करने वालों का नाश हो जाता है। ब्राह्मण शाप दे देंगे तो सबका नाश हो जायगा, इत्यादि बातों का प्रचार होने लगा और नामधारी ब्राह्मणों की महिमा बढ़ जाने से पाखण्डों का प्रचार बढ़ गया। ईसाई, मुसलमानों की तरह ब्राह्मण भी स्वर्ग का सौदा करने लगे और यहाँ लोगों से दान लेकर स्वर्ग में रुपया, वस्तु, मकान आदि लौटाने का वादा करने लगे। इस प्रकार छल-कपट, पोपलीला का बहुत अधिक प्रचार होने लगा। स्वामीजी ने इस पोपलीला का बड़ा कठोर खण्डन किया है और पाखण्डी लोगों की पोप-लीला को जनता के सामने बहुत खोल कर प्रकट किया है।

स्वामीजी ने वेदशास्त्रों के आधार पर यह बताया कि ब्राह्मण हो या साधु, वे गुण-कर्म-स्वभाव से ही ब्राह्मण या साधु होते हैं, जन्म से नहीं। उत्तम ब्राह्मणों ने वेदादि सत्य शास्त्रों को कण्ठस्थ करके जैन. बौद्ध, मुसलमान, ईसाई आदि के जाल से बचाकर रखा। इस प्रकार वेदादि सत्य शास्त्रों की रक्षा हुई, किन्तु स्वार्थी ब्राह्मणों ने बड़ी पोपलीला चलायी। सच्चे ब्राह्मणों का अभाव हो गया और अन्ध परम्पराओं के

साथ कुत्सित, कदाचारी-जीवन की ओर लोगों की प्रवृत्ति हो गयी। ब्राह्मण अपनी पूजा कराने लगे और विषयासक्ति बढ़ने लगी। स्वामीजी लिखते हैं कि :

"पुनः वे पोप लोग अपनी और अपने चरणों की पूजा कराने लगे, और कहने लगे कि इसीमें तुम्हारा कल्याण है। जब ये लोग इनके वश में हो गये, तब प्रमाद और विषयासक्ति में निमग्न होकर गड़ेरिये के समान झूठे गुरु और चेले फँसे। विद्या, बल, बुद्धि, पराक्रम, शूरवीरतादि शुभ गुण सब नष्ट होते चले गये। पश्चात् जब विषयासक्त हुए तो मांस-मद्य का सेवन गुप्त-गुप्त करने लगे।" पृष्ठ 440

वाम मार्ग का प्रचार :

यहीं से पञ्च मकार—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन आदि का प्रचार हुआ। सारे पुरुष अपने को शिव और स्त्रियाँ अपने को पार्वती मानकर व्यभिचार पर उतर गये। स्वामीजी ने वाममार्ग की कठोर भर्त्सना की है। वाममार्गियों में ऊँच-नीच, चरित्र-दुश्चरित्र, बहन-बेटी, उचित-अनुचित, बिना किसी भेद-भाव के शराब पीना और व्यभिचार करना आरम्भ हो गया। स्वामीजी बड़ी सुस्पष्टता से कहते हैं कि वाममार्ग तथा अघोरी आदि लोगों का वेदों और सत्य शास्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। वे लिखते हैं :

"मांस-भक्षण करने, मद्य पीने, पर-स्त्री गमन करने आदि में दोष नहीं है, यह कहना छोकड़ापन है.........इनको निर्दोष कहने वाला सदोष है।" पृष्ठ 444

गोमेध और अश्वमेध का शुद्ध अर्थ :

वाममार्ग के प्रचार से पशुओं की हत्या और कहीं-कहीं मनुष्यों की भी हत्या चल पड़ी। गोमेध यज्ञ में गाय का वध, अश्वमेध यज्ञ में घोड़े का वध और नरमेध में मनुष्य का वध होंने लगा। स्वामीजी कहते हैं कि यह सब वाममार्गियों ने चलाया अन्यथा "घोड़े आदि पशु तथा मनुष्य

मार के होम करना कहीं नहीं लिखा केवल वाममार्गियों के ग्रन्थ में ऐसा अनर्थ लिखा है।" पृ० 445 स्वामीजी गोमेध, अश्वमेध, नरमेध आदि का वास्तविक अर्थ लिखते हैं। अश्वमेध का अर्थ है राजा न्याय, धर्म से प्रजा का पालन करे, विद्यादि का दान और अग्नि में घी आदि का होम करना अश्वमेध है। गोमेध का अर्थ है अन्न, किरण, इन्द्रियाँ, पृथ्वी आदि को पवित्र रखना और नरमेध का अर्थ जब मनुष्य मर जाय तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना है।

पशुयाग करने से यजमान या पशु को स्वर्ग नहीं मिलता, यज्ञ में बलि देने से स्वर्ग मिले तो माता-पिता प्रियजनों को यज्ञ में मार कर क्यों न होम कर दे? वेदमन्त्रों में कहीं भी पशुओं के मारने का विधान नहीं है।

बौद्ध-जैनमत का उदय :

पोप-पाखण्डियों के मद्य, मांस, पशुयाग आदि का प्रचार बढ़ जाने से बौद्ध और जैनमत प्रचलित हुए। चारवाक और आभाणक मत का भी प्रचार हुआ। इन लोगों ने पशु मार कर होम करना इत्यादि सिद्धान्तों का विरोध किया। बहुत-से लोग बौद्ध और जैनमत को को मानने लगे। राजा लोग भी इस मत में आने लगे और जैनी लोग वेद और वेदप्रतिपादित आचरणों की निन्दा करने लगे। जैनियों ने अपने तीर्थङ्करों की मूर्त्तियाँ बना लीं। उन मूर्त्तियों की पूजा होने लगी और परमेश्वर का मानना घटने लगा। लोग वेदार्थ के ज्ञान से शून्य होने लगे। स्वामीजी लिखते हैं—कोई 300 वर्ष आर्यावर्त में जैनों का राज रहा और वेदमत का विरोध होता रहा।

स्वामी शंकराचार्य का उदय :

भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में स्वामी शंकराचार्य का आगमन इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। स्वामी शंकराचार्य आर्य परम्परा के शास्त्रों को तथा जैन ग्रन्थों को पढ़कर जैनियों से शास्त्रार्थ करने के लिए उद्यत हुए। उज्जैन नगरी के राजा सुधन्वा से मिलकर

जैनियों से शास्त्रार्थ का आयोजन करवाया। सुधन्वा राजा स्वयं जैनी थे किन्तु उन्होंने संस्कृत पढ़ी थी। स्वामी शंकराचार्य की यह शर्त थी :

"जो हारे सो जीतने वाले का मत स्वीकार कर ले और आप भी जीतने वाले का मत स्वीकार कीजियेगा।" पृ० 449

दूर-दूर से जैन पण्डित आये। स्वामी शंकराचार्य ने वेदमत का प्रतिपादन और जैनियों ने वेदमत को खण्डन-पक्ष अङ्गीकार किया। कई दिनों के शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामी शंकराचार्य ने जैनियों को पराजित कर दिया और युक्ति प्रमाणपूर्वक वेदमत का स्थापन हो गया। राजा सुधन्वा ने भी जैनमत को छोड़ दिया और वेदमत को स्वीकार कर लिया। राजा सुधन्वा ने दूसरे राजाओं के यहाँ भी शास्त्रार्थ का आयोजन कराया और जैनी सर्वत्र पराजित होने लगे। स्वामी शंकराचार्य ने सर्वत्र वेदमत का स्थापन किया। स्वामी शंकराचार्य ने शैवमत और वाममार्ग का भी खण्डन किया। स्वामी दयानन्द ने इन सारे ऐतिहासिक सन्दर्भों को इस प्रकार स्मरण किया है :

"उसी समय से सबके यज्ञोपवीत होने लगे और वेदों का पठन-पाठन भी चला। 10 वर्ष के भीतर सर्वत्र आर्यावर्त देश में घूमकर जैनियों का खण्डन और वेदों का मण्डन किया।"

पृ० 450

पीछे छल से जैनियों ने स्वामी शंकराचार्य को विष दे दिया और शीघ्र ही उनका देहान्त हो गया। स्वामी शंकराचार्य के शिष्यों ने उनके ग्रन्थों और सिद्धान्तों का प्रचार आरम्भ कर दिया। "ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म की एकता कथन की थी, उसका उपदेश करने लगे। दक्षिण में शृंगेरी, पूर्व में भूगोवर्धन, उत्तर में जोशी और द्वारका में शारदामठ बाँधकर शंकराचार्य के शिष्य महन्त बन और श्रीमान् होकर आनन्द करने लगे।" पृ० 451

अद्वैतवाद की समीक्षा :

स्वामी दयानन्द ने शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैतमत की समालोचना

की है। स्वामी शंकराचार्य के मत को तीन खण्डों में यों कहा जा सकता है—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म दोनों एक ही हैं। स्वामी दयानन्द लिखते हैं :

"अब इसमें विचार करना चाहिए कि जो जीव ब्रह्म की एकता, जगत् मिथ्या, शंकराचार्य का निजमत था तो वह अच्छा मत नहीं। जो जैनियों के खण्डन के लिये इस मत का स्वीकार किया तो कुछ अच्छा है।" पृ० 451

स्वामी शंकराचार्य ने जगत् के कर्त्ता ब्रह्म की सिद्धि जैनियों के शास्त्रार्थ में की थी। यह उनके पक्ष की अच्छाई थी। किन्तु संसार को भ्रम कहना, जगत् को मिथ्या कहना, यह अद्वैतवाद का असत्य सिद्धान्त है। स्वामी दयानन्दजी ने बहुत विस्तार से अद्वैतवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया है। वेदान्तियों के अनुसार माया के कारण ब्रह्म अज्ञान में पड़कर जीव बन जाता है क्योंकि जगत् का भ्रम जीव को ही होता है। जब ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं तो ब्रह्म को अज्ञान से ग्रस्त होकर जीवरूप होना बड़ा खेल-सा लगता है। प्रकृति को न मानना, यह भी शंकराचार्य का असत्य अवैदिक सिद्धान्त था। सांख्य, वैशेषिक आदि दर्शनों में प्रकृति का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। स्वामी शंकराचार्य ने अपनी सारी शक्ति वेदान्त दर्शन, उपनिषद् और गीता पर लगा कर अद्वैतवाद के सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयास किया। अद्वैतवाद के सिद्धान्त की समीक्षा ईश्वर प्रकरण में पहले भी हो चुकी है। स्वामीजी अन्त में लिखते हैं :

"अनुमान है कि शंकराचार्य आदि ने तो जैनियों के मत के खण्डन करने ही के लिये यह मत (अद्वैतवाद) स्वीकारा हो, क्योंकि देश-काल के अनुकूल अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए बहुत-से स्वार्थी विद्वान् अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी कर लेते हैं और जो इन बातों को अर्थात् जीव-ईश्वर की एकता, जगत् मिथ्या आदि व्यवहार सच्चा नहीं मानते थे, तो उनकी बात सच्ची नहीं हो सकती।" पृ० 460

स्वामी दयानन्द ने निश्चल दास आदि, तथा 'योगवाशिष्ठ' आदि का खण्डन किया है। स्वामीजी ने लिखा है कि वेदान्त दर्शन में व्यासजी ने शारीरक सूत्रों में जीव ब्रह्म की एकता नहीं दिखायी है। स्वामीजी ने वेदान्त दर्शन के कई सूत्रों का उद्धरण दिया है। मुण्डक आदि उपनिषदों का उद्धरण दिया है और यह सिद्ध किया है कि जगत् का कर्त्ता ब्रह्म है, जीव और ब्रह्म एक नहीं है। जीव ब्रह्म से पृथक् अनादि, अजन्मा, अजर, अमर, नित्य शाश्वत सत्ता है और प्रकृति भी सत्य है।

स्वामी दयानन्द ने महाराजा विक्रमादित्य, भर्तृहरि, राजा भोज और कवि कालिदास आदि का वर्णन किया है। शंकराचार्य मतानुयायी शैवमत में प्रवृत्त हुए। भस्म और रुद्राक्ष इत्यादि का प्रचार होने लगा। भग-लिंग की पूजा आरम्भ हो गयी। वाममार्ग चलने लगा और जैनमत का प्रचार, पुराणों की रचना, महाभारत आदि ग्रन्थों में प्रक्षेप आदि होने लगा।

भोज के समय यन्त्रकला :

स्वामी दयानन्द प्राचीन भारत के यश को उजागर करने में सदा सावधान रहते हैं। राजा भोज के राज्य में ऐसे यन्त्र का वर्णन आता है जो घोड़े के आकार का होता था और एक घण्टे में 55 मील की गति से चलता था। यह घोड़ा भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था। एक ऐसा भी यन्त्र था जो पंखे की तरह बिना मनुष्य के ही चलता था और पुष्कल वायु देता था। स्वामीजी लिखते हैं :

"जो दोनों पदार्थ आजतक बने रहते तो योरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते।" पृष्ठ 469

पुराण आदि का निर्माण :

जैनियों में तीर्थङ्कर, मन्दिर, मूर्त्ति, कथा आदि का प्रचार हो रहा था। जनसाधारण में उधर आकर्षण होना स्वाभाविक था। अतः जैनमत की बानगी पर पौराणिकों ने भी कल्पना की। स्वामीजी लिखते हैं :

"पश्चात् पोपों ने यही सम्मति की कि जैनियों के सदृश अपने भी अवतार, मन्दिर, मूर्त्ति कथा आदि के पुस्तक बनावें। इन लोगों ने जैनियों के 24 तीर्थङ्करों के सदृश 24 अवतार, मन्दिर और मूर्त्तियाँ बनायीं। और जैसे जैनियों के आदि और उत्तर पुराणादि हैं वैसे 18 पुराण बनाने लगे।" पृ० 470

राजा भोज के पश्चात् वैष्णव मत आरम्भ हुआ। शैवों ने शिव पुराण, शाक्तों ने देवी भागवतादि और वैष्णवों ने विष्णु पुराण बनाये। स्वामीजी लिखते हैं :

"उनमें (पुराणादि ग्रन्थों में) अपना नाम इसलिये नहीं धरा कि हमारे नाम से बनेंगे तो कोई प्रमाण न करेगा। इस-लिए व्यासादि ऋषि-मुनियों के नाम धर के पुराण बनाये।" पृष्ठ 470

स्वामीजी ने पुराणों की, उनके सिद्धान्तों की, भस्म, रुद्राक्ष, ताप त्रिपुण्ड, माला, मन्त्र-तन्त्र सबकी बड़े विस्तार से समालोचना की है और यह सिद्ध किया है कि ये कोई भी वेदमूलक नहीं हैं। स्वामीजी ने चक्राङ्कित के मूलपुरुष शठकोप से आरम्भ करके रामानुजाचार्य तक सबकी समालोचना की है। रामानुजाचार्य जीव, ब्रह्म और माया तीनों को नित्य मानते हैं और जीव को सर्वथा ईश्वर के आधीन परतन्त्र मानते हैं, यह सब व्यर्थ है। स्वामीजी लिखते हैं—"जैसे चक्राङ्कित आदि वेदविरोधी हैं वैसे शंकराचार्य मत के नहीं।" पृष्ठ 479

मूर्त्तिपूजा का आरम्भ :

स्वामीजी मूर्त्तिपूजा का आरम्भ जैनियों से मानते हैं और इस प्रश्न के उत्तर में कि जैनियों ने मूर्त्तिपूजा कहाँ से चलायी, स्वामीजी बड़ा साफ दो टूक लिखते हैं कि जैनियों ने मूर्त्तिपूजा अपनी मूर्खता से चलायी। स्वामीजी जैन सिद्धान्तों का खण्डन तो 12वें समुल्लास में करेंगे। यहाँ 11 वें समुल्लास में वैष्णव आदि पौराणिकों की समालोचना की है। परमेश्वर निराकार है, सर्वव्यापक है, उसकी मूर्त्ति तो बन ही नहीं

सकती। जो मूर्त्ति के दर्शन से परमेश्वर का स्मरण करना चाहते हैं; स्वामीजी उन्हें सलाह देते हैं कि ईश्वर ने अद्भुत सृष्टि की है और पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति, पहाड़ आदि महामूर्त्तियाँ हैं। उनको देखकर क्या परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकता? स्वामीजी ने मूर्त्तिपूजा के दोषों को विस्तार से समझाया है। परमात्मा को सर्वव्यापक मानकर पाप से बचने का उपाय बताया है। स्वामीजी कहते हैं कि केवल स्मरणमात्र से कोई लाभ नहीं हो सकता, जैसे मिश्री-मिश्री कहने से न मुँह मीठा होता है और न नीम-नीम कहने से मुँह कड़वा होता है। परमेश्वर के वेदोक्त नामों का स्मरण करना चाहिये और तदनुसार अपने जीवन का भी निर्माण करना चाहिये। जैसे मूर्त्ति-पूजा वेद-विरुद्ध है वैसे अवतारों की कल्पना भी न युक्तिसंगत है और न वेदसम्मत ही। निराकार परमेश्वर अज, एकपात अकायम् आदि विशेषणों से वर्णित है। वेदों में इसी तरह का वर्णन है और वेद के प्रमाण से कभी अवतार सिद्ध नहीं हो सकता है। देवताओं का आवाहन-विसर्जन सभी कुछ पोपलीला ही है। स्वामीजी कहते हैं कि यदि आवाहन करने से देवता आ जाते हैं तो मूर्त्ति चेतन क्यों नहीं हो जाती? परमेश्वर सर्वव्यापक और पूर्ण है। वह तो सर्वत्र है, उसे क्या आवाहन करना और क्या विसर्जन करना?

स्वामीजी सभी तन्त्रग्रन्थों को भी वेदविरुद्ध और मिथ्या मानते हैं। स्वामीजी ने वेदों और उपनिषदों का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि परमेश्वर की प्रतिमा नहीं होती और मूर्त्तिपूजा से पाप ही होता है। स्वामीजी कहते हैं कि मूर्त्तिपूजा परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ी नहीं बल्कि खाई है। स्वामीजी लिखते हैं:

> 'मूर्त्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है, जिसमें गिरकर चकनाचूर हो जाता है, पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता, किन्तु उसीमें मर जाता है। हाँ, छोटे-छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों के संग सद्विद्या और सत्य भाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियाँ हैं।" पृ० 490

स्वामीजी लिखते हैं :

> "मूर्त्तिपूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं, किन्तु धार्मिक विद्वान् और सृष्टि विद्या है, इसको बढ़ाता-बढ़ाता ब्रह्म को पाता है।" पृष्ठ 490

स्वामी दयानन्द की सुस्पष्ट मान्यता है कि ध्यान करने के लिये परमात्मा की मूर्त्ति व्यर्थ है। साकार में मन कभी स्थिर हो ही नहीं सकता। अगर साकार में मन स्थिर हो सकता तो परमेश्वर की सारी सृष्टि ही साकार है, कहीं भी मन को स्थिर कर लेते। वे लिखते हैं :

> "और जो साकार में मन स्थिर होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता, क्योंकि जगत् में मनुष्य स्त्री, पुत्र, धन, मित्र आदि साकार में फँसा रहता है, परन्तु किसी का मन स्थिर नहीं होता, जबतक कि निराकार में मन न लगावे। क्योंकि निरवयव होने से उसमें मन स्थिर हो जाता है, इसलिये मूर्त्तिपूजा करना अधर्म है।" पृष्ठ 490-91

मूर्त्तिपूजा में स्वामीजी ने बहुत सारे दोष गिनाये हैं। 16 दोषों को गिनाकर वे लिखते हैं कि इस प्रकार के अनेक दोष मूर्त्तिपूजा में आते हैं। वे सच्ची पंचायतन पूजा का वर्णन करते हैं। माता-पिता, आचार्य, अतिथि और पाँचवाँ स्त्री के लिये स्वपति और पति के लिये स्वपत्नी ये पाँच मूर्त्तिमान् देव हैं। इन्हींको पूजा पंचायतन पूजा है। स्वामीजी ने पूजा-स्थलों में प्रचलित अनेकों दोषों का खण्डन किया है। जिस तरह से पाखण्ड मन्दिरों में होता है, वह सब समझाया है। गया में श्राद्ध करना, कलकत्ता की काली, कामाख्या और जगन्नाथपुरी आदि में हो रहे चमत्कारों का खण्डन किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि रामेश्वरम् का मन्दिर श्री रामचन्द्र के समय में नहीं था। बाल्मीकीय रामायण में ऐसा कुछ भी नहीं है। उन्होंने कालियाकन्त, डकोरजी, सोमनाथ के मन्दिर, रणछोड़जी, ज्वालामुखी, हिंगलाज आदि अनेक जगहों में प्रचलित पाखण्डों का खुलासा करके समझाया है। उन्होंने हर की पैड़ी, देव

प्रयाग, बद्री नारायण, त्रियुगी नारायण आदि सभी स्थानों के पाखण्डों का वर्णन करके उनका खण्डन किया है। विन्ध्याचल की काली, अष्ट-भुजा, मथुरा, वृन्दावन, कुरुक्षेत्र, अयोध्या, आदि सभी जगहों में प्रचलित अन्धविश्वासों का खण्डन किया है। जैसे मूर्त्तिपूजा जैनियों से चली है, वैसे ही जल, स्थल विशेष को तीर्थ मानना और वहाँ स्नान करने से पाप की निवृत्ति होने आदि को स्वामीजी पाखण्ड मानते हैं और इन सबको पाँच हजार वर्ष से पुराना नहीं मानते। तीर्थ और नाम स्मरण के माहात्म्य का खण्डन करके वे सच्चे तीर्थ और प्रभु के नाम-स्मरण का वर्णन करते हैं। स्वामीजी कहते हैं कि धार्मिक ग्रन्थों का पढ़ना, विद्वानों का संग करना, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निष्कपटता, सत्या-चरण, ब्रह्मचर्य पालन, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि दुःखों से तारने वाले हैं और यही सच्चे तीर्थ हैं। परमेश्वर के नामों का वर्णन तो प्रथम समुल्लास में किया गया है। परमेश्वर के गुणों का स्मरण करना और अपने गुण-कर्म को सुधारते जाना ही सच्चा नाम स्मरण है।

स्वामीजी ने कनफुकुवा गुरु, उनकी लोभ-लालच की लीला और गुरु-गीता आदि की पोपलीला का खण्डन किया है।

पुराण अनार्ष ग्रन्थ हैं :

साधारण रूप से यह माना जाता है कि पुराणों के बनाने वाले महाभारत काल के महर्षि वेदव्यासजी हैं। स्वामीजी इसे इतिहास विरुद्ध बताते हैं। उनका सुनिश्चित मत है कि श्रीमद्भागवत आदि पुराण नवीन ग्रन्थ हैं और इन्हें व्यासजी ने नहीं बनाये हैं। स्वामीजी लिखते हैं :

> जो 18 पुराणों के कर्त्ता व्यासजी होते तो इनमें इतने गपोड़े न होते क्योंकि शारीरक सूत्र, योगशास्त्र के भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यासजी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते।" पृष्ठ 515

स्वामीजी व्यासजी की विद्या और चरित्र की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं :

> "वेद-शास्त्र विरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यास सदृश विद्वानों का काम नहीं। किन्तु यह काम वेद-शास्त्र विरोधी स्वार्थी, अविद्वान् लोगों का है।" पृष्ठ 515

स्वामीजी शिवपुराण आदि को इतिहास या पुराण नहीं मानते। इतिहास में जनक और याज्ञवल्क्य जैसे प्राचीन लोगों का संवाद, पुराण में जगत् आदि की उत्पत्ति का वर्णन होता है। जब व्यासजी का जन्म भी न हुआ था उससे बहुत पूर्व सबसे प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना होता था। उनमें ही पुराणपन घट सकता है। श्री मद्भागवत, शिवपुराण आदि में नहीं।

स्वामीजी ने लिखा है कि व्यासजी ने वेद को पढ़ा और वेद को पढ़ाकर वेदार्थ को फैलाया, इसलिये उनका नाम वेदव्यास पड़ा। वैसे तो उनका जन्म का नाम कृष्णद्वैपायन था :

> "जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यासजी ने इकट्ठे किये, यह बात झूठी है। क्योंकि व्यासजी के पिता, पितामह, परपितामह, पराशर, शक्ति, वशिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे, यह बात क्यों कर घट सके।" पृष्ठ 517

अतः व्यासजी को वेदों का कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

पुराणों में अधिकांश झूठ है :

पुराणों की गप्पों से समझदार व्यक्ति असहमत नहीं हो सकता। इन असम्भव बुद्धिहीन गपोड़ों के कारण कई बार विधर्मियों के सामने लोगों का सिर भी नीचा हो जाता है। प्रायः लोग पुराणों के मूल ग्रन्थों से अपरिचित होते हैं, लोगों ने बहुधा बिना कोई अनुवाद पढ़े ही यह मत बना रखा है कि चूंकि पुराण व्यास के बनाये हुये हैं, अतः महर्षि व्यास झूठ या गपोड़ा, असम्भव या बुद्धिहीन बातें कैसे लिख सकते हैं? पर जब असम्भव अवाञ्छनीय प्रसङ्ग सामने आ ही जाते हैं तो लोग यों

कहने लगते हैं कि पुराणों में कुछ तो सच्चा होगा ही। आद्योपान्त सारे-के सारे पुराण झूठ-ही-झूठ तो नहीं हो सकते, स्वामी दयानन्द कहते हैं :

बहुत-सी बातें झूठी हैं और कोई घुणाक्षरन्याय से सच्ची भी है। जो सच्ची है वह वेदादि सत्य शास्त्रों की और जो झूठी हैं वे इन पोपों के पुराणरूपघर की हैं।" पृष्ठ 518

पुराणों में आपस में बहुत मतभेद है। शिवपुराण में शिव ने सृष्टि की रचना की, भागवत में विष्णु कि नाभि से कमल आदि के द्वारा सृष्टि की रचना हुई। स्वामी दयानन्द ने इन सभी पौराणिक प्रसङ्गों का विस्तार से खण्डन किया है और ऐतिहासिक प्रमाण से यह सिद्ध किया है कि श्रीमद्भागवत की रचना महर्षि व्यास की नहीं है। वे लिखते हैं : "यह भागवत बोपदेव का बनाया हुआ है जिसके भाई जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' बनाया है।" पृष्ठ 528

स्वामीजी ने नवग्रहादि पूजन और ग्रहों के फल विषयक प्रसङ्ग का खण्डन किया है। देश में असंख्य देवी-देवताओं के स्थान और मन्दिर हैं। सब जगह पौराणिक पाखण्ड चल रहा है। ग्रहों के कारण कोई राजा रङ्क नहीं होता। स्वामीजी ने गरुड़पुराण और मृतक श्राद्ध आदि का भी खण्डन किया है। श्राद्ध-तर्पण तो जीवित लोगों का ही हो सकता है, क्योंकि श्रद्धापूर्वक सेवा श्राद्ध कहलाती है और जिन कार्यों से बड़ों की तृप्ति हो, माता-पिता, गुरु, आचार्य प्रसन्न हों, वह तर्पण कहलाता है। यह मृतकों में सम्भव ही नहीं। दशगात्र सपिण्डीकरण त्रयोदशाह आदि सब पाखण्ड-प्रेरित हैं। यमलोक, स्वर्ग, नरक की कल्पना सभी कुछ पाखण्ड के कारण ही है। इसी प्रकार एकादशी आदि तिथियों में उपवास व्रत करना, जल, स्थल में तीर्थ भावना करना, गंगा, प्रयाग, कुम्भ आदि स्नान करना और उससे पाप से मुक्त हो जाना, सब पाखण्ड लीला है। इस तरह का वर्णन वेदों में कहीं भी नहीं है।

जो लोग इन सिद्धान्तों को मानने वाले हैं, वे कहते हैं कि वेद अनन्त हैं, उनकी हजारों शाखाएँ हैं। उनमें कुछ शाखाएँ मिलती हैं। उनमें

भले ही मृतक श्राद्ध, मूर्त्तिपूजा, व्रत, उपवास, तीर्थ-स्नान इत्यादि का वर्णन नहीं मिले, किन्तु जो शाखाएँ नहीं मिलतीं, उनमें इन सिद्धान्तों का होना सम्भव है। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्दजी का कहना है :

"जैसे शाखा जिस वृक्ष की होती है, उसके सदृश हुआ करती है, विरुद्ध नहीं। चाहे शाखा छोटी-बड़ी हों परन्तु उनमें विरोध नहीं हो सकता। वैसे ही जितनी शाखाएँ मिलती हैं, जब इनमें पाषाणादि मूर्त्ति और जल-स्थल विशेष तीर्थों का प्रमाण नहीं मिलता तो उन लुप्त शाखाओं में भी नहीं था। और चार वेद पूर्ण मिलते हैं, उनसे विरुद्ध शाखा नहीं हो सकती, और जो विरुद्ध हैं उनको कोई भी शाखा सिद्ध नहीं कर सकता।" पृष्ठ 546-547

मूर्त्तिपूजा से श्रीराम और श्रीकृष्ण की निन्दा :

मन्दिरों में श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि की मूर्त्तियाँ स्थापित करके कई बार पुजारी लोग भेंट चढ़ाने का आग्रह करते हैं। उनके भोग आदि के लिये चढ़ावे चढ़ाने और दान देने का आग्रह करते हैं और कई बार उनके नाम पर भिक्षा भी माँगते हैं और किसी न किसी बहाने से चढ़ावा-पुजापा लेते हैं। स्वामीजी ने ये सब लीलाएँ तीर्थ-स्थानों में स्वयं देखी थीं। कहीं सीताजी की नथुनी के लिए रानीजी, सेठानीजी से याचना है, कहीं श्रीराम, श्रीकृष्ण के फटे वस्त्रों के लिए याचना की जा रही है। स्वामीजी लिखते हैं :

"श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र, नारायण और शिव आदि बड़े महाराजाधिराज और उनकी स्त्री सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी और पार्वती आदि महारानियाँ थीं, परन्तु जब उनकी मूर्त्तियाँ मन्दिर आदि में रख के पुजारी लोग उनके नाम से भीख माँगते हैं अर्थात् उनको भिखारी बनाते हैं।" पृ० 549

स्वामीजी आगे लिखते हैं :

"भला कहो तो सीता, रामादि ऐसे दरिद्र और भिक्षुक

थे, यह उनका उपहास और निन्दा नहीं तो और क्या है ? इससे अपने माननीय पुरुषों की बड़ी निन्दा होती है।" पृ० 550

स्वामीजी आगे बड़े विस्तार से मूर्त्तिपूजा आदि का दोष दिखाकर लिखते हैं : "इन्हीं पाषाणादि मूर्त्तियों के विश्वास से बहुत-सी हानि हो गयी। जो न छोड़ोगे तो प्रतिदिन अधिक होती जायगी।" पृ० 550

स्वामीजी ने वाममार्गियों की, मारण-मोहन की लीला करने वालों को, चोलीमार्गी और बीजमार्गी आदि वाम मार्गियों की कठोर भर्त्सना की है। शैव, शाक्त, वैष्णव सभी मतों की समालोचना की है, त्रिपुण्ड तिलक आदि मान्यताओं की समालोचना की है, और खाखी आदि लोगों की भी समालोचना की है।

कबीरपंथ की समालोचना :

कबीरदास सुधारक सन्त थे। मूर्त्तिपूजा, तीर्थ, मन्दिर, मस्जिद आदि मान्यताओं के पाखण्डों का उन्होंने खण्डन किया है। किन्तु उनके भक्त—कबीरपन्थियों ने और भी अधिक अन्य प्रकार का पाखण्ड फैला दिया। वे मूर्त्तिपूजा छोड़कर पलङ्ग, गद्दी, तकिया, खड़ाऊँ, दीपक आदि की पूजा करने लगे। यह मूर्त्तिपूजा से भी बढ़कर पाप हो गया। कबीरपन्थी कहते हैं कि कबीरदास फूलों से उत्पन्न हुए थे। मनुष्य का फूलों से उत्पन्न होना कितना असम्भव काम है ? स्वामीजी लिखते हैं :

"क्या कबीर साहब भुनगा था वा कलियाँ था, जो फूलों से उत्पन्न हुआ और अन्त में फूल हो गया ?" पृष्ठ 562

कबीरदास पढ़े-लिखे तो थे नहीं, किन्तु वेद-शास्त्र की आलोचना करते थे। स्वामीजी ने कबीरपन्थ की समालोचना की और कहा कि यह बच्चों के खेल की तरह है। इससे आत्मा की उन्नति नहीं हो सकती।

नानकपंथ की समीक्षा :

गुरुनानकदेव भी मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते थे। उन्होंने बहुत-से लोगों को मुसलमान होने से बचाया और ओ३म् सत्यनाम आदि का उपदेश किया। स्वामीजी नानकजी के सम्बन्ध में लिखते हैं :

"नानकजी का आशय तो अच्छा था, परन्तु विद्या कुछ भी नहीं थी।" पृष्ठ 563

"यह सच है कि जिस समय नानकजी पंजाब में हुए उस समय पंजाब संस्कृत विद्या से रहित, मुसलमानों से पीड़ित था; उस समय उन्होंने कुछ लोगों को बचाया।" पृष्ठ 564

पीछे चेलों ने 'नानकपन्थ' चलाया और सिखपन्थ में कबीरपन्थियों की तरह पुस्तक, गद्दी, दरबार आदि की पूजा होने लगी। स्वामीजी लिखते हैं—"इसमें इनके चेलों का दोष है, नानकजी का नहीं।" पृष्ठ 564

गुरु गोविन्द सिंह बड़े शूर-वीर हुए और उन्होंने 'पञ्चककार' का प्रचार किया। स्वामीजी कहते हैं कि नानकपन्थी लोगों ने कई प्रकार के बखेड़े हटा दिये। स्वामीजी ने लिखा है :

"इन सबने भोजन का बखेड़ा बहुत-सा हटा दिया है। जैसे इसको हटाया, वैसे विषयासक्ति, दुरभिमान को भी हटाकर वेदमत की उन्नति करे तो बहुत अच्छी बात है।" पृ० 566

स्वामीजी ने दादूपन्थ, रामसनेही-मत आदि की कठोर आलोचना की है। इस तरह के सभी पन्थ अपढ़ लोगों ने चलाये और कालक्रम से मन्दिरों में चरित्रबल का भी ह्रास होने लगा।

वल्लभ सम्प्रदाय की समालोचना :

स्वामीजी ने बल्लभ मत की समालोचना की है। उन्होंने उनका इतिहास दिया है और उनके सिद्धान्तों की समालोचना भी की है। बल्लभ सम्प्रदाय वाले शिष्यों से सब कुछ समर्पण करवाते हैं, यहाँ तक कि उनमें भार्यादि के समर्पण का भी प्रचलन हो गया था। स्वामीजी को यह सब महा अन्याय लगा और उन्होंने लिखा है।

"भला शिष्य और शिष्याओं को तो तुम अपने साथ समर्पित करके शुद्ध करते हो, परन्तु तुम और तुम्हारी स्त्री, कन्या, पुत्र-बधू आदि असमर्पित रह जाने से अशुद्ध रह गये वा नहीं।" पृ० 577.

गोसाईं लोगों में पुष्टिमार्ग का प्रचार है। इनमें खाने-पीने, भोग-विलास आदि का प्रचार है। स्वामीजी ने पुष्टिमार्ग को कुष्टिमार्ग कहा और गोलोक आदि की भी समीक्षा की। जहाँ भोग होगा वहाँ रोग अवश्य होगा। उन्होंने गोसाइयों के राग-रंग को समालोचना की है। सहजानन्द के स्वामी नारायण-मत का खण्डन किया, माध्वमत, लिङ्गाङ्कितमत आदि की भी समालोचना की है।

ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज की आलोचना :

स्वामी दयानन्द से पूर्व राजा राममोहन राय ने ब्राह्मसमाज की स्थापना की थी। ब्राह्मसमाजियों के मन में यह भाव जैसे बैठा हुआ था कि भारत की संस्कृति में न्यूनता है। अतः इनमें ईसाइयों के अनुकरण की प्रवृत्ति भी अधिक थी। श्री केशवचन्द्र सेन तो ईसाइयत की ओर बहुत ही झुक गये थे। स्वामी दयानन्द को ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाज के कुछ अंश तो ठीक लगे, किन्तु कई अंशों में और बहुतांश में उन्होंने इन संगठनों की समालोचना की है। वे लिखते हैं :

> "जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाजियों ने ईसाई मत में मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाये, और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्त्तिपूजा को हटाया, अन्य जाल-ग्रन्थों के फन्दे से भी कुछ बचाये, इत्यादि अच्छी बातें हैं।" पृ० 59।

किन्तु स्वामीजी ने इन लोगों की बहुत-सी न्यूनताएँ प्रकट की हैं। उन्होंने इनकी स्वदेशभक्ति की न्यूनता, अपने पूर्वजों की प्रशंसा न करके उनकी निन्दा और ईसाइयों की प्रशंसा, वेदादिकों को सत्य ग्रन्थ न मानना, भारतीय ऋषि-मुनियों को साधु-सन्तों की कोटि में न गिनकर ईसा, मूसा, मोहम्मद आदि को साधु-सन्त बताना, खाने-पीने का भेद-भाव न रखना इत्यादि बहुत सारे-दोष ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाजियों में दिखाये हैं। स्वामीजी को इनलोगों में स्वदेशभक्ति का अभाव बहुत खटकता था। वे लिखते हैं :

"भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं, इसी देश का अन्न-जल खाया-पीया, अब भी खाते-पीते हैं, तब अपने माता-पिता, पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजी और प्रार्थना-समाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपनेको विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़के पंडिताभिमानी होकर झटिति एकमत चलाने में प्रवृत्त होना, मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है ?" पृ० 592

स्वामीजी ने ब्राह्मसमाजी और प्रार्थना समाजियों के गुण-दोष कथन के प्रसङ्ग में योरोपियनों के गुण-दोष बताये हैं। योरोप वालों में स्वदेश और स्वदेशी का प्यार, अपनी सभ्यता-संस्कृति के प्रति निष्ठा है। एक दूसरे की सहायता आदि अच्छे गुण हैं। स्वामीजी ने ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाज की समालोचना की है। प्रार्थना करने से पाप छूटते नहीं। ईसाई, मुसलमान, जैनी, पौराणिक सभी पाप से निवृत्ति मानते हैं, किन्तु स्वामीजी का सुस्पष्ट मत है कि बिना भोगे पाप-पुण्य की निवृत्ति नहीं होती।

ये लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते। स्वामीजी लिखते हैं :

"जो आप लोगों ने (ब्राह्मसमाजियों और प्रार्थना-समाजियों ने) पूर्वजन्म और पुनर्जन्म नहीं माना है, वह ईसाई और मुसलमानों से लिया होगा। इसका भी उत्तर पुनर्जन्म की व्याख्या से समझ लेना।" पृ० 599

स्वामीजी ने पुनर्जन्म पर नवम समुल्लास में विचार किया है। ये लोग न शिखा-सूत्र रखते हैं और न अग्निहोत्र ही करते हैं। स्वामीजी कहते हैं :

योरोपियन ही की स्तुति में उतर पड़ना पक्षपात और खुशामद के बिना क्या कहा जाय ?" पृ० 600

अन्त में स्वामीजी ने आर्यसमाज से मिलकर काम करने की अनुशंसा की है।

आर्यसमाज के साथ मिलकर काम करने की अनुशंसा :

स्वामीजी लिखते हैं :

"जो उन्नति करना चाहो तो **आर्यसमाज** के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि हम और आप को अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब पालन होता है, आगे भी होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। इसलिये **जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।**"

पृ० 601

धर्म एक ही होता है :

स्वामीजी की सुस्पष्ट मान्यता है कि ईश्वर एक है और उसका उपदेश भी एक ही होगा। अतः ईश्वरीय ज्ञान और ज्ञान की पुस्तक भी एक ही होगी। वह पुस्तक वेद और ईश्वरीय धर्म वेदधर्म ही होगा। अतः मनुष्य मात्र के लिये धर्म भी एक—वेदधर्म ही होगा। स्वामीजी ने एक कहानी की कल्पना की कि जैसे कोई राजा सभी मत-सम्प्रदाय वालों को इकट्ठा करके उनसे प्रश्न करे कि कौन ठीक है ? तो सब अपने को उत्तम और 999 को त्याज्य बतायेंगे। वाममार्गी हो या शैव, वेदान्ती हो या जैनी, ईसाई, मुसलमान, वैष्णव, नानकपन्थी, कबीरपन्थी, दादूपन्थी, सभी अपने-अपने को ठीक और दूसरे को बेठीक बतायेंगे। परन्तु विद्वान् मनुष्य कहेगा :

"जिस बात में ये सहस्र मत एक हों, वह वेदमत ग्राह्य है और जिसमें परस्पर विरोध हो, वह कल्पित, झूठा, अधर्म, अग्राह्य है।" पृ० 606

स्वार्थी लोग अपने मत-सम्प्रदाय में लोगों को ठगते हैं, पैसा-रुपया

बटोरने के चक्कर में रहते हैं। अतः मत-सम्प्रदायवादियों से मानवता की उन्नति होना कठिन है। स्वामीजी किसी युग को, सतयुग, त्रेता, द्वापर या कलियुग को, अच्छे-बुरे काम में साधक या बाधक नहीं मानते। यह काल की गणना का नाम है, इसलिए कलियुग में भी अच्छे काम हो सकते हैं। वे साधु-संन्यासियों को ललकारते हैं। उन्होंने लिखा है :

> "देखो, तुम्हारे सामने पाखण्ड मत बढ़ते जाते हैं, ईसाई मुसलमान तक हो जाते हैं, **तनिक भी तुमसे अपने घर की रक्षा और दूसरों को मिलाना नहीं बन सकता**। बने तो तब जब तुम करना चाहो।"
>
> पृ० 615

पाखण्डों के बढ़ने से और शिखा-सूत्रधारी हिन्दुओं के ईसाई-मुसलमान बनने से स्वामीजी को दुःख था। स्वामीजी ने वर देने वाले, पुत्र देने वाले, धन देने वाले, सभी प्रकार के पाखण्डियों की समालोचना की है। अतः लिखते हैं :

> "इस प्रकार के बहुत से ठग होते हैं जिनकी विद्वान् ही परीक्षा कर सकते हैं और कोई नहीं। इसलिए वेदविद्या का पढ़ना और सत्संग करना होता है जिससे उसको कोई ठगाई में न फँसा सके, औरों को भी बचा सके, क्योंकि मनुष्य का नेत्र विद्या ही है।" पृ० 618

इतिहास की रक्षा :

स्वामीजी ने आर्य राजाओं का इतिहास, वंशावली श्रीमान् महाराज युधिष्ठिर से लेकर महाराज यशपाल पर्यन्त उनका राज्यकाल, वर्ष, मास, दिन, आदि सब लिखा है। यह संवत् 1249 तक की वंशावली है। इसके बाद शहाबुद्दीन गोरी का राज्य हुआ था। स्वामीजी इतिहास रक्षा को भी बहुत आवश्यक मानते हैं।

इस प्रकार एकादश समुल्लास में आर्यावर्तीय मत-मतान्तरों की समालोचना के प्रसंग में अनेक ऐतिहासिक और राष्ट्रीय प्रसंग उपस्थित हुए हैं। स्वामीजी ने एक शुभ-चिन्तक की दृष्टि से विचार प्रस्तुत किये हैं।

अनुभूमिका : II

यह अनुभूमिका 12वें समुल्लास की है। 12वें समुल्लास में स्वामीजी ने चारवाक मत, बौद्धमत और जैनमत के सम्बन्ध में लिखा है। जैनी लोग प्रायः अपने मत को बड़ा प्राचीन, राम, कृष्णादि से भी पुराना बताते हैं। किन्तु स्वामीजी लिखते हैं :

> "वाल्मीकीय रामायण और महाभारतादि में जैनियों का नाममात्र भी नहीं लिखा और जैनियों के ग्रन्थों में वाल्मीकीय रामायण और महाभारत में कथित राम, कृष्णादि की गाथा बड़े विस्तारपूर्वक लिखी है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह जैनमत इनके पीछे चला।" पृ० 627

जिस समय स्वामीजी ने चारवाक, बौद्ध और जैन मतों के विषय में लिखा था, उस समय इनके ग्रन्थ सुलभ न थे, जो थे भी उन्हें विशेषरूप से जैनी लोग अन्य मत वालों को नहीं दिखाते थे। स्वामीजी ने अपने सहयोगियों के प्रयास से कुछ ग्रन्थ प्राप्त किये और उन्हींके आधार पर इस समुल्लास में लिखा है। स्वामीजी लिखते हैं कि जैनी न दूसरों के ग्रन्थ पढ़ते हैं न अपने ग्रन्थ दिखाते हैं। इससे विदित होता है :

> "कि इन ग्रन्थों के बनाने वाले को प्रथम ही शंका थी कि इन ग्रन्थों में असम्भव बातें हैं जो, दूसरे मत वाले देखेंगे तो खण्डन करेंगे। और हमारे मत वाले दूसरे ग्रन्थ देखेंगे तो इस मत में श्रद्धा न होगी।" पृ० 628

इस अनुभूमिका के साथ स्वामीजी लिखते हैं कि अब 12वें समुल्लास में सर्वसाधारण की जानकारी के लिये जैन-बौद्ध मत का विषय प्रस्तुत किया जाता है।

द्वादश समुल्लास

इस समुल्लास का शीर्षक स्वामीजी ने इस प्रकार लिखा है—"**अथ-नास्तिकमतान्तर्गत चारवाक-बौद्ध-जैनमत खण्डन - मण्डनविषयान् व्याख्यास्यामः।**"

स्वामीजी चारवाक, बौद्ध और जैन, इन सब को नास्तिक मतों में गिनते हैं। सर्वप्रथम चारवाक मत के सम्बन्ध में लिखते हैं। चारवाक वेद, ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था। उसका कहना था कि मरने के पश्चात् शरीर भस्म हो जाता है और पुनर्जन्म होता ही नहीं, फिर जब तक जीये सुख से जीये, इस लोक में आनन्द करे, परलोक की चिन्ता न करे। चारवाक के सिद्धान्त में जीव-चेतनता शरीर के साथ उत्पन्न होती है और शरीर के साथ ही उसका नाश भी हो जाता है। अतः इस सांसारिक सुख को ही परम सुख मानकर जीवन यापन करना चाहिये।

चारवाक अनुयायियों को स्वामीजी उत्तर देते हैं—"ये पृथिव्यादि भूत जड़ हैं। उनसे चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।" पृ० 631 स्वामीजी तर्क और प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि आत्मा अविनाशी है और उसीके संयोग से शरीर में चेतनता आती है और वियोग से जड़ता होती है। जीवात्मा शरीर से पृथक् है।

चारवाक स्त्री-सुख को ही परम पुरुषार्थ मानता है और यज्ञ, वेद आदि को बुद्धि-पौरुषहीन लोगों का काम मानता है। स्वामीजी इस क्षणिक सुख और दुःख को पुरुषार्थ का फल नहीं मानते और लिखते हैं कि :

> "विषयरूपी सुखमात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषय-दुःख-निवारण मात्र में कृतकृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है। अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना, उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है। उसको न जानकर वेद ईश्वर और वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्तों का काम है।" पृ० 633

स्वामीजी ने चारवाक मत का विस्तार से खण्डन किया है। चारवाक न ईश्वर को मानता है, न परलोक और न जीवात्मा को ही मानता है। जैनी लोग और बौद्धलोग जीवात्मा और परलोक को मानते हैं। स्वामीजी ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि बिना सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर के यह

संसार बन नहीं सकता। इसी प्रकार जीव नित्य है। मृत्यु के पश्चात् उसका पुनर्जन्म होता है और जीव शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। स्वामीजी लिखते हैं :

> "जो चारवाक आदि ने वेदादि सत्य शास्त्र देखे, पढ़े वा सुने होते, तो वेदो की निन्दा कभी न करते कि वेद भांड़, धूर्त और निशाचरवत् पुरुषों ने बनाये हैं, ऐसा वचन कभी न निकालते। हाँ, भांड़, धूर्त, निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्तता है, वेदों की नहीं।" पृ० 637

बौद्धमत की समालोचना :

स्वामीजी ने बौद्धों की समालोचना निम्न प्रकार की है : बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। बौद्धों के चार भेद हुए—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्त्रिक और वैभाषिक। एक ही आचार्य बुद्ध के शिष्यों के बुद्धिभेद से चार प्रकार की शाखाएँ हो गयीं। स्वामीजी ने इन चार शाखाओं के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। बौद्ध संसार को दुःख रूप मानते हैं। इनमें पाँच स्कन्ध माने जाते हैं। ये लोग तीर्थङ्करों पर विश्वास करते हैं और द्वादशायतन पूजन मानते हैं। स्वामीजी ने इन सभी सिद्धान्तों को समालोचना की है। वे कहते हैं :

> "जो सब संसार दुःखरूप होता, तो किसी जीव की प्रवृत्ति न होनी चाहिये। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीखती है, इसलिये सब संसार दुःखरुप नहीं हो सकता। किन्तु इसमें दुःख-सुख दोनों हैं।" पृष्ठ 646

स्वामीजी तीर्थङ्करों को ईश्वर मानने की भी समालोचना करते हैं। वे लिखते हैं :

> "जिन तीर्थङ्करों को उपदेशक और लोकनाथ मानते हैं और जो नाथों का नाथ परमात्मा है उसको नहीं मानते तो उन तीर्थङ्करों ने उपदेश किससे पाया ?" पृष्ठ 646

स्वामीजी ने बौद्धों के शून्यवाद की भी समालोचना की है। क्योंकि

"विद्यमान वस्तु शून्यरूप कभी नहीं हो सकती। हाँ, सूक्ष्मकारण रूप हो जाती हैं।" अतः किसी वस्तु का अत्यन्ताभाव नहीं होता।

स्वामीजी द्वादशायतन पूजा को मोक्ष का नहीं, भोग का साधन बताते हैं और जैन तथा बौद्ध जो अविद्या में फँसे हैं, वह इनके वेद और ईश्वर के विरोध का फल है।

विवेक विलास ग्रन्थ समीक्षा :

विवेक विलास ग्रन्थ में बौद्धों के मत का जो वर्णन किया गया है, स्वामीजी ने प्रमाणपूर्वक उसकी समीक्षा की है। पञ्चस्कन्ध, द्वादश आयतन, क्षणिकवाद आदि सिद्धान्तों का वर्णन करके स्वामीजी समालोचना के रूप में कई विन्दुओं को उभारते हैं और युक्तियुक्त समालोचना करके लिखते हैं :

> "जो बौद्धों का सुगत बुद्ध ही देव है, तो उसका गुरु कौन था? और जो विश्व क्षणभंगुर हो तो चिरदृष्ट पदार्थ का, यह वही है, ऐसा स्मरण न होना चाहिए।" पृ० 650

स्वामीजी ने बौद्धों के बहुत-से सिद्धान्तों की समालोचना करते हुए मुक्ति सम्बन्धी बौद्ध सिद्धान्त की समालोचना की है। बौद्धलोग वासनाच्छेद को ही मुक्ति मानते हैं। स्वामीजी लिखते हैं :

> "जो वासनाच्छेद ही मुक्ति है, तो सुषुप्ति में भी मुक्ति माननी चाहिए। ऐसा मानना विद्या से विरुद्ध होने के कारण तिरस्करणीय है।" पृ० 650

स्वामीजी ने जैन और बौद्ध मतों के समान सिद्धान्तों का और विषम सिद्धान्तों का वर्णन किया है और उसकी समालोचना की है। बौद्ध लोग चार द्रव्य और जैनी लोग धर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्यों को मानते हैं। स्वामीजी ने इनकी समीक्षा में लिखा है :

> "जो बौद्धों ने चार द्रव्य प्रति समय में नवीन-नवीन माने हैं, वे भूठे हैं, क्योंकि आकाश, काल, जीव और परमाणु ये नये वा पुराने कभी नहीं हो सकते।" जैनियों ने जो छः द्रव्य माने

हैं, उनकी समालोचना करते हुए स्वामीजी लिखते हैं : "और जो नव द्रव्य वैशेषिक में माने हैं, वे ही ठीक हैं; क्योंकि पृथिव्यादि पाँच तत्त्व, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव पृथक्-पृथक् पदार्थ निश्चित हैं।" पृ० 652

जैन-बौद्ध जीवात्मा को तो चेतन मानते हैं किन्तु ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते। स्वामीजी का कहना है कि "एक जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना, यह जैन-बौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है।" पृ० 652

"सप्तभंगी और स्याद्वाद" के सिद्धान्त बड़े प्रसिद्ध हैं। स्वामीजी इन सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह सब व्यर्थ का प्रपञ्च है। वे लिखते हैं :

"यह कथन एक अन्योन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रकरण को छोड़कर कठिन रचना केवल अज्ञानियों को फँसाने के लिये होती है।" पृ० 555

स्वामीजी जैनियों के चित्, अचित्, विवेक-विवेकी, आदि सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं और इस विषय को उठाते हैं कि बौद्ध और जैन इतिहास की दृष्टि से एक ही हैं। वे राजा शिवप्रसादजी द्वारा लिखित "इतिहास तिमिर नाशक" ग्रन्थ से कई उद्धरण देते हैं। राजा शिवप्रसादजी ने लिखा है—"जिन" जिससे जैन निकला और "बुद्ध" जिससे बौद्ध निकला, दोनों पर्याय शब्द हैं। कोश में दोनों का अर्थ एक ही लिखा है और गौतम को दोनों मानते हैं।" पृ० 557

जैन और बौद्ध एक ही हैं। इस सम्बन्ध में स्वामीजी ने "अमरकोश" के भी तीन श्लोकों का उद्धरण दिया है। और अन्त में निष्कर्ष रूप में यह लिखते हैं :

"जो अविद्वान् जैन हैं वे न तो अपना जानते हैं और न दूसरे का, केवल हठमात्र से बरड़ाया करते हैं। परन्तु जो जैनों में विद्वान् हैं, वे सब जानते हैं कि बुद्ध और जिन तथा बौद्ध

और जैन पर्यायवाची हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है।" पृ० 657

जीव परमेश्वर नहीं :

जैनी लोग सृष्टिकर्त्ता, कर्मफल दाता, संसार का व्यवस्थापक और पालक परमेश्वर को नहीं मानते। जैनियों के अनुसार "जीव ही परमेश्वर हो जाता है। वे जो अपने तीर्थङ्कर को ही केवली मुक्ति प्राप्त और परमेश्वर मानते हैं। अनादि परमेश्वर कोई नहीं।" 657

स्वामीजी ने जैनियों के तमाम सिद्धान्तों का निराकरण किया है और यह सिद्ध किया है कि जीव अल्पज्ञ है। वह कभी ईश्वर नहीं हो सकता।

"जो अल्प और अल्पज्ञ है वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का स्वरूप एक देशीय और परिमित गुण-स्वभाव-कर्म वाला होता है, वह सब विद्याओं में सब प्रकार यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता। इसलिये तुम्हारे तीर्थङ्कर परमेश्वर कभी नहीं हो सकते।" पृ० 660

स्वामीजी पुनः लिखते हैं :

"देखो, चाहे कितना ही कोई सिद्ध हो तो भी शरीर आदि रचना को पूर्णता से नहीं जान सकता। जब सिद्ध जीव दुःख को प्राप्त होता है तब उसका ज्ञान भी न्यून हो जाता है। ऐसे परिच्छिन्न सामर्थ्य वाले, एक देश में रहने वाले को ईश्वर मानना बिना भ्रान्त-बुद्धि-युक्त जैनियों से अन्य कोई भी नहीं मान सकता।" पृ० 663

ईश्वर प्रत्यक्ष :

जैनी लोग केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं और चूँकि ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता. अतः वे ईश्वर को नहीं मानते। स्वामीजी का मत है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है। वे लिखते हैं :

"जैसे कान से रूप और चक्षु से शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता वैसे अनादि परमात्मा को देखने का साधन शुद्धान्तः-

करण, विद्या और योगाभ्यास से पवित्रात्मा परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है।" पृ० 560

स्वामीजी आगे लिखते हैं :

"जैसे भूमि के रूपादि गुण को ही देख-जान के गुणों से अव्यवहित सम्बन्ध से पृथ्वी प्रत्यक्ष होती है, वैसे इस सृष्टि में परमात्मा के रचना-विशेष लिंग देख के परमात्मा प्रत्यक्ष होता है और जो पापाचरणेच्छा समय में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है। इससे भी परमात्मा प्रत्यक्ष होता है।" पृ० 661

इसी प्रकार स्वामीजी ने परमात्मा की सिद्धि में अनुमान, शाब्द प्रमाण आदि भी स्वीकार किये हैं।

स्वामीजी ने ईश्वर, वेद इत्यादि से सम्बन्धित कई प्रश्न उठाये हैं और सिद्ध किया है कि सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर और उसके गुण-कर्म-स्वभाव आदि नित्य हैं। जो तीर्थङ्कर अपने माता-पिताओं से पैदा होते हैं और उनकी मृत्यु भी होती है, अतः वे ईश्वर नहीं हो सकते।

स्वामीजी ने जैनियों के अन्य कई सिद्धान्तों की समीक्षा की है। जैनी सुख-दुःख और कर्म-फलों के भोग के लिये ईश्वर को नहीं स्वीकार करते। वे लिखते हैं :

यदि ईश्वर फल-प्रदाता न हो तो पाप का फल दुःख को जीव अपनी इच्छा से कभी नहीं भोगेगा। जैसे चोर आदि चोरी का फल दण्ड अपनी इच्छा से नहीं भोगते, किन्तु राज-व्यवस्था से भोगते हैं। वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं। पृ० 664

स्वामीजी ने जीव और ईश्वर के कर्मों को विस्तार से समझाया है और कई प्रकार से जैनियों के मन्तव्य की समालोचना की है। जैनी लोग सभी मुक्त जीवों को ईश्वर मानते हैं। अतः जैनियों के मत में ईश्वर अनेक हैं, जितने मुक्त जीव हैं वे सब ईश्वर हैं। स्वामीजी लिखते

हैं कि "जो प्रथम बद्ध होकर मुक्त हो तो पुनः बन्ध में अवश्य पड़े, क्योंकि वे स्वाभाविक सदैव मुक्त नहीं। ....और जब बहुत से ईश्वर हैं तो जैसे जीव अनेक होने से लड़ते-भिड़ते फिरते हैं वैसे ईश्वर भी लड़ा-भिड़ा करेंगे।" पृ० 669

जैनी लोग संसार को अनादि और अनन्त मानते हैं। अतः जैनियों के विचार से सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की भी आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी संसार को अनादि और अनन्त नहीं बताते। वे कहते हैं : "जो संयोग से उत्पन्न होता है वह अनादि और अनन्त कभी नहीं हो सकता।" पृ० 671

संसार संयोग से उत्पन्न हुआ है, अतः यह संयोग-वियोगमय संसार की गति अनादि और अनन्त नहीं हो सकती।

जैनियों की विद्याविरुद्ध असम्भव बातें :

जैनियों के सिद्धान्त में भूगोल-खगोल आदि विद्याओं के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा मिलता है। जैनी लोग पृथ्वी को भी जीव का शरीर मानते हैं अर्थात् पृथ्वी भी जीवधारी है और जल भी जीवधारी है। जैनी लोगों की काल-व्याख्या और काल-गणना अविद्यामय है। जैनियों का योजन दस हजार कोसों का और शङ्ख, कौड़ी, जूँ आदि का शरीर अधिक-से-अधिक 8 कोस का स्थूल होता है। इसी प्रकार वे बिच्छू, मक्खी एक योजन के शरीर वाले एक हजार योजन परिमाण की मक्खियाँ 2 कोस से 9 कोस का हाथी आदि मानते हैं। इसी प्रकार स्वामीजी ने जैनियों की बहुत-सी असम्भव बातें दिखायी हैं। जैनियों में भूगोल-खगोल सभी कुछ असम्भव अविद्यायुक्त बातों से भरा पड़ा है। स्वामीजी ने उन सब बातों को बहुत खोल कर लिखा है।

मुक्ति नित्य नहीं होती :

जैनियों का सिद्धान्त है कि एक बार जब मुक्ति हो जाती है तो फिर जीव बन्धन में नहीं आता। उनका पक्ष है :

"जैसे धान्य का छिलका उतारने का अग्नि का संयोग

होने से वह बीज पुनः नहीं उगता, इसी प्रकार मुक्ति में गया हुआ जीव पुनः जन्म-मरण रूप संसार में नहीं आता है।" पृ० 680

स्वामीजी इसका उत्तर देते हैं :

"जीव और कर्म का सम्बन्ध छिल्के और बीज के समान नहीं है, किन्तु इनका समवाय सम्बन्ध है। अनादि काल से जीव और उसमें कर्म और कर्त्तव्यशक्ति का सम्बन्ध है जो उसमें कर्म करने की शक्ति का भी अभाव मानोगे तो सब जीव पाषाणवत् हो जायेंगे और मुक्ति को भोगने का सामर्थ्य नहीं रहेगा।" पृ० 680-681

स्वामीजी आगे लिखते हैं : "साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य कभी नहीं हो सकता।" मुक्ति साधन से हुई है, इसलिये मुक्ति अनादि नहीं हो सकती।

जनी लोग जीव को निर्मल भी नहीं मानते। स्वामीजी कहते हैं कि मनुष्य द्वेष से जीव को मलिन बना लेता है। जैनी कर्मफल स्वभाव से ही मानते हैं, किन्तु स्वामीजी लिखते हैं कि कर्मफल की व्यवस्था ईश्वर करता है। जीव स्वयं अपने कर्मफल को प्राप्त नहीं हो सकता।

योनिभेद से जीव का परिमाण :

जैनियों का एक सम्प्रदाय देह के परिमाण से जीव का परिमाण मानता है। इसका अर्थ यह होगा कि हाथी का जीव कीड़ी में और कीड़ी का जीव हाथी के शरीर में नहीं जा सकेगा। जैनीलोग अपने देव और गुरुओं को अच्छा मानते हैं और अन्य धर्म के देवों को कुदेव कहते हैं। इसी प्रकार इनकी दया, क्षमा आदि भी मनुष्यमात्र पर नहीं है, नहीं तो मनुष्यमात्र का सम्मान करते।

स्वामीजी ने जैनियों के 6 यातना सिद्धान्तों की समालोचना की है। उन्होंने जैनियों की पक्षपाती बातों का प्रमाण देते हुए लिखा है :

जैनी लोग मानते हैं "जैसे विषधर सर्प में मणि त्यागने

योग्य है वैसे जो जैनमत में नहीं वह चाहे कितना बड़ा धार्मिक पण्डित हो उसको त्याग देना ही जैनियों को उचित है।"
पृष्ठ 689

इस पर स्वामीजी की समीक्षा है : "देखिये, कितनी भूल की बात है जो इनके चेले आचार्य विद्वान् होते तो विद्वानों से प्रेम करते, जब इनके तोर्थङ्कर सहित अविद्वान् हैं, तो विद्वानों का मान्य क्यों कर करें।
पृ० 689

जैनीलोग अपने गुरुओं को तो अच्छा बताते हैं किन्तु अन्य धर्म वालों की इतनी निन्दा करते हैं कि दूसरे मत वालों को साँप से भी बुरा मानते हैं और अन्य मत वालों के उपकार करने को अपना नाश कर लेना बताते हैं। वे स्वयं अपने व्रतों और उपवासों की प्रशंसा करते हैं और दूसरों के उपवासों की निन्दा करते हैं, दूसरों के नाश की भी कामना करते हैं।

जैनीलोग कृषि और व्यापार आदि को नरक का कारण मानते हैं। इसलिये मृत्यु पर्यन्त दुःख सहकर भी कृषि, व्यापार आदि कर्मों का निषेध करते हैं। स्वामीजी लिखते हैं : "ऐसा अत्याचार का उपदेश करना सर्वथा व्यर्थ है। क्या करें बेचारे। विद्या सत्संग के बिना जो मन में आया सो बक दिया।" पृष्ठ 699

जैनीलोग कहते हैं कि यदि ऐसा कोई कहे "कि जैन साधुओं में धर्म है, हमारे और अन्य में भी धर्म है तो वह मनुष्य क्रोड़ान क्रोड़ वर्ष नरक में रहकर फिर भी नीच जन्म पाता है।" पृष्ठ 700.

इसी प्रकार स्वामीजी ने जैनियों के पक्षपातपूर्ण विचारों का कठोरता से खण्डन किया है।

मूर्त्तिपूजा जैनियों से चली :

मूर्त्तिपूजा एक महाप्रसङ्ग है। भारतवर्ष में तमाम मत-सम्प्रदाय वाले मूर्त्तिपूजक हैं। स्वामी दयानन्द का यह निश्चित मत है कि जब तक वेदों की शिक्षा का प्रचार था तबतक हमारे देश में मूर्त्तिपूजा नहीं

होती थी। पुनः एक स्वाभाविक प्रश्न है कि मूर्त्तिपूजा कब से चली क्यों चलायी गयी, मूर्त्तिपूजा के पीछे क्या आधार था ? स्वामी दयानन्द बहुत सुस्पष्ट रूप से इस बात को प्रतिपादित करते हैं कि मूर्त्तिपूजा का आरम्भ जैनियों से हुआ, और केवल मूर्त्तिपूजा ही नहीं बल्कि अन्य बहुत सारे पाखण्डों का चलन भी जैनियों से ही शुरू हुआ। स्वामीजी लिखते हैं :

> "अब देखो, जितना मूर्त्तिपूजा का झगड़ा चला है वह सब जैनियों के घर से, और पाखंण्डों का मत भी जैनमत है।"
> पृष्ठ 704

जैन-ग्रन्थों में मूर्त्तिपूजा करने के प्रकार और मूर्त्तिपूजा द्वारा असम्भव फल-प्राप्ति का वर्णन है। कौड़ियों की पूजा से 18 देशों का राज्य मिल गया। जैनी अपनी मूर्त्तियों की पूजा का विधान बताते हैं तो साथ ही यह बताते हैं कि शिव, विष्णु आदि की मूर्त्तियों की पूजा करने से नरक मिलता है। स्वामीजी ने इन सारे प्रसङ्गों का विस्तार से वर्णन किया है और उनकी समालोचना की है। जैनीलोग मन्त्र जपने में भी विश्वास करते हैं। स्वामीजी ने इन सबकी समालोचना की है।

जैनियों ने अन्य मत के महापुरुषों की भी खूब निन्दा की है। श्रीकृष्ण और धन्वन्तरि नरक में गये हैं, ऐसा जैन-ग्रन्थों में लिखा है। स्वामीजी कहते हैं :

> "भला कोई बुद्धिमान् पुरुष विचारे कि इनके साधु, गृहस्थ और तीर्थङ्कर जिनमें बहुत-से वेश्यागामी, पर-स्त्रीगामी, चोर आदि सब जैन मतस्थ स्वर्ग और मुक्ति को गये और श्रीकृष्ण आदि महाधार्मिक महात्मा सब नरक को गये, यह कहना कितनी बड़ी बुरी बात है।" पृष्ठ 711

जैनियों की मुक्ति :

मतपन्थ वाले हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैनी सभी अपने स्वर्ग और मुक्ति को भौतिक सुख का केन्द्र मानते हैं। जैनीलोग 'सिद्ध-शिला'

एक स्थान मानते हैं जो 45 लाख योजन लम्बी और उतनी ही पोली तथा 8 योजन मोटी है। वह मोती वा दुग्ध के समान श्वेत निर्मल है। मुक्त जीव वहाँ जाकर सब कर्मों से छूट जाते हैं और फिर जन्म-मरण के बन्धन में नहीं आते। स्वामीजी लिखते हैं :

"जैसे अन्य मत में वैकुण्ठ, कैलाश, गोलोक, श्रीपुर आदि पुराणी, चौथे आसमान में ईसाई, सातवें आसमान में मुसलमानों के मत में मुक्ति के स्थान लिखे हैं, वैसेही जैनियों की सिद्ध-शिला और शिवपुरी भी हैं........चाहे वह शिला 45 लाख से भी दूनी 90 लाख कोस की हो तो भी वे मुक्त बन्धन में हैं।' पृष्ठ 712-713. यह जैनियों की मुक्ति भी बन्धन ही है।

असम्भव बातें :

जैनियों ने अपनी महत्ता के लिये असम्भव गप्पें मारी हैं और स्वामीजी ने इन सबकी समालोचना की है। जैनी लोग अन्न पीसने, कूटने पकाने आदि में पाप मानते हैं। बगीचा लगाने से भी पाप होता है। स्वामीजी ने इन सबकी समालोचना की है।

स्वामीजी ने जैनियों के श्वेताम्बर, दिगम्बर, ढूँढ़िया, तेरापंथी आदि भेदो की समीक्षा की है। जैनीलोग जीवहिंसा बचाने के विचार से मुख पर पट्टी भी बांधते हैं। स्वामीजी ने इन सारे आचरणों की समीक्षा की है। इसी प्रसङ्ग में जीव को सुख, दुःख, आदि प्रसङ्गों का का भी वर्णन आया है। वायुकाय, हरे शाकपात, कन्दमूल आदि खाने से जीवों को पीड़ा होगी या नहीं, इत्यादि प्रसङ्गों का भी वर्णन किया गया है। जल को गर्म करके ही पीना चाहिये, स्वामीजी ने इस प्रसङ्ग की भी समीक्षा की है।

जैन-ग्रन्थों में असम्भव शरीर का विस्तार और आयु का परिमाण दिया हुआ है। उदाहरण के लिये ऋषभदेव का शरीर 500 धनुष एक धनुष साढ़े तीन हाथ का लम्बा और आयु 84 लाख वर्ष बताया है। इसी प्रकार से स्वामीजी ने 24 तीर्थङ्करों का शरीर और आयु का वर्णन किया है।

स्वामीजी ने कई और भी असम्भव बातें जैनग्रन्थों से दिखायी हैं। ऐसा लगता है कि जैसे असम्भव गप्पें मारने की होड़-सी लगी थी। पौराणिकों से बढ़कर जैनी और जैनियों से बढ़कर पौराणिक। जैनियों के विवेकसार ग्रन्थ में लिखा है कि कोशा वेश्या ने थाली में सरसों की ढेरी लगायी, उसपर फूलों से ढकी सूई खड़ी कर दी और उसी सूई पर वेश्या ने नाच किया। न सूई पग में गड़ी, न सरसों बिखरी। तत्त्वविवेक नामक ग्रन्थ में इसी कोशा वेश्या से स्थूल मुनि के 12 वर्षों तक भोग की कथा का वर्णन है। पश्चात् दोनों की ही सद्गति हुई। इसी प्रकार बहुत सारी पाखण्डमयी बातों की समीक्षा स्वामीजी ने की है। जैनियों के भौगोलिक वर्णन भी बड़े असम्भव हैं। जैनी लोग 132 सूर्य और 132 चन्द्रमा बताते हैं। स्वामीजी ने केवली नामक तीर्थङ्कर की असम्भव सर्वज्ञता, व्यापकता आदि का खण्डन किया है। उन्होंने इन सब भूगोल, खगोल आदि का असम्भव वर्णन करके लिखा है :

> "इतने ही लेख से बुद्धिमान् लोग बहुत-सा जान लेंगे। थोड़ा-सा यह दृष्टान्तमात्र लिखा है। जो इनकी सब असम्भव बातें लिखे तो इतने पुस्तक हो जायें कि एक पुरुष आयु भर में पढ़ भी न सके।" पृ० 739

अनुभूमिका : III

स्वामीजी ने तेरहवाँ समुल्लास ईसाई मत की समालोचना में लिखा है। उसकी भी अनुभूमिका लिखी है। इस समुल्लास में बाइबल के आधार पर ईसाई मत की समीक्षा की गयी है। बाइबल ईसाई और यहूदी दोनों का ही धर्मग्रन्थ है। बाइबल दो भागों में छपता है। एक पुराना धर्मशास्त्र ओल्ड टेस्टामेन्ट और दूसरा नया धर्मशास्त्र—न्यू टेस्टामेन्ट। पुराने धर्मशास्त्र को ईसाई और यहूदी दोनों मानते हैं। यहूदी पुराने धर्मशास्त्र को तो मानते हैं किन्तु नये धर्मशास्त्र में उनकी आस्था नहीं है। ईसाई लोग नये और पुराने दोनों धर्मशास्त्रों को मानते हैं।

स्वामीजी ने बाइबल और उसके हिन्दी और संस्कृत में हुए अनुवादों को देखकर बाइबल की समालोचना की है। बाइबल का हिन्दी अनुवाद तो विदेशी पादरियों ने ही किया था, किन्तु संस्कृत अनुवाद ईसाई बनने के पश्चात् नीलकण्ठ शास्त्री ने किया था। इस समुल्लास में स्वामीजी ने इस बात को दोहराया है कि इस समालोचना का उद्देश्य सत्य की वृद्धि और असत्य का ह्रास करना ही है। किसीको दुःख देना वा हानि करना अथवा मिथ्या दोष लगाना स्वामीजी को इष्ट नहीं है।

स्वामीजी ने ईसाइयों से बहुत-से शास्त्रार्थ किये थे और उस समय ईसाई और मुसलमान दोनों ही हिन्दू मत-मतान्तरों पर बड़ा निष्ठुर प्रहार करते थे तथा हिन्दुओं को ईसाई-मुसलमान बनने की प्रेरणा देते थे। स्वामीजी ने इस्लाम तथा ईसाइयत दोनों की पुस्तकों से ऐसे-ऐसे उद्धरण उपस्थित कर दिये कि सत्यद्रष्टा को यह समझ में आने लगा कि जितना असत्य गपोड़ा हिन्दुओं के पुराणों में है, उससे अधिक ईसाई और मुसलमानों के धर्मग्रन्थों में उपस्थित है। कई विद्वान् समालोचक इसलिये स्वामी दयानन्दजी को हिन्दुत्व के लिये रणारूढ़ योद्धा का रूप देते हैं और यह है भी सही कि विधर्मियों के आक्रमण से स्वामी दयानन्द बहुत दुःखी थे, किन्तु उद्देश्य उनका सत्य-असत्य का निर्णय करना ही था। स्वामीजी लिखते हैं :

> "मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्य-असत्य का निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है, जितना अपना पठित वा श्रुत है, उतना निश्चय कर सकता है। यदि एक मत वाले दूसरे मत वालों के विषयों को जानें और अन्य न जानें तो यथावत् सम्वाद नहीं हो सकता; किन्तु अज्ञानी किसी भ्रमरूप बाड़े में घिर जाते हैं।" पृ० 742

ईसाई पादरी हिन्दु धर्मशास्त्रों के बारे में जानते भी हैं और समालोचना भी करते हैं, किन्तु हिन्दू ईसाइयों के बारे में बहुत कम जानकारी रखते थे। ईसाई मत की जानकारी भी सबको हो सके एतदर्थ स्वामीजी ने यह समुल्लास ईसाइयों के सम्बन्ध में लिखा है।

त्रयोदश समुल्लास

13 वें समुल्लास का शीर्षक स्वामीजी ने **"अथ कृश्चोनमत विषयं व्याख्यास्यामः"** लिखा है। स्वामीजी ने ईसाइयों के मत के विषय में जो लिखा है उसके सम्बन्ध में इतना ध्यान कर लेना आवश्यक है कि उस समय इस देश पर ईसाइयों का राज्य था। शासक अपने को अपने शासन में रहने वाले शासित लोगों से बढ़कर, अच्छा माने तो क्या आश्चर्य है ? ईसाई लोग अपनेको हिन्दुस्तानियों से बढ़-चढ़ कर मानते थे। हिन्दुस्तानियों को सब प्रकार से हीन समझते थे। और अवमानना की दृष्टि से देखते थे। वे भारत के ऋषियों को, वेदशास्त्रों को, सभीको नीची निगाह से देखते थे। और इस चेष्टा में रहते थे कि भारतवासियों के धर्म, विचार, व्यवहार तथा ऋषि-मुनियों की ऐसी आलोचना की जाय कि भारतवासी ईसाई मत की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लें और ईसाई बन जाँय। इसीलिये स्वामीजी की समालोचना इस उलहने से समन्वित-सी दिखायी पड़ती है। स्वामीजी पद-पद पर ईसाईमत की निःसारता सिद्ध करेंगे।

तौरेत का विषय :

स्वामीजी ने सर्वप्रथम तौरेत का विषय आरम्भ किया है। स्वामीजी की समालोचना के पश्चात् और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रचार के कारण वैज्ञानिकों और विचारकों ने बाइबल की समालोचना की है। स्वामीजी और अन्य उदारचेता लोगों की आलोचनाओं के फलस्वरूप बाइबल के अनुवादों में परवर्ती समय में सुधार किया गया है। अतः आज की उपलब्ध बाइबल में स्वामीजी द्वारा लिखित पाठ यदि न मिले तो यह उनकी भूल नहीं है अपितु वास्तविकता यह है कि ईसाई अनुवादकों ने उत्तरवर्ती अनुवादों में कई प्रकार के सुधार तथा परिवर्त्तन किये हैं।

आरम्भ में ही स्वामीजी ने सृष्टि उत्पत्ति के प्रसङ्ग को लिया है। ईश्वर ने आकाश और पृथ्वी को बनाया। पृथ्वी बेडौल और सूनी थी। ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था, इत्यादि तौरेत में लिखा है।

स्वामीजी ने प्रति-शब्द-समीक्षा की है। परमेश्वर ने पृथ्वी को बेडौल क्यों बनाया ? इस पर स्वामीजी लिखते हैं—"बाइबल में ईश्वर की सृष्टि वेडौल लिखी, इसलिये यह पुस्तक ईश्वरकृत नहीं हो सकता।"

पृ० 745

स्वामीजी कई और प्रकार की समालोचनाएँ करके कई प्रश्न उठाते हैं। बाइबल में लिखा है कि आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथ्वी को बनाया। स्वामीजी छूटते ही प्रश्न करते हैं कि आरम्भ का क्या अर्थ है ? ईसाई लोग आरम्भ का अर्थ इस सृष्टि का आरम्भ या इससे पूर्व भी कभी सृष्टि थी ? कई सृष्टियाँ थीं, किसका आरम्भ ? इन प्रश्नों का ये उत्तर नहीं दे सकते, ये नहीं जानते, क्योंकि बाइबल में यह बात सुस्पष्ट नहीं है कि आरम्भ का क्या अर्थ है। स्वामीजी ने पहले झटके में ही बड़ी तीखी समालोचना की। बाइबिल में तो लिखा नहीं है कि इससे पहले भी सृष्टि थी, अतः ईसाई नहीं जानते कि आरम्भ का अर्थ इस सृष्टि का आरम्भ हैं या क्या ? स्वामीजी समालोचना करते हैं :

> "जब नहीं जानते तो इस पुस्तक पर विश्वास क्यों किया ? क्योंकि जिससे सन्देह का निवारण नहीं हो सकता और इसीके भरोसे लोगों को उपदेश कर इस सन्देह से भरे मत में क्यों फँसाते हो ? और निःसन्देह सर्वशङ्का निवारक वेदमत का स्वीकार क्यों नहीं करते ? जब तुम ईश्वर की सृष्टि का हाल नहीं जानते तो ईश्वर को कैसे जानते होगे ?" पृ० 744

ईसाइयों के अनुसार ईश्वर सनाई पर्वत वा चौथे आसमान पर है और सृष्टि की आदि में ईश्वर का आत्मा जल पर डोलता था। स्वामीजी ने समालोचना की कि ईश्वर का आत्मा क्या पदार्थ है और व्यापक परमात्मा का कहीं जल पर डोलना कभी हो नहीं सकता, जो परमेश्वर विभु और सर्वव्यापक है वह एक देशीय नहीं हो सकता। "जिस पदार्थ का स्वरूप एक देशीय है उसके गुण-कर्म-स्वभाव भी एक देशीय होते हैं। जो ऐसा है तो वह ईश्वर नहीं हो सकता।" पृ० 745

सूर्यादि की उत्पत्ति :

ईसाइयों के धर्मग्रन्थों में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन अत्यन्त अवैज्ञानिक है। ईश्वर ने कह दिया और सूर्य हो गया। परमेश्वर ने पानियों के मध्य में आकाश बनाया। यह सब ऐसी बातें हैं जिसे ईसाई भी कैसे स्वीकार कर सकेंगे, बिना आकाश के जल था भी कहाँ। इसी प्रकार ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप से बनाया। स्वामीजी कहते हैं, यदि आदम ईश्वर के स्वरूप में ही बना था तो फिर ईश्वर का पवित्र स्वरूप, ज्ञान, आनन्द आदि सब आदम में क्यों न हुआ ?

तौरेत में लिखा है कि ईश्वर ने भूमि की धूल से आदम को बनाया। स्वामीजी का सीधा आक्षेप है :

> "जब ईश्वर ने आदम को धूलि से बनाया तो ईश्वर का स्वरूप नहीं हुआ। और जो है तो ईश्वर भी धूलि से बना होगा। ....इसलिये यह तौरेत की बात ठीक नहीं विदित होती और यह पुस्तक भी ईश्वरकृत नहीं है।" पृ० 749

अब ईश्वर ने आदम को गहरी नींद में सुलाकर उसकी एक पसली निकाली और उस पसली की जगह मांस भर दिया और आदम की पसली से एक नारी बनायी। यह विचित्र सृष्टि विज्ञान है। स्वामीजी कहते हैं नारी को भी धूलि से ही बना देता और फिर जब एक पसली निकाल ली थी तो मनुष्यों में एक पसली कम होनी चाहिये थी। स्वामीजी लिखते हैं :

> 'देखो विद्वान् लोगो ! ईश्वर की कैसी पदार्थ विद्या अर्थात् फिलासफी झलकती है। जो आदम की एक पसली निकाल कर नारी बनायी तो सब मनुष्यों की एक पसली कम क्यों नहीं होती और स्त्री के शरीर में एक पसली होनी चाहिये क्योंकि वह एक पसली से बनी हुई है। क्या जिस सामग्री से जगत् बनाया उस सामग्री से स्त्री का शरीर नहीं बन सकता था। इसलिये बाइबिल का यह सृष्टिक्रम सृष्टिविद्या से विरुद्ध है।" पृ० 749-750

बाइबिल में शैतान की कहानी आती है। शैतान ने आदम और ईव को बहकाया। उन्हें ज्ञान के वृक्ष का फल खिलाया और परमेश्वर ने सबको शाप दिया। स्त्री को गर्भधारण के कष्ट का शाप, पुरुष और साँप के वश में दुश्मनी, साँप पुरुष को एँड़ी में काटेगा और पुरुष साँप का सिर कुचलेगा आदि। यह सब पढ़कर लगता है कि जैसे कोई जंगली चतुर-सयानों की कहानी हो। स्वामीजी समीक्षा करते हैं :

> "जो ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ होता तो इस धूर्त अर्थात् शैतान को क्यों बनाता। और जो बनाया तो वही ईश्वर अप-राध का भागी है।" पृ० 751

साँप मनुष्य की भाषा भी नहीं बोल सकता और उसने तो सच ही कहा था तो यह शैतान क्यों? वह तो सत्यवादी था, झूठ तो ईश्वर ने कहा था सो बाइबिल में शैतान सत्यवादी और ईश्वर बहकाने वाला था। स्वामीजी कहते हैं इस तरह की बातें ईश्वरकृत ग्रन्थ में नहीं हो सकतीं। आदम निर्दोष था और उसे अदन के बाग से निकालना, यह सब मनुष्य का काम हो सकता है। स्वामीजी लिखते हैं—"बाइबिल में जहाँ कहीं ईश्वर की बात आती है, वहाँ मनुष्य के तुल्य ही लिखी जाती है।" पृ० 753

ईश्वर को भेंट चढ़ाना, पहरा रखवाना, भेंड़ की भेंट लेना इत्यादि मनुष्यों के जैसे कार्य हैं। बाइबल में ईश्वर का वर्णन मनुष्यों के जैसाही है। तौरेत में लिखा है कि हनूक (Henoch) मतूसिलह (Mathu-sala) को उत्पत्ति के पीछे 300 वर्षों तक ईश्वर के साथ-साथ चलता था। स्वामीजी लिखते हैं : "भला ईसाइयों का ईश्वर मनुष्य न होता तो हनूक के साथ-साथ क्यों चलता? इससे जो वेदोक्त निराकार ईश्वर है उसको ईसाई लोग मानें तो उनका कल्याण होवे।" पृष्ठ 755

आदम की सुन्दरी बेटियाँ और ईश्वर के पुत्र, उनका विवाह, आदमी को पृथ्वी पर उत्पन्न करने से परमेश्वर का पछताना और फिर परमेश्वर का धमकाना, ये सब बहुत बचपने जैसी बातें हैं। ईश्वर के

बेटे थे तो स्त्री रही होगी, और सम्बन्धी भी रहे होंगे, अतः "किन्तु यह सिद्ध होता है कि उन जंगली मनुष्यों ने यह पुस्तक बनाया है।" पृ० 756

नूह की नाव :

बाइबल में नूह की नाव का वर्णन है। नूह की नाव की लम्बाई 300 हाथ, चौड़ाई 50 हाथ और ऊँचाई 30 हाथ थी। नूह अपनी पत्नी, बेटे और बहुओं के साथ प्रलयकाल में सारे जीवधारी प्राणियों के दो-दो अपने साथ ले गया। यह सब परमेश्वर का आदेश था। जो संसार की जीव विद्या जानते हैं वे इस व्यवस्था पर कैसे विश्वास कर सकेंगे? यह सब विद्याविरुद्ध है।

> "इतनी बड़ी, चौड़ी, ऊँची नाव में हाथी-हथिनी, ऊँट-ऊँटनी आदि क्रोड़ों जन्तु और उनके खाने-पीने की चीजें, वे सब कुटुम्ब के भी समा सकते हैं? यह इसीलिये मनुष्यकृत पुस्तक है। जिसने यह लेख किया है, वह विद्वान् भी नहीं था।" पृ० 757

ईश्वर ने नूह और उसके बेटों को हरी तरकारी के समान पशु-पक्षियों को खाने का आशीर्वाद दिया। स्वामीजी लिखते हैं कि ईसाइयों का ईश्वर दयाहीन है, कसाईवत् काम करता है—"इसलिये ईसाइयों का ईश्वर निर्दय होने से पापी क्यों नहीं?" पृ० 758

बाइबल में लिखा है कि सारी पृथ्वी पर एक ही बोली और एक ही भाषा थी। परमेश्वर ने सलाह की कि उनकी भाषा को गड़बड़ावें जिससे एक दूसरे की बोली न समझें और परमेश्वर ने उन्हें सारी पृथ्वी पर छिन्न-भिन्न किया। स्वामीजी लिखते हैं कि एक भाषा और बोली से लोगों को बड़ा आनन्द होता रहा होगा। ईश्वर ने यह सब बिगाड़ कर शैतान का काम किया।

> यह ईसाइयों के ईर्ष्यक ईश्वर ने सबकी भाषा गड़बड़ा के सबका सत्यानाश किया। उसने यह बड़ा अपराध किया। क्या यह शैतान के काम से भी बुरा काम नहीं है?..............
> ......यह बिना एक अविद्वान् के ईश्वर की बात और यह ईश्वरोक्त पुस्तक क्यों कर हो सकता है?" पृ० 759

बाइबल ईश्वरकृत नहीं है और यह किसी सभ्य, पढ़े-लिखे, शिष्ट मनुष्य की रचना भी नहीं है। स्वामीजी ने इसे सिद्ध करने के लिये बाइबिल की समालोचना बहुत विस्तार से की है। ईसाई लोग हिन्दुओं के पुराण-ग्रन्थ के असम्भव तथा बुद्धि-विपरीत एवं अशिष्ट प्रसङ्गों का वर्णन-खण्डन बड़ी निष्ठुरता से किया करते थे और साथ ही बाइबल की बड़ाई और अपने पैगम्बर के चरित्र की महत्ता बड़े बल से किया करते थे। स्वामीजी ने इस तरह सैकड़ों मुद्दे के उठाये जिनसे बाइबल का एक धर्म-ग्रन्थ के रूप में सुस्पष्ट पर्दाफाश हो जाता हैं। बाइबल में वर्णित पैगम्बरों की कहानियाँ, उनके जीवन की घटनाएँ एवं उनके आचार-विचार प्रायः अपढ़, असभ्य एवं शिष्टाचार के विरुद्ध थे। स्वामीजी की समालोचना देखकर ईसाई इतने घबड़ा गये कि उन्हें लेने के देने पड़ गये। जहाँ वे हिन्दू के पुराण-ग्रन्थों की समालोचना करके हिन्दुओं को ईसाई बनाने का स्वप्न देखते थे वहाँ उन्हें अपने घर को संभालना और अपने धर्मग्रन्थ को विद्या-बुद्धि एवं तर्क की कसौटी पर खरा उतारना बड़ा कठिन हो गया। स्वामीजी की समालोचनाएँ इतनी सटीक और दोटूक हैं कि जल्दी उनका उत्तर कुछ बनता ही नहीं। हमने कुछ नमूने ऊपर दिखाये हैं। विस्तारभय के कारण हम सत्यार्थप्रकाश के इस त्रयोदश समुल्लास से कुछ थोड़ी-सी बानगी की सूचनामात्र एकत्र कर रहे हैं।

अबिरहाम "अब्राहम" ने अपनी पत्नी को बहन बनाया, मिथ्या भाषण किया, ईश्वर ने खतना कराने जैसे निर्दय आदेश दिये। खतना कराना यदि ईश्वर को इष्ट था तो उसने चमड़ी को बनाया ही क्यों और ईसाई लोग अब खतना क्यों नहीं कराते, इत्यादि समालोचनाएँ हैं। बाइबल में ईश्वर के काम जादूगर, इन्द्रजाली पुरुषवत् हैं। ईश्वर ने जंगली लोगों की तरह बछड़े का मांस और मक्खन-रोटी का भोजन किया। स्वामीजी लिखते हैं :

> ...... "इससे विदित होता है कि जंगली मनुष्यों की एक मण्डली थी। उनका जो प्रधान मनुष्य था उसका नाम बाइबल में ईश्वर रखा होगा। इन्हीं बातों से बुद्धिमान् इनके पुस्तक को ईश्वरकृत नहीं मान सकते।" पृ० 762 ....

तौरेत में ऐसे भी प्रसंग आते हैं जहाँ परमेश्वर चढ़ता है नगरों पर सद्दूम (Sodom) और अमूर (Gomorha) पर गन्धक और आग बरसता है। एक प्रसंग में तौरेत में पुत्रियों ने पिता लूत (Lot) को शराब पिलायी और उसीसे गर्भवती हुईं। परमेश्वर ने सरः नामक स्त्री को गर्भवती किया। इस प्रकार अनेक ऐसी बातें हैं जो परमेश्वरकृत नहीं हो सकतीं।

ईसाई लोग मुर्दों को गाड़ते हैं और वैदिक सिद्धान्त के अनुसार मुर्दों को जलाना उचित है। स्वामीजी ने मुर्दा गाड़ने का अनौचित्य और जलाने का औचित्य विस्तार से सिद्ध किया है।

स्वामीजी ने तौरेत से अनेकों उदाहरण देकर उनकी समालोचना करके यह सिद्ध किया है कि जिसे ईसाई लोग तौरेत में परमेश्वर कहते हैं, वह निश्चितरूप से कोई मनुष्य था और वह अधिक पढ़ा-लिखा न था। ईश्वर का शरीरधारी होना, मल्ल युद्ध करना, इत्यादि वर्णन मिलता है।

तौरेत यात्रा की पुस्तक में एक प्रसङ्ग पर यह भी वर्णन आता है कि मूसा जब डर कर भाग निकला तो उसे ईश्वर ने अपने पास बुलाया और जूता उतार कर आने को कहा। स्वामीजी कहते हैं—"देखो, जब तुम्हारे ईश्वर ने मूसा से कहा कि पवित्र स्थान में जूती न ले जानी चाहिये तो तुम ईसाई इस आज्ञा के विरुद्ध क्यों चलते हो?" पृ० 773

ईश्वर ने मूसा को जादूगरी भी दिखायी। परमेश्वर ने आधी रात में सारे पहिलौठों को पशुओं के पहिलौठे समेत सबका नाश कर दिया। स्वामीजी कहते हैं कि "यह तो डाकू के समान निर्दय कार्य हैं? ऐसा काम ईश्वर का तो क्या किसी साधारण मनुष्य के करने का भी नहीं है।"
पृ० 776

ऐसी बहुत-सी अन्यायपूर्ण बातें स्पष्ट कर स्वामीजी ने रविवार की पवित्रता का प्रश्न उठाया है। क्या 6 दिन बुरे थे, वे अपवित्र क्यों और 7वें दिन में क्या विशेषता थी कि परमेश्वर ने उसे आशीष दिया?

परमेश्वर के लिये बैल की बलि दी गयी और वेदी पर रक्त छिड़का गया, इत्यादि बहुत सारे प्रपञ्च आते हैं।

12

लैव्य व्यवस्था की पुस्तक (The book of leviticus) में लिखा है कि परमेश्वर ने बैल, गाय आदि पशुओं की बलि स्वीकार की। परमेश्वर ने स्वयं बछिया की बलि माँगी, बकरे के बच्चों की भेंट स्वीकार की। स्वामीजी इन सब प्रसङ्गों की समालोचना करके लिखते हैं :

> "वाह जी वाह, यदि ऐसा है तो इनके अध्यक्ष अर्थात् न्यायाधीश तथा सेनापति आदि पाप करने से क्यों डरते होंगे?"
>
> पृ० 78?

जहाँ इस तरह के उपदेश होंगे वहाँ पाप प्रवृत्ति का बढ़ना स्वाभाविक है।

गिनती (Numbers) की पुस्तक में लिखा है कि परमेश्वर ने गदही का मुँह खोला और उससे बातें भी कीं। तौरेत में गिनती 31/17 18 में लिखा है : "सो अब लड़कों में से हर एक बेटे को और हर एक स्त्री को जो पुरुष से संयुक्त हुई हो, प्राण से मारो। परन्तु वे बेटियाँ जो पुरुष से संयुक्त नहीं हुई हैं उन्हें अपने लिये जीवित रखो।" पृ० 785

स्वामीजी ने ऐसे प्रसङ्गों को देखकर समालोचना की है कि "मूसा विषयी था, क्योंकि जो विषयी न होता, तो अक्षतयोनि अर्थात् पुरुषों से समागम न की हुई कन्याओं को अपने लिए क्यों मँगवाता?"

स्वामीजी ने तौरेत की समुएल और राजाओं की भी बहुत सारी बेतुकी बातों की समालोचना की है।

स्वामीजी ने "जबूर" की भी समालोचना की है। जबूर में लिखा है कि परमेश्वर ने इसराइल पर मृत्यु का प्रकोप कर दिया और 17,000 लोगों को मार डाला। यह कोई निर्दय-निष्ठुर ही कर सकता है। स्वामीजी ने ऐयुब की पुस्तक और उपदेश की पुस्तक की समालोचना की है। इसके पश्चात्—"यह थोड़ा-सा तौरेत जबूर के विषय में लिखा है। इसके आगे कुछ मत्ती रचित आदि इञ्जील के विषय में लिखा जाता है कि जिसको ईसाई लोग बहुत प्रमाणभूत मानते हैं, जिसका नाम इञ्जील रखा है, उसकी परीक्षा थोड़ी-सी लिखते हैं।" पृ० 789

मत्ती (Mathew) रचित इञ्जील में ईसामसीह के जन्म की बात लिखी है। मसीह की माँ मरयम पति से सम्पर्क होने से पूर्व ही पवित्र आत्मा से गर्भवती हो गई और दाऊद को स्वप्न आया कि तुम्हारी स्त्री में जो गर्भ रहा है वह पवित्र आत्मा से है। स्वामीजी समीक्षा करते हैं कि ऐसी बात न कोई विद्वान् कह सकता है न मान सकता है। बाइबल की ऐसी बातें प्रत्यक्ष और सृष्टिक्रम के विरुद्ध हैं। परमेश्वर का नियम कोई तोड़ नहीं सकता। इस प्रकार मरियम का पवित्र आत्मा से गर्भवती होना वैसा ही असत्य और पाखण्ड है जैसा सूर्य से कुन्ती का गर्भवती होना पुराणों में लिखा है।

ईश्वर ने शैतान के द्वारा ईशु की परीक्षा करवायी और चमत्कार कराकर 40 दिन भूखा रखा और फिर पत्थर को रोटियाँ बनाने का चमत्कार कराया। स्वामीजी ने इस तरह की बातों की समालोचना की है।

तौरेत में 10 आज्ञाओं में लिखा है : "सन्तान लोग अपने माता-पिता की सेवा और मान करें जिससे उनकी उमर बढ़े।"

> इसपर स्वामीजी लिखते हैं : "सो ईसा ने न अपने माता-पिता की सेवा की, और दूसरों को भी माता-पिता की सेवा से छुड़ाये। इसी अपराध से चिरञ्जीवी न रहा।" पृ० 792

स्वामीजी ईसाई पादरियों से सावधान रहने की सलाह देते हैं :

> "इससे सब विद्वान् आर्यों को उचित है कि स्वयं इनके भ्रमजाल से बचकर अन्य अपने भोले भाइयों के बचाने में तत्पर रहें।" पृ० 792

बाइबल में ईसामसीह के करिश्मों का भी वर्णन है। स्वामीजी ने उन करिश्मों का खण्डन किया है। बाइबल में लिखा है कि जो मन से दीन होते हैं उन्हें ही स्वर्ग मिलता है। स्वामीजी समालोचना करते हैं कि मन से दीन व्यक्ति कभी सन्तोष लाभ नहीं करता और बाइबल में अपने लिये पृथ्वी पर धन का सञ्चय करना निषेध है। स्वामीजी

समालोचना में पूछते हैं : "तो ईसाई लोग अपने लिये धन सञ्चय क्यों करते हैं ? ईसामसीह स्वर्ग में अपने अनुकूल न चलने वालों को नहीं पहचानते । लगता है कि अपने को स्वर्ग में न्यायाधीश बनाना चाहते थे ।"

ईसामसीह के करिश्मों में एक करिश्मा यह लिखा है कि ईसामसीह ने हाथ बढ़ाकर कोढ़ी को छुआ और उसका कोढ़ शुद्ध हो गया । स्वामीजी ने समीक्षा में लिखा है :

> "ये सब बातें भोले मनुष्यों को फँसाने की हैं, क्योंकि जब ईसाई लोग इन विद्या सृष्टिक्रम-विरुद्ध बातों को सत्य मानते हैं तो शुक्राचार्य, धन्वन्तरि, कश्यप आदि की बातें जो पुराणों में और महाभारत में लिखी हैं..............धन्वन्तरि ने लाखों मुर्दे जिलाये, लाखों कोढ़ी आदि रोगियों को चङ्गा किया, लाखों बहरे और अन्धों को कान और आँखें दीं, इत्यादि कथा को मिथ्या क्यों कहते हैं ? जो उक्त बातें मिथ्या हैं तो ईसा की बात मिथ्या क्यों नहीं । ....इसलिये ईसाइयों की बातें केवल हठ और लड़कों के समान हैं ।" पृ० 795

बाइबल में कब्रिस्तान से भूतों का निकलना, उनका ईशुमसीह से विनय करना और भूतों का सुअरों के झुण्ड में प्रवेश और सारे सूअरों का पानी में डूब मरना, आदि बातें लिखी हैं । स्वामीजी ने इस तरह विद्याविहीन गपोड़ों की समालोचना की है ।

बाइबल में ईशुमसीह ने पापियों के पाप क्षमा किये हैं । अर्द्धाङ्गी का अर्द्धाङ्ग ठीक किया है । स्वामी दयानन्द की सुस्पष्ट समीक्षा है कि किया हुआ पाप भोगना ही पड़ता है, यही ईश्वर का न्याय है । ईशुमसीह ने अपने 12 शिष्यों को अशुद्ध भूतों को निकालने और हर एक रोग और हर एक व्याधि को चङ्गा करने का आदेश दिया, यहीं लिखा है :

> "मत समझो कि मैं पृथ्वी पर मिलाप करवाने आया हूँ । मैं मिलाप करवाने को नहीं, परन्तु खड्ग चलवाने को आया हूँ । मैं मनुष्यों को उसके पिता से और बेटी को उसकी माँ से और

पतोहू को उसकी सास से अलग करने आया हूँ। मनुष्य के घर के ही लोग उसके वैरी होंगे।" इञ्जील 10-1, 34-36.

स्वामीजी समीक्षा करते हैं कि ये वही शिष्य लोग थे जिन्होंने 30 रुपये के लोभ से ईसा को पकड़वाया। रोग और भूत-व्याधियों से छूटना बिना औषधि आदि के नहीं हो सकता। लोगों में फूट डालना भी अच्छी बात नहीं है। घर के लोगों को घर के लोगों का ही शत्रु बनाना श्रेष्ठ पुरुष का काम नहीं है। बाइबल में रोटियों से स्त्रियों और बालकों को छोड़कर 4 सहस्र पुरुषों को खाकर तृप्त होने की बात लिखी है। इस तरह के इन्द्रजाली कथनों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। ईसामसीह स्वयं भी भूख से कष्ट पाये थे। यदि ऐसा था तो ईसामसीह भूख के कारण गूलर के फल खाने पर क्यों बाधित हुए थे ?

ईसामसीह अपने शिष्यों को भी निष्पाप, विश्वासी और पवित्र न बना सके थे। बाइबल में सृष्टिक्रम-विरुद्ध और अशिक्षापूर्ण बातें भरी पड़ी हैं। आजकल शिक्षा के युग में ऐसी बातों का क्या काम ?

> "भला जो कुछ भी ईसा में विद्या होती तो ऐसी अटाटूट जंगलीपन की बातें क्यों कह देता..........वैसे महाजंगली अविद्वानों के देश में ईसा का भी होना ठीक था। पर आजकल ईसा की क्या गणना हो सकती है ?" पृ० 801

बाइबल में स्वर्ग में प्रवेश करने के लिये बालकों के समान मन बनाने की बात कही है। स्वामीजी कहते हैं कि फिर तो पाप-पुण्य, अच्छे-बुरे कर्मों का कोई विचार ही न रहा। बाइबल में लिखा है: "ईश्वर के राज्य में धनवान् के प्रवेश करने से ऊँट का सूई के नाके में से जाना सहज है।" स्वामीजी लिखते हैं कि धनी हो या गरीब, जो अच्छा काम करे वह अच्छा और जो बुरा काम करे वह बुरा है। धनी-गरीब का क्या मतलब ? ईश्वर का राज्य किसी देश-विशेष में मानना, यह भी अविद्या की बात है। फिर ईसाइयों में भी बड़े धनाढ्य हैं, क्या वे सब नरक में जायेंगे और दरिद्र सब स्वर्ग में जायेंगे। वस्तुतः जो धर्ममार्ग में चलता है वह उत्तम है।

बाइबल में लिखा है : "जिस किसी ने मेरे नाम के लिये घरों का भाइयों वा बहनों वा पिता वा माता वा स्त्री वा लड़कों वा भूमि को त्यागा है, सो सौ गुन पावेगा और अनन्त जीवन का अधिकारी होगा।" यह भी ईसा की भारी लीला है। बाइबल में इसराइल के कुल के साथ सब गुनाह माफ लिखा है। स्वामीजी लिखते हैं :

> "अनुमान होता है, इसीसे ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो, तो भी बहुधा निरपराधी कर पाप से छोड़ देते हैं। ऐसा ही ईसा के स्वर्ग का भी न्याय होगा।' पृ० 803

यहाँ यह विशेष ध्यान देने की बात है कि अभी अंग्रेजों का राज्य आरम्भिक स्थिति में था। सन् 1857 का विद्रोह दबाया जा चुका था। लेकिन अंग्रेज अपने शासन में बड़ी कठोरता रखते थे। अंग्रेजी राज्य के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द की इतनी तीव्र प्रतिक्रिया और दोटूक अंग्रेजी शासन और उसके धर्म को रगड़ देना, यह स्वामी दयानन्द जैसे अदम्य साहसी संन्यासी का ही काम हो सकता था।

स्वामीजी ने बाइबल से 133 प्रसंगों को उद्धृत करके ईसाईमत का खण्डन किया है। ईसाई लोग स्वर्ग-नरक को अनन्तकाल तक मानते हैं। स्वामीजी का सुस्पष्ट तर्क है—"अन्तवाले साधन और कर्मों का फल अन्तवाला होना चाहिये।" अतः अनन्त स्वर्ग-नरक बुद्धिविपरीत है।

ईसामसीह ने गूलर के वृक्ष को शाप दे दिया था क्योंकि ईसा को तो भूख लगी थी और गूलर में फल न थे, केवल पात थे। गूलर का पेड़ ईसा के शाप से सूख गया। यह जहाँ ईसा में क्षमा-शान्ति का अभाव दीखता है वहाँ उनमें निरर्थक क्रोध का दोष था। स्वामीजी कहते हैं कि ईसा को ऋतु का भी ज्ञान न था। हमेशा वृक्ष में फल नहीं होते। इसी प्रकार तारों का आकाश से गिरना, सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश बन्द हो जाना आकाश की सेना आदि बहुत कुछ लिखा है। स्वामीजी कहते हैं यदि योरोप में आजकल की तरह उन्नति और विद्या होती तो

ईसा की इन बातों को कोई नहीं मानता। ईसा अपनी बातों का विश्वास दिलाते हैं कि आकाश और पृथ्वी टल जायेंगे, पर मेरी बात न टलेगी। आकाश में तो टलना हो ही नहीं सकता और आत्मश्लाघा अच्छा काम नहीं है। बहुत सारे प्रसङ्गों को लिखकर स्वामीजी लिखते हैं : "इसलिये ईसा ईश्वर का न बेटा, और न बाइकल का ईश्वर, ईश्वर हो सकता है।" पृ० 806

ईसा के शिष्य ने 30 रुपये लेकर ईशुमसीह को पकड़वा दिया था। यहाँ न वह शिष्य ईसा की सङ्गति से सज्जन बन सका था और न ईसा-मसीह की अपनी ही करामातें काम आयीं। ईसामसीह ने शोक भी किया, उदास भी रहा। यदि ईसा ईश्वर का बेटा, त्रिकालदर्शी और विद्वान् होता तो यह सब न हो पाता। ईसामसीह की बड़ी दुर्गति हुई। लोगों ने मारा-पीटा भी। स्वामीजी कहते हैं :

> "जिसका इतना भी सामर्थ्य वा प्रताप नहीं था कि अपने चेले को दृढ़ विश्वास करा सके और वे चेले चाहे प्राण भी क्यों न जाते, तो भी अपने गुरु को लोगों से न पकड़ाते, न मुकरते, न मिथ्या भाषण करते, न झूठी क्रिया खाते।" पृ० 809

ईसामसीह भी कुछ करामात न कर सके। इससे तो समाधि चढ़ा अथवा अन्य किसी प्रकार से प्राण छोड़ना अच्छा होता। ईसा ने अपने अभियोग के समय कोई प्रमाण भी न दिया। स्वामीजी कहते हैं—"जो सच था, वह वहाँ अवश्य कह देता तो भी अच्छा होता।" पृ० 810

"जिन्होंने ईसा पर झूठ दोष लगाकर मारा, उनको भी उचित न था। क्योंकि ईसा का उस प्रकार का अपराध नहीं था, परन्तु वे भी तो जङ्गली थे, न्याय की बातों को क्या समझे?" पृ० 810

ईसामसीह ईश्वर का बेटा बनने का दावा करते हैं, किन्तु बड़े कष्ट के साथ उनको मारा गया। स्वामीजी सारे प्रसङ्गों को लिखकर लिखते हैं :

> "सर्वथा ईशु के साथ उन दुष्टों ने बुरा काम किया,

परन्तु ईशु का भी दोष था क्योंकि ईश्वर का न कोई पुत्र और न वह किसी का बाप है।" पृ० 812-813

बाइबल में ईशु के जी उठने और स्वर्ग का राज्य मिलने की बात है। ये सब बातें बुद्धि-विरुद्ध हैं। मरकर कोई नहीं जीता। तीन दिनों में तो शरीर सड़ जाता है।

स्वामीजी ने मूलतः इन्हीं तर्कों पर बाइबल के अलग-अलग लेखकों द्वारा लिखित अंशों की समीक्षा की है। उन्होंने मार्क (Mark) द्वारा रचित इञ्जील, Luke द्वारा रचित इञ्जील, योहन (John) द्वारा रचित इन्जील सबकी समीक्षा की है। योहन के रचित अंश का कुछ अधिक विस्तार में विचार किया है। योहन ने लिखा है कि वचन के द्वारा सब कुछ सृजा गया है। स्वामीजी की समीक्षा है "वचन के द्वारा कभी सृष्टि नहीं हो सकती, जबतक उसका कारण न हो। और वचन के बिना भी चुपचाप रहकर कर्त्ता सृष्टि कर सकता है।" पृ० 816 बाइबल में शैतान को बहकाने वाला बताया गया है। स्वामीजी कहते हैं कि "सबको शैतान बहकाता है तो शैतान को कौन बहकाता है।"

पृ० 816

ईसाई लोग ईसा को ईश्वर-पुत्र बताते हैं। यह भी तो बहकाना ही है। ईसामसीह अपने को ईश्वर का पुत्र बताते हैं, अपने को ही मार्ग, सत्य और जीवन बताते हैं, फिर उपदेश करते हैं कि बिना मेरे द्वारा कोई पिता—'ईश्वर' के पास नहीं पहुँचता है। स्वामीजी इन सबको प्रपञ्च मानते हैं। क्या ईसामसीह ने ईश्वर को अपना पिता बनाकर ईश्वर का ठेका ले लिया और अपने को ही मार्ग, सत्य और जीवन बताना ईसामसीह का एक ओर जहाँ अभिमान या दम्भ है, वहीं साधारण मनुष्य को प्रलोभन देकर अपना अनुगामी बनाने का चक्कर है। ईसामसीह ने कहा है, "मैं तुमसे सच कहता हूँ जो मुझपर विश्वास करे, जो काम मैं करता हूँ, उन्हें वह भी करेगा और इनसे बड़े काम करेगा।"—योहन की बाइबिल 14-12. स्वामीजी समीक्षा करते हैं "अब देखिए जो ईसाई

लोग ईसा पर पूरा विश्वास रखते हैं, वैसे ही मुर्दे जिलाने आदि काम क्यों नहीं कर सकते।.........तो किसके हिये की आँख फूट गई है जो वह ईसा को मुर्दे जिलाने आदि काम का कर्त्ता मान लेवे ?" पृ० 818

स्वामीजी लिखते हैं कि इञ्जील में बहुत जगह अन्यथा बातें भरी हैं। स्वर्ग में सिंहासन, सोने के मुकुट, अग्निदीपक, सिंहासन के चारों ओर प्राणी जो आगे और पीछे के नेत्रों से भरे हैं, स्वर्ग में पुस्तक जिसे ईसा ने खोला, इत्यादि लिखा है। यह सब मिथ्या माहात्म्य की बातें हैं। स्वर्ग में ईशा के 7 सींग और 7 नेत्र हो गये। वे 7 सींग ईश्वर की आत्मा थीं। इस तरह की बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिन्हें विद्वान् न्यायप्रिय लोग नहीं स्वीकार करते। आकाश से कच्चे गूलरों की तरह तारे पृथ्वी पर गिर पड़े और आकाश पत्र की तरह लपेटा जाता है। इस तरह की बातें भूगोल-खगोल के विरुद्ध हैं। ईश्वर ने इस्राएल और यिहूदा की सन्तानों पर छाप लगायी। यह सब पक्षपात की बातें बाइबल में लिखी हैं। स्वर्ग में धूप, दीप, आग आदि का वर्णन है। बाइबल में पृथ्वी पर दूत द्वारा टिड्डियों की भरमार करने का वर्णन है। स्वर्ग में 20 करोड़ घुड़सवारों की सेना का वर्णन है। सोचने की बात है कि 20 करोड़ घोड़ों की लीद से कितनी दुर्गन्ध होती होगी।

स्वर्ग से दूत का उतरना, मेघ का ओढ़ना, मेघ का धनुष, सूर्य की तरह मुँह, आग के खम्भों की तरह पाँव इत्यादि का वर्णन है। स्वामीजी इस प्रकार की कथाओं को पुराणों और भाटों की कथाओं से भी बढ़कर बताते हैं। स्वर्ग में ईसाइयों के मन्दिर बनाना, उन्हें लक्ष्मी से नापना इत्यादि गपोड़े की बातें लिखी हैं। बाइबल में लिखा हैं—स्वर्ग में एक स्त्री सूर्य को पहने हुए है, चाँद उसके पाँव तले है, वह गर्भवती होके चिल्लाती है। स्वर्ग में एक बड़ा अजगर है उसके 7 सिर और 10 सींग हैं, उसने अपनी पूँछ से आकाश के एक तिहाई तारों को खींचकर पृथ्वी पर डाल दिया। स्वामीजी ने ऐसी विद्याहीन बातों को उजागर करके लोगों को इस प्रकार के मसीही प्रपञ्च में गिरने से बचा लिया। ....

ईश्वर ने दियाबल और शैतान (Devil & Satan) को नीचे गिरा दिया, क्योंकि वह संसार को भरमाने वाला था। स्वामीजी कहते हैं— इन शैतानों को बन्दी बना लेते या मार डालते, पृथ्वी पर क्यों डाल दिया। शैतान पृथ्वी पर आकर मनुष्यों को बहकावेगा। शैतान ने 42 मास ईश्वर से युद्ध किया, इत्यादि सब ऐसी बुद्धिविपरीत बातें बाइबल में लिखी हैं।

बाइबल में ईश्वर के कोप को कुण्ड में डाला गया और इसके कुण्ड में से (लोहू) रक्त 100 कोस तक बह गया। ये सब असम्भव बातें लिखी हैं। रक्त तो वायु लगते ही जम जाता है, यह कैसे हो सकता है ?

ईश्वर ने स्वर्ग में साक्षियों के लिये तम्बू खोला। यह ईश्वर की सर्वज्ञता का भारी मजाक है। सर्वज्ञ के लिए साक्षी की क्या आवश्यकता? ईश्वर ने कर्मों का दूना फल दिया। स्वर्ग में मेमना का विवाह हुआ। शैतान को कैद में डाल दिया इत्यादि ऐसी लीलाएँ हैं जो भोले अनपढ़ लोगों को बहकाने जैसी लगती हैं।

बाइबल में पृथ्वी और आकाश का भागना लिखा है। परमेश्वर के पास बही-खाता है और उसमें भी लेखा लिखा जाता है। बाइबल में स्वर्ग की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई सबका वर्णन दिया है। सब एक समान है, साढ़े सात सौ कोस का है, सोने का नगर और सूर्यकान्त मणि से जुड़ाई की हुई है। 12 फाटक 12 मोती जड़े हुए हैं, सड़कें स्वच्छ और काँच के समान निर्मल सोने की हैं। इस प्रकार अशिक्षित, असभ्य, पिछड़े लोगों को फुसलाने का ढङ्ग है। स्वामीजी लिखते हैं—यह गपोड़ा पुराण का भी बाप है।

ईसामसीह अनेकों के पाप का भार ले लेता है, फिर उस पाप से मुक्त होकर स्वर्ग में कैसे जाएगा। स्वर्ग में ईसा और ईश्वर सिंहासन पर बैठे हैं, इत्यादि सब विद्याविहीन बातों का वर्णन है। अन्त में स्वामीजी लिखते हैं—"अब कहाँ तक लिखें, इनकी बाइबल में लाखों बातें खण्डनीय हैं.........थोड़ी-सी बातों को छोड़ शेष सब झूठ हैं।" पृ० 837

इस प्रकार स्वामीजी ने एक सौ तैंतीस विचार बिन्दुओं को उभारा है और बाइबल की विद्याविहीन और साम्प्रदायी बातों का खण्डन करके लोगों को ईसाई प्रचारकों के फन्दे में फँसने से बचाया है।

अनुभूमिका : IV

स्वामीजी ने उत्तरार्द्ध के चारों समुल्लासों पर अलग-अलग अनुभूमिकाएँ लिखी हैं। 14वें समुल्लास की अनुभूमिका का भी विशेष महत्त्व है। 14वें समुल्लास में स्वामीजी ने मुसलमानों के मत के विषय में लिखा है। मुसलमानों का मत कुरान और हदीस के आधार पर चलता है। हदीसों की मान्यता के सम्बन्ध में मुसलमानों के पन्थों में एकमत नहीं है। हदीसों को कोई मानते हैं कोई नहीं मानते। किन्तु कुरान को सभी मानते हैं। इसलिये स्वामीजी ने 14वें समुल्लास का विचार और उसकी समीक्षा कुरान के आधार पर की है। और हदीसों को छोड़ दिया है। सम्पूर्ण कुरान को सभी मुसलमान समानरूप से मानते हैं। कुरान पर ही मुसलमान पूरा-पूरा विश्वास करते हैं। अतः 14वें समुल्लास की समीक्षा का आधार केवलमात्र कुरान है।

14वें समुल्लास के सम्बन्ध में एक और विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि जिस समय स्वामीजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा था तबतक कुरान का कोई हिन्दी अनुवाद नहीं छपा था। किन्तु विद्वान् मौलवियों ने कुरान का अर्थ उर्दू में लिखा था। स्वामीजी ने "उस अर्थ का देवनागरी अक्षर और आर्य भाषान्तर—हिन्दी अनुवाद—कराकर, पश्चात् अरबी के बड़े-बड़े विद्वानों से शुद्ध करवाकर" फिर समीक्षा लिखी है। इतिहास की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि स्वामीजी ने कुरान का हिन्दी अनुवाद कराया। पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक की एक सूचना है कि देवनागरी अक्षरों में कुरान का वह अनुवाद परोपकारिणी सभा, अजमेर के संग्रह में सुरक्षित है। ऋषि दयानन्द के पत्रों और विज्ञापनों के आधार पर भी पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने लिखा है कि कुरान शरीफ के संशोधन का कार्य "गुड़हट्टा" पटना निवासी मुन्शी मनोहरलाल ने किया था।

स्वामीजी अपने निश्चय और उद्देश्य को पुनः दोहराते हैं : "यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिये है।"

स्वामीजी फिर लिखते हैं :

> "जो-जो भलाई है, वही भलाई और जो-जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके। और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये जाने पर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने या माने। किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता।" पृ० 839

स्वामीजी सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सदा उद्यत रहते थे और मानवजाति का उपकार करना उनके जीवन का उद्देश्य था। बड़ी भावुकता से स्वामीजी लिखते हैं :

> **"सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंगुर जीवन में पराये हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है।"** पृ० 839

स्वामीजी के जीवन में मुसलमानों के साथ उनके बहुत-से शास्त्रार्थ हुए थे। मुसलमानों ने कुछ आक्रामक पुस्तकें भी लिखी थीं। स्वामीजी ने शास्त्रार्थ तो ईसाइयों और पौराणिक हिन्दुओं से भी किया था, किन्तु मुसलमानों में सहनशीलता की कमी और आक्रामकता का निखार कुछ अधिक ही था। इसलिये स्वामीजी ने लिखा है :

> "इसमें जो कुछ भी विरुद्ध लिखा गया हो उसको सज्जन लोग विदित कर देंगे। तत्पश्चात् जो उचित होगा तो माना जायेगा, क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, द्वेष, ईर्ष्या, वादविवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है न कि इनको बढ़ाने के अर्थ। **क्योंकि एक दूसरे को हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुँचाना हमारा मुख्य कर्म है।"** पृ० 839

चतुर्दश समुल्लास

इस समुल्लास को आरम्भ करते हुए स्वामीजी लिखते हैं : "**अथ यवनमत विषयम् व्याख्यास्यामः।**" यहाँ यवन मत से अभिप्राय मुसलमान मत है। स्वामीजी ने कुरान की आयतों का सन्दर्भ मञ्जिल, सिपारा, सूरत के भेद से ब्योरा लिखा है। कुरान का आरम्भ इस प्रकार होता है : "आरम्भ साथ नाम अल्लाह के क्षमा करने वाला दयालु।" स्वामीजी इस आरम्भिक आयत से सर्वप्रथम तो यह सिद्ध करते हैं कि यह लेख किसी मनुष्य का है जिसने अल्लाह के नाम के साथ लिखना आरम्भ किया। "क्योंकि जो परमेश्वर का बनाया होता तो आरम्भ साथ नाम अल्लाह के, ऐसा न कहता। किन्तु आरम्भ वास्ते उपदेश मनुष्यों के ऐसा कहता।" इस आयत में ईश्वर को क्षमा करने वाला और दया करने वाला कहा है। यदि अल्लाह दयालु है तो दूसरे प्राणियों को मार कर मांस खाने की आज्ञा न देता। आज भी "कसाई आदि मुसलमान 'गाय आदि के गले काटने में भी 'विस्मिल्लाह' इस वचन को पढ़ते हैं।" पृ० 841. यदि सब कुछ ईश्वर के नाम के साथ आरम्भ होगा तो बुराइयों का आरम्भ भी ईश्वर से ही हो जायेगा। क्या अल्लाह पापियों को भी क्षमा करेगा? फिर काफिरों को क्यों न क्षमा किया, उन्हें कत्ल करने का हुक्म क्यों दिया?

कुरान में अल्लाह को न्याय के दिन का मालिक लिखा है। स्वामीजी की समीक्षा बड़ी सरल है। क्या खुदा अन्य दिनों का मालिक नहीं है? और क्या अन्य दिनों अथवा नित्य खुदा न्याय नहीं करता? अतः इस तरह के लेख ईश्वर के नहीं हो सकते।

अल्लाह ने कुरान का उपदेश अरबी में किया। अरबी अरब वालों की भाषा है। इसका पढ़ना उनके लिये सुगम और दूसरों के लिये कठिन है। ईश्वर इस तरह के पक्षपात की बातें नहीं कर सकता। "जैसे परमेश्वर ने सृष्टिस्थ सब देशस्थ मनुष्यों पर न्यायदृष्टि से सब देश भाषाओं से विलक्षण संस्कृत भाषा, कि जो सब देश वालों के लिये एक से परिश्रम से

विदित होती है, उसीमें वेदों का प्रकाश किया है, वैसे करता तो यह दोष नहीं होता।" पृ० 844

कुरान के अनुसार कुरान से पहले भी अल्लाह की ओर से पुस्तकें उतारी गयी थीं। स्वामीजी कहते हैं कि यदि मुसलमान ऐसा विश्वास करते हैं कि बाइबल और इञ्जील आदि परमेश्वर के भेजे हुए सन्देश ही हैं तो मुसलमान जैसा विश्वास कुरान पर करते हैं वैसा बाइबल इञ्जील आदि पर क्यों नहीं करते ? और फिर जब एक पुस्तक दे ही दी तो क्या खुदा उसमें लिखना कुछ भूल गये थे जो दूसरी पुस्तक देने की आवश्यकता पड़ी। मुसलमानों की मान्यता के अनुसार जो लोग कुरान, अल्लाह, कयामत आदि पर विश्वास नहीं करते थे और उनको सबको बहिश्त नहीं, दोज़ख मिलेगा। अब विचारने की बात यह हुई कि बहिश्त या दोज़ख जीवन और चरित्र से नहीं बल्कि विश्वास के कारण मिल रहा है। अन्य मतों में सदाचारी, सद्विचारी, अच्छे जीवन और आचरण के लोग हैं, उनको काफिर कहना अनुचित है। कुरान में लिखा है कि अन्य मत वालों के अन्तःकरण और कान पर परमेश्वर ने मुहर लगा दी है तो फिर यह दोष परमेश्वर का है, अन्य मतस्थ लोगों का क्या दोष है ?

कुरान में लिखा है—"उनके दिलों में रोग हैं, अल्लाह ने रोग बढ़ा दिया।" 1-1-2-10

इस पर स्वामीजी समीक्षा करते हैं : "भला बिना अपराध खुदा ने उनको रोग बढ़ाया, दया न आयी। पृ० 846

दूसरों के दुःख का बढ़ाना कोई अच्छा काम नहीं। रोग आदि अपने पाप कर्मों के फल हैं।

कुरान में भूगोल विरुद्ध बात यह लिखी है कि पृथ्वी तुम्हारे लिये बिछौना और आसमान को छत बनाया है। आसमान को छत करना पक्की अविद्या की बात है। कुरान में एक प्रसङ्ग पर यह कहा हुआ है कि यदि कुरान पर सन्देह है तो कुरान जैसी कोई आयत सूरत ले आवे। स्वामीजी कहते हैं कि अकबर बादशाह के समय में मौ० फैजी ने बिना

नुक्तों की कुरान की पुस्तक बना दी थी, फिर कुरान की आयतों में ऐसा क्या विन्यास है जो मनुष्य के लिये असम्भव हो। कुरान में लिखा है कि काफिरों के वास्ते पत्थर तैयार किये गये हैं और मनुष्य दोज़ख की आग का ईंधन है। यह भी साम्प्रदायिकता की बात हुई। इसी तरह से पुराणों में लिखा है कि म्लेच्छों के लिये नरक बना है और कुरान में लिखा है कि काफिरों के लिये दोज़ख की आग है। स्वामीजी लिखते हैं: "इन सबका झगड़ा झूठा है किन्तु जो धार्मिक हैं वे सुख और जो पापी हैं, वे सब मतों में, दुख पावेंगे।" पृ० 847

कुरान में लिखा है कि ईमान लाने वालों के लिये और अच्छे काम करने वालों के लिये बहिश्त है। जिनके नीचे नहरें चलती हैं, उनमें मेवों के भोजन दिये जावेंगे, उनके लिये पवित्र बीबियाँ वहाँ सदा रहने वाली हैं।

इस पर स्वामीजी की समीक्षा है कि यह बहिश्त तो संसार जैसा ही हुआ, वहाँ वही कुछ मिलता है जो इस संसार में मिलता है। हाँ, इतना विशेष है कि इस संसार में पुरुष जन्मते-मरते हैं, किन्तु स्वर्ग में स्त्रियाँ सदा रहती हैं। स्वामीजी के अनुसार यह बहिश्त गोकुलिये गोसाइयों के गोलोक और मन्दिर के सदृश दीखता है। वहाँ स्त्रियों की जितनी मान्यता है, उतनी पुरुषों की नहीं।

कुरान में लिखा है कि खुदा ने आदम को सारे नाम सिखाये और फिर फरिश्तों के सामने कहा कि यदि तुम सच्चे हो तो मुझे उनके नाम बताओ। आदम ने अनेक नाम बता दिये। यह एक प्रकार से दूसरे फरिश्तों को धोखा देना हुआ। अपनी बड़ाई करना हुआ, यह सब परमेश्वर का काम नहीं हो सकता।

परमेश्वर ने शैतान से कहा था कि तुम आदम को दण्डवत करो, किन्तु शैतान काफिर था, उसने खुदा का कहना न माना। स्वामीजी लिखते हैं कि इस प्रकार खुदा सर्वज्ञ नहीं था नहीं तो शैतान को पैदा ही क्यों करता। खुदा में कोई तेज भी नहीं था, वह शैतान का कुछ

भी न कर सका। एक शैतान ने यदि खुदा के छक्के छुड़ा दिये तो जहाँ करोड़ों काफिर और शैतान होंगे वहाँ खुदा की क्या चलेगी ?

खुदा ने आदम को बनाया किन्तु आदम को और उसकी स्त्री को यथेष्ट आने जाने की छूट दी किन्तु आदेश दिया कि उस वृक्ष के (ज्ञान का वृक्ष) पास मत जाओ नहीं तो पापी हो जाओगे। स्वामीजी इस पर समीक्षा करते हैं कि यह तो खुदा की अल्पज्ञता की बात हुई। वह यह न जान सका कि आदम वृक्ष का फल खा लेगा। फिर वह वृक्ष बनाया ही किसके लिये था। उसी आदम को स्वर्ग में रहने का आशीर्वाद दिया था और अब क्यों वहाँ से निकाल रहे हैं। इसलिए ऐसी बातें न खुदा की न उनकी बनायी पुस्तक में हो सकती हैं। पृ० 849

एक और प्रश्न है, आदम स्वर्ग से पृथ्वी पर किस प्रकार आये ? वह बहिश्त कहाँ है ? क्या पक्षी की तरह उड़कर आये या पत्थर की तरह नीचे गिर पड़े ? फिर खुदा ने आदम को मिट्टी से बनाया था तो स्वर्ग में भी मिट्टी जरूर होगी और शरीर पार्थिव होगा तो पार्थिव शरीर की मृत्यु अवश्य होगी। इस तरह यह भी झूठा हो जायेगा कि स्वर्ग में बीबियाँ सदा रहती हैं, क्योंकि उनके भी पार्थिव शरीर का अन्त अवश्य होगा।

कुरान में लिखा है कि कयामत के दिन से डरो। उस दिन कोई जीव किसी जीव का न भरोसा करेगा न किसी की सिफारिश आदि ही सुनी जायगी। स्वामीजी कहते हैं कि बुरे काम से तो सब दिन डरना चाहिये, फिर पैगम्बर की गवाही या सिफारिश कैसे सुनी जायगी। बहिश्त वालों का पक्षपात खुदा का काम नहीं हो सकता।

मूसा की किताब :

कुरान में लिखा है :

"हमने मूसा को किताब और मौज़िज़े दिये।" पृ० 851

ईसा और मूसा दोनों ही पैगम्बर हजरत मुहम्मद से पहले के हैं। जब कुरान शरीफ में यह लिखा है कि मूसा को किताब और मौज़िज़े परमेश्वर ने दिये। तब एक सीधा प्रश्न हो जाता है कि फिर उसी किताब

में परमेश्वर ने सब शिक्षा क्यों न दे दी और मूसा के पश्चात् ईसामसीह के द्वारा बाइबल और हजरत मोहम्मद के द्वारा कुरान को देने की क्या आवश्यकता हुई ? एक और बात विचारणीय है कि क्या सभी ईसाई मूसा की किताब को और सभी मुसलमान मूसा और ईसा दोनों की किताबों को पूरे सम्मान के साथ ईश्वरीय ज्ञान का आदर देते हैं। सुस्पष्ट है कि नहीं, तो ये सभी पुस्तकें ईश्वर की नहीं हो सकतीं। स्वामीजी समीक्षा करते हैं :

"जो मूसा को किताब दी थी तो पुनः कु ान का देना क्या आवश्यक था ? क्योंकि जो भलाई-बुराई करने, न करने का उपदेश सर्वत्र एक-सा हो तो पुनः भिन्न-भिन्न पुस्तक करने से पुनरुक्त दोष होता है। क्या मूसाजी आदि को दी हुई पुस्तक में खुदा कुछ भूल गया था।" पृ० 85 ‚-852

कुरान में कहा है : "और कहो कि क्षमा माँगते हैं हम। क्षमा करेंगे तुम्हारे पाप और अधिक भलाई करने वालों के।" क्षमा करना पाप को सहारा देना है। क्षमा करने से न्याय का गला घुट जाता है और पापी पाप करने के लिये उत्साहित होता है। जब पाप क्षमा ही हो जाता है तो पाप करने से डर क्या ?

कुरान में लिखा है कि मूसा ने अपनी कौम के लिये पानी माँगा था। और उसे यह आदेश हुआ था कि वह पत्थर पर डण्डा मारे और उसमें से बारह चश्मे बह निकले। करिश्मों की ऐसी बुद्धिहीन बातें कई मतपन्थ वाले करते रहते हैं, किन्तु ये करिश्मे न बुद्धिसङ्गत हैं, न कभी हो सकते हैं। खुदा ने मुर्दों को जिला दिया और इसे खुदा की निशानी बताया गया है। तो खुदा इस युग में मुर्दों को क्यों नहीं जिलाता है। परमेश्वर की चमत्कारपूर्ण सृष्टि में परमेश्वर का बहुत कुछ निशान है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, संसार के नियम, अद्भुत रचना, सब तो परमेश्वर की ही निशानियाँ हैं। करिश्मे के वर्णन से आम लोगों को प्रभावित करने का उद्देश्य समझ में आता है।

कुरान के अनुसार बहिश्त सदा के लिये मिलता है। स्वामीजी कहते हैं कि बहिश्त, वैकुण्ठ, स्वर्ग, नरक सब पाप-पुण्य के फल हैं और सीमित कार्य का असीमित फल नहीं हो सकता। जितना पुण्य होगा उसके अनुसार सुख और जितना पाप होगा उतना दुःख ही कर्मफल की युक्ति-सङ्गत मीमांसा है।

कुरान में लिखा है : "जब हमने तुमसे प्रतीज्ञा करायी, न बहाना लोहू अपने आपस के और किसी अपने आपस को घरों से न निकालना। फिर प्रतीज्ञा की तुमने। इसके तुम ही साक्षी हो, फिर तुम वे लोग हो कि अपने आपस को मार डालते हो और एक फिरके में से उनके घरों से निकाल देते हो।" यह आयत सीधा ही बड़ो संसारी ही नहीं, स्वार्थपूर्ण और पक्षपातपूर्ण है। "भला यह कौन-सी भली बात है कि आपस का लोहू न बहाना, अपने मत वालों को घर से न निकालना, अर्थात् दूसरे मत वालों का लोहू बहाना और उन्हें घर से निकाल देना।" पृ० 85।

कुरान में लिखा है कि खुदा ने मूसा को किताब दी, मरियम के पुत्र ने ईसा को दैवी शक्ति दी। इसका यह अर्थ हुआ कि बाइबल भी मुसलमानों का धर्मग्रन्थ है। पर आज मुसलमान जो विश्वास कुरान पर रखते हैं वह बाइबल पर नहीं रखते और उसे ईश्वरीय पुस्तक कहना तो केवल मौखिक कहने की बात हुई।

कुरान में लिखा है : "आनन्द का सन्देश ईमानदारों को। अल्लाह, फरिश्तों, पैगम्बरों, जिबरईल (G::briel) और मिकाईल (Mechael) का जो शत्रु है, अल्लाह भी ऐसे काफिरों का शत्रु है।" स्वामीजी की समीक्षा है कि "जब मुसलमान कहते हैं कि खुदा लाशरीक है, फिर यह फौज की फौज शरीक कहाँ से कर दी। क्या जो औरों का शत्रु वह खुदा का भी शत्रु है। यदि ऐसा है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर किसी का शत्रु नहीं हो सकता।" पृ० 856-857

अल्लाह जिसे चाहते हैं उसे प्रधान बना देते हैं। यदि प्रधान होना कर्म का फल हो तब तो ठीक है और यदि मनमर्जी की बात है तो अच्छा

कर्म कौन करेगा। इस तरह के सिद्धान्त बड़े अहितकारी होते हैं। कुरान में लिखा : "ऐसा न हो कि काफिर लोग ईर्ष्या करके तुमको ईमान से फेर देवें।" स्वामीजी समीक्षा करते हैं कि : "खुदा ही उनको चिताता है कि तुम्हारे ईमान को काफिर लोग न डिगा देवें। क्या वह सर्वज्ञ नहीं है। ऐसी बातें खुदा की नहीं हो सकतीं।" पृ० 857

कुरान शरीफ में लिखा है : "तुम जिधर मुँह करो उधर ही मुँह अल्लाह का है।" यदि अल्लाह को सर्वव्यापक मान लें तब तो जिस ओर भी सुविधा-सहूलियत हो उस ओर मुँह करके प्रार्थना करने में कोई दोष नहीं। किन्तु मुसलमानों की तो यह भी मान्यता है कि वे किबले की ओर मुँह करते हैं। कुरान की आयत और मुसलमानों के व्यवहार में तालमेल नहीं हैं। स्वामीजी कहते हैं कि यदि किबले की ओर मुँह करने का भी हुक्म है तो किसी ओर भी मुँह करने का हुक्म भी तो है। फिर कौन-सा हुक्म सच्चा और कौन-सा झूठा ?

सर्वव्यापक परमेश्वर के मुख की कल्पना करना ठीक नहीं, और यदि मुख है ही तो एक ही ओर होगा, तथा सब ओर नहीं होगा। इसलिये यह असङ्गत बात है।

कुरान शरीफ में सृष्टि के होने की बात भी बड़े विचित्र ढङ्ग से दी हुई है। न कोई कारण, न कोई नियम। बस, खुदा ने कहा कि "हो जा" बस हो ज़ाता है। स्वामीजी कहते हैं कि खुदा का यह हुक्म किसने सुना, खुदा ने किसको हुक्म दिया कि हो जा। बिना कारण के कोई कार्य हो नहीं सकता, फिर यह संसार कैसे बना ? "जब यह लिखते हैं कि सृष्टि के पूर्व सिवाय खुदा के कोई भी दूसरी वस्तु न थी तो यह संसार कहाँ से आया ? बिना कारण कोई भी कार्य नहीं होता तो इतना बड़ा जगत् कारण के बिना कहाँ से हुआ।" पृ० 858

मुसलमानों का यह कहना है कि खुदा सर्वशक्तिमान् है, इसलिये जो चाहे वह कर सकता है। स्वामीजी का कहना है कि यह सर्वशक्तिमान् का अर्थ ही नहीं है। स्वामीजी प्रश्न करते हैं कि "क्या खुदा दूसरा खुदा

भी बना सकता है, अपने आप मर सकता है, मूर्ख, रोगी और अज्ञानी भी बन सकता है ?" पृ० 858

अतः संसार के निर्माण के लिये परमेश्वर न अपने नियमों का उल्लङ्घन करता और न दूसरो को गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध करता है।

कुरान में लिखा है कि खुदा ने—"लोगों के लिये काबे को पवित्र स्थान—सुख देने वाला बनाया।" विचित्र बात है। मुहम्मद साहब को हुए अभी लगभग 1400 वर्ष हो रहे हैं और इससे पहले क्या कोई पवित्र स्थान न बनाया था ? फिर पवित्र स्थान बनाने की आवश्यकता ही क्या पड़ी ?

खुदा ने "मस्जिदुलहराम" की ओर मुँह फेर कर नमाज पढ़ने को कहा। स्वामीजी कहते हैं कि यह तो पौराणिकों से भी बड़ी बुतपरस्ती है। मुहम्मद साहब ने छोटे बुत को निकाला और बड़े बुत को प्रविष्ट कर दिया। अतः मुसलमानों को मूर्त्तिपूजा के खण्डन का अधिकार नहीं है।

कुरान में लिखा है कि जो अल्लाह के मार्ग में मारे जाते हैं, वे मृतक नहीं किन्तु जीवित हैं। स्वामीजी की समीक्षा है कि यह तो अपना मतलब सिद्ध करने के लिये है। लोग खूब लड़ेंगे, मरने-मारने से न डरेंगे, खूब लूट-मार करेंगे। यह धर्म का व्यवहार नहीं।

अन्य मतों में भी धर्मात्मा लोग हैं तो क्या परमेश्वर उन्हें भी दण्ड देंगे ? शैतान को मनुष्यमात्र का शत्रु कहा है फिर खुदा ने शैतान को बनाया ही क्यों, और जो शैतान सबको बहकाता है, उसको बहकाने वाला कौन है ?

कुरान में लिखा है कि "तुम पर मुर्दार लोहू और गोश्त सूअर का हराम है और अल्लाह के बिना जिस पर कुछ पुकारा जावे।" स्वामीजी लिखते हैं कि "मुर्दा चाहे अपने आप मरे या किसी के मारने से, मृतकपन में तो दोनों बराबर हैं। जब एक सूअर का निषेध किया तो क्या मनुष्य का मांस खाना उचित है।" पृष्ठ 862-863

कुरान में रोजे की रात को हलाल माना है और मदनोत्सव की सिफ़ारिश की है। स्वामीजी कहते हैं कि रोजे का व्रत चन्द्रायण व्रत

का रूप है. फिर स्त्री-समागम, रात में अनेक बार खाना, यह सब विचित्र ही है। दिन में न खाना और रात में खाना, यह सृष्टिक्रम के विरुद्ध है।

कुरान में लिखा है कि "अल्लाह के मार्ग में लड़ो उनसे जो तुमसे लड़ते हैं, मार डालो तुम उनको जहाँ पाओ, कत्ल से कुफ्र कुरा है।" स्वामीजी कहते हैं कि मुसलमानों ने जो अन्य मत वालों पर इतने अन्याय किये हैं या करते हैं वे सब कुरान की इसी प्रकार की शिक्षाओं का फल है।

कुरान में लिखा है कि खुदा जिसको चाहे अनन्त रिजक देवे। स्वामीजी कहते हैं कि यदि खुदा की मर्जी से ही पदार्थ मिल जाय तो पाप-पुण्य, भलाई-बुराई सब एक जैसा ही हो गया। फिर परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? कुरान में स्त्रियों को—बीबियों को खेती लिखा है और यथेच्छ व्यवहार करने को लिखा है। यह बीबियों के प्रति अन्याय है और मनुष्यों को विषयी बनाने का साधन है।

कुरान में खुदा को उधार देना और उसको दो गुना अल्लाह की ओर से चुकाना इत्यादि लिखा है। यह व्यापारियों का काम है और एक का दो-दो देना दिवालियों को करना पड़ता है, ईश्वर को नहीं।

कुरान में लिखा है कि अल्लाह सूर्य को पूरब से ले आता है बस तू पश्चिम से ले आ। सही बात तो यह है कि सूरज न कहीं आता है और न कहीं जाता है। यह सब खगोल और भूगोल विद्या के विरुद्ध बातें हैं। इसी प्रकार खुदा जिसे चाहते हैं उसे नीति देते हैं और जो ब्याज खाते हैं वे कब्रों से नहीं खड़े होंगे। ये सब बालबुद्धि जैसी बातें हुईं। ब्याज खाने वाले कब्र में कब तक पड़े रहेंगे। कयामत के दिन सबका न्याय होता है, इन ब्याज खाने वालों का क्या न्याय नहीं होगा?

कुरान में जो बहिश्त का वर्णन है, वहाँ नहरें चलती रहती हैं। सदा शुद्ध रहने वाली बीबियाँ हैं, इत्यादि। ये क्या बहिश्त हुआ, यह तो भोग विलास की जगह हो गयी। बहिश्त की बीबियाँ क्या सदा वहीं हैं या फिर जन्म कहीं हुआ और वे बहिश्त में गयीं। जैसे सदा रहने वाली बीबियाँ बनायीं वैसे पुरुष भी बना देते।

"निश्चय अल्लाह की ओर से दीन इस्लाम है।" कुरान की इस आयत पर स्वामीजी लिखते हैं : "क्या अल्लाह मुसलमानों का ही है औरों का नहीं? क्या 1300 वर्षों के पूर्व ईश्वरीय मत था ही नहीं? इसीसे यह कुरान ईश्वर का बनाया तो नहीं, किन्तु किसी पक्षपाती का बनाया है।" पृ० 870

कुरान 1-3-3-24-30 में यह लिखा है कि मुसलमानों को उचित है कि काफिरों को मित्र न बनावें और पैगम्बर को चाहें। तो इसका फल होगा कि अल्लाह ऐसे लोगों को चाहेंगे और उनके पाप क्षमा कर देंगे क्योंकि अल्लाह करुणामय है, यह भी विचित्र सी बात है। कहाँ मनुष्य-मात्र को ही नहीं बल्कि भूतमात्र को मित्र की दृष्टि से देखने की बात वेदों में कही गयी है और केवल मुसलमानों से मुसलमानों का मित्रता करना और फिर करुणामय अल्लाह उन्हींके साथ पक्षपात करेगा, यह एक ओर जहाँ अन्याय है, पक्षपात है वहाँ अल्लाह की भी विचित्र करुणा है।

कुरान में लिखा है कि फरिश्तों ने मरियम से कहा कि अल्लाह ने तुमको प्रसन्न किया है और संसार की स्त्रियों के ऊपर तुम्हें पवित्र किया है। अल्लाह के लिये किसी स्त्री को प्रसन्न करना और पवित्र करना, यह कुरान और बाइबल की ही शिक्षा हो सकती है। कुरान में 1-3-3-46-53 में यहाँ तक लिखा है कि "ईश्वर ने धोखा दिया, और ईश्वर बहुत मकर करने वाला है।" ऐसी बातें विद्वान्-बुद्धिमान् महात्मा भी नहीं कह सकते, भला ईश्वरीय पुस्तक में ये कैसे हो सकती हैं। स्वामीजी ने कुरान से बहुत-सारे उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि कुरान ईश्वरीय ग्रन्थ नहीं हो सकता।

मुसलमानों का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि खुदा लाशरीक है, अर्थात् खुदा के साथ और किसी की शिरकत नहीं। स्वामीजी कहते हैं यदि ऐसा है तो पैगम्बर पर ईमान लाना, खुदा पर ईमान लाने के साथ शरीक क्यों किया? कुरान में लड़ाई करने और लड़ाई में लगे रहने का आदेश है, इस तरह की शिक्षाएँ ईश्वरीय नहीं हो सकतीं।

कुरान में लिखा है कि मुसलमान का मुसल्मान को मारना योग्य नहीं। जो कोई मुसलमान का खून बहावे वह सदैव दोजख में रहेगा और गैर मुसल्मानों को जहाँ पावे वहाँ मार डाले। इस तरह की सलाह लड़ाई के समय दुश्मन की सेना के लिये दी जाय तब तो चाहे कुछ सोचा जाय, किन्तु अल्ला की ओर से मनुष्य-मनुष्य में यह भेद-भाव करना और मारने की प्रेरणा देना सर्वथा अनुचित है। कुरान में रसूल और मुसलमानों का विरोध करने वालों को दोज़ख की सजा दी गयी है।

कुरान में खुदा और शैतान का झगड़ा हुआ, यह भी आया है। शैतान खुदा से दबा नहीं और बागी बन गया। भला शैतान ने सबको गुमराह किया था, शैतान को किसने गुमराह कर दिया। खुदा ने शैतान और फरिश्तों से देहधारी लोगों की तरह बातें कीं। ये सब बातें विद्याहीनता की ही हो सकती हैं। कुरान में पृथ्वी पर झगड़ा न करने का उपदेश है, फिर जेहाद करने और काफिरों को मारने का भी उपदेश है। ये परस्पर विरुद्ध बातें हैं।

कुरान में लाठी का अजगर बन जाना, किसी को डुबाना और बनी इसरायल को पार उतारना ये सब, एक को डूबाना, दूसरे को उबारना, पक्षपात की बातें हैं। अल्लाह और रसूल के वास्ते 2-9-8-1 में लूटने के लिये लिखा है। अल्लाह और रसूल के लिये लूट-पाट करना, काफिरों को मारना इत्यादि शिष्ट जनसम्मत बातें नहीं हो सकतीं। कुरान में युद्ध को भड़काने और लूट के माल को हलाल (पवित्र) मानने की शिक्षा है। इससे लूट-मार बढ़ती है और यह तो इस्लामी इतिहास में भी प्रमाणित हो जाता है। काफिरों से लड़ने से बहिश्त मिलेगा, लूट का माल लेकर लूटने वालों को पवित्र कर दिया जायेगा। ये सब पक्षपात पूर्ण बातें हैं।

कुरान में लिखा है कि परमेश्वर ने 6 दिन में संसार की रचना की और फिर विश्राम किया, 3-11-10-3. दूसरी ओर 1-1-2-117 में लिखा है कि परमेश्वर ने कहा कि हो जा और संसार हो गया। ये

दोनों बातें परस्पर भी विरुद्ध हैं और ज्ञान-विज्ञान-सम्मत तो कभी हो ही नहीं सकतीं। कुरान के वर्णन में पदार्थ विद्या का विरोध है।

कुरान में खुदा के पास ऊँटनी होने की बात लिखी है। खुदा तख्त पर बैठते हैं। ये सब बातें मनुष्य में तो घट सकती हैं, सर्वव्यापक परमेश्वर में नहीं। फिर कुरान में मानवीय इतिहास और आञ्चलिक भूगोल का इतना वर्णन है कि किसी जगह विशेष में जगह विशेष की भाषा—अरबी में उपदेश करना, यह सब मनुष्य में ही घट सकता है।

कुरान में सूरज को कीचड़, पानी में डूबने की बात लिखी है। यह बात फिर भूगोल-विद्या-रहित है। "भला सूर्य तो पृथ्वी से बहुत बड़ा है, वह नदी वा झील वा समुद्र में कैसे डूब सकता है। इससे विदित हुआ कि कुरान को बनानेवाले को भूगोल-खगोल की विद्या नहीं थी।" पृ०903

मरियम के गर्भवती होने की कथा कुरान और बाइबल दोनों में आती है। कुरान में कथा यह है कि—खुदा की रूह फरिश्ता बनकर आयी और उसीसे मरियम गर्भवती हुई। स्वामीजी की समीक्षा बड़ी सरलता से समझ में आती है कि जब फरिश्ता खुदा की रूह था तो खुदा का ही रूप हुआ और इस प्रकार से खुदा के हुक्म से मरियम को गर्भवती करना अन्याय भी है। मरियम कुमारी थी। इस तरह की और बहुत बातें इन आयतों में आयी हैं जिन्हें स्वामीजी ने यह लिख कर छोड़ दिया है कि उनको लिखना उचित नहीं समझा।

पाप क्षमा करना, तोबा करना और ऐसे सिद्धान्तों से पापवृत्ति का बढ़ाना तो आगे भी आ चुका है। कुरान में यह भी वर्णन है कि खुदा ने पृथ्वी के बीच में पहाड़ इसलिए खड़ा कर दिये कि ऐसा न हो कि पृथ्वी हिल जाय। यह सब भूगोल-खगोल न जानने का फल है।

खुदा का घर बनाना और फिर उसकी परिक्रमा करना, फिर उसे भेंट चढ़ाना, इत्यादि बातें भी कुरान में आती हैं। स्वामीजी समीक्षा करते हैं :

"और जब परमेश्वर का घर है तो वह उसी घर में रहता

भी होगा, फिर बुतपरस्ती क्यों न हुई ? दूसरे बुतपरस्तों का खण्डन क्यों करते हैं ? जब खुदा भेंट लेता है, अपने घर की परिक्रमा करने की आज्ञा देता है और पशुओं को मरवा कर खिलाता है तो यह खुदा मन्दिर वाले भैरव-दुर्गा के सदृश हुआ और महाबुतपरस्तों का चलाने वाला हुआ। क्योंकि मूर्त्तियों से मस्जिद बड़ा बुत है। इससे खुदा और मुसलमान बड़े बुतपरस्त और पुराणी और जैनी छोटे बुतपरस्त हैं।" पृ० 907

कुरान का सिद्धान्त है कि खुदा लाशरीक है। उसका कोई शरीक नहीं। उससे किसी की शिरकत नहीं। फिर कुरान में यह भी लिखा है कि सब कोई अल्लाह की और उसके रसूल की आज्ञा पालन करें ताकि उनके ऊपर दया की जाय। यदि ऐसा है तो खुदा की शिरकत हो गई और वह लाशरीक नहीं रह गया। "जब उत्साह के साथ पैगम्बर का आज्ञा-पालन करना होता है तो खुदा लाशरीक हो गया या नहीं। यदि ऐसा है तो क्यों खुदा को लाशरीक कुरान में लिखा और कहते हो ?"
पृ० 908

कुरान में आकाश का फटना, काफिरों का कहा न मानना, और उनके साथ बड़ा झगड़ा करने का आदेश है। स्वामीजी कहते हैं कि इस तरह के आदेश शान्ति को भङ्ग करने वाले और झगड़ा-गदर मचाने वाले हैं।

कुरान में हजरत मूसा को ईश्वरीय सन्देश मिलने की बात लिखी है, फिर हजरत मुहम्मद को भी इलहाम हुआ। इस पर स्वामीजी ने यह समीक्षा की है :

"जब खुदा ने मूसा की ओर वही भेजी, पुनः दाऊद मुहम्मद की ओर किताब भेजी, क्योंकि परमेश्वर की बात सदा एक-सी और बिना भूल होती है और उसके पीछे कुरान तक पुस्तकों का भेजना, पहली पुस्तक को अपूर्ण भूलयुक्त माना जायेगा। यदि ये तीन पुस्तक रूप में हैं तो यह कुरान झूठा

होगा। चारों का जो कि परस्पर प्रायः विरोध रखते हैं उनका सर्वथा सत्य होना नहीं हो सकता।" पृ० 910

कुरान के अनुसार खुदा ने रूह को पैदा किया। स्वामीजी कहते हैं कि "जो पैदा हुआ है वह मरेगा भी। यह खुदा ने रूह अर्थात् जीव पैदा किया है तो वे मर भी जायेंगे, अर्थात् उनका कभी नाश और कभी अभाव भी होगा।" पृ० 910

कुरान में कई करिश्मे की बातें हैं—जैसे पत्थर से ऊँटनी का पैदा होना। ये सब विद्याविहीन बातें हैं। इन पर बुद्धिमान् लोग विश्वास नहीं करते। ईश्वर सातवें आसमान पर रहता है। वह बड़े अर्श अर्थात् सातवें आसमान का मालिक है, तो ईश्वर एकदेशीय हो जाता है। कुरान में पुनरुक्त और पूर्वापर विरोधी बातों का वर्णन है।

कुरान में नूह की आयु साढ़े नौ सौ वर्ष की लिखी गयी है। स्वामीजी लिखते हैं कि यदि तब "प्रथम मनुष्यों की 50 हजार वर्ष की आयु होती थी तो अब क्यों नहीं होती। इसलिये यह बात ठीक नहीं।"

कुरान शरीफ में मुहम्मद हजरत का जो जीवन आया है उसे अन्याय से परे, विषय-वासना से रहित नहीं समझा जा सकता। बहु-विवाह आदि बहुत-सारी बातों का वर्णन है। कुरान में मुसलमानों और मुसलमानों की स्त्रियों को दुःख देना बुरा बताया गया है। स्वामीजी कहते हैं कि मनुष्य मात्र को दुःख न देने की बात सिखानी चाहिए।

कुरान शरीफ में मुर्दों को जिन्दा करने की बात लिखी है। सदा रहने वाले घर का वर्णन है। बहिश्त का वर्णन विषय-भोग की जगह की तरह है। कुरान की ये सब बातें निन्दनीय हैं। बाग-बगीचे, मौज-मस्ती, मेवे-शराब आदि का स्वर्ग में वर्णन निश्चित रूप से विषय-भोग का वर्णन है।

कुरान शरीफ में वर्णन आता है कि खुदा ने अपने दोनों हाथों से आदम को बनाया। स्वामीजी समीक्षा करते हैं : "इससे सिद्ध होता है कि कुरान का खुदा दो हाथों वाला मनुष्य था, इसलिये वह सर्वव्यापक

वा सर्वशक्तिमान कभी नहीं हो सकता। और शैतान ने सत्य कहा था— मैं आदम से उत्तम हूँ। इसपर खुदा ने गुस्सा क्यों किया ?

कुरान शरीफ में मुहम्मद साहब की कई स्त्रियों आदि के सम्बन्ध में वर्णन आता है, जिसे खुदा की व्यवस्था मानी गयी है। स्त्रियाँ, बादियाँ आदि प्रसङ्ग देखने से ये सारे वर्णन ईश्वरीय पुस्तक की मर्यादा से बहुत हल्के हो जाते हैं।

खुदा का तख्त :

इसलाम का सिद्धान्त है कि खुदा लाशरीक है किन्तु कुरान में लिखा है कि आसमान फट जायेगा और आठ फरिश्ते पैगम्बर के तख्ते को उठावेंगे। यहाँ खुदा के साथ तख्त को शिरकत भी हो गयी। स्वामीजी समीक्षा करते हैं कि भला आकाश भी कभी फट सकता है और तख्त पर बैठने वाला निश्चित रूप से शरीरधारी होगा। तख्त पर बैठना, आठ कहारों द्वारा उठाना, यह शरीरधारी एकदेशीय में ही सम्भव है, और जो एकदेशीय होगा वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वामीजी ने कुरान के तर्क-विपरीत सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

कुरान में सात आसमानों को उत्पन्न करने की बात लिखी है। निराकार आकाश को सात तल्ला बनाने की बात भी बुद्धि में नहीं बैठेगी। कुरान में मस्जिदों को अल्लाह का घर लिखा है और यह आदेश दिया है कि अल्लाह के साथ किसी को मत पुकारो। यहाँ स्वामीजी मुसलमानों का कलमा "लाइलाह इल्लिलाः मुहम्मदर्रसूलल्लाः" उद्धृत करते हैं और प्रश्न करते हैं कि अल्लाह के साथ मुहम्मद साहब को पुकारना कुरान के आदेश के विरुद्ध हो गया। स्वामीजी आगे कहते हैं "जब मस्जिदें खुदा के घर हैं तो मुसलमान महाबुतपरस्त हुए।"

कुरान में सूर्य और चाँद को इकट्ठा करने की बात लिखी हुई है। एक तो यह भूगोल विपरीत बात है, दूसरे केवल सूर्य और चाँद को ही एकत्र करना अन्य लोक-लोकान्तरों को इकट्ठा न करने में कोई युक्ति नहीं है। ये सब विद्याविहीन बातें हैं।

कुरान में मोती जैसे लड़के और उनको शराब पिलाना आदि लिखा हुआ है। ये सब कामुकता की बातें ईश्वरकृत नहीं हो सकतीं।

कुरान में सूर्य का लपेटना, तारों का गँदला होना, पहाड़ का चलाया जाना, आसमान की खाल उतारना आदि बड़ी समझ से बाहर की बातें लिखी हुई हैं। कुरान में खुदा के लिये मकर करने की बात लिखी हुई है 8-30-86-15-16. स्वामीजी कहते हैं :

> क्या खुदा भी ठग है और चोरी का जवाब चोरी और झूठ का जवाब झूठ है। क्या कोई चोर भले आदमी के घर में चोरी करे तो क्या भले आदमी को चाहिये कि उसके घर में जाकर चोरी करे। वाह जी वाह, कुरान के बनाने वाले।" पृ० 944

कुरान में दोज़ख का लाना, खुदा की ऊँटनी को पानी पिलाना और ऊँटनी को मार डालना, ऊँटनी के पाँव काटना आदि लिखा है। स्वामीजी लिखते हैं कि अरब देश में ऊँटनी के सिवाय दूसरी सवारियों कम होती हैं। इससे सिद्ध होता है कि किसी अरब देशवासी ने कुरान बनाया है। खुदा की ऊँटनी और फिर पैर का काटना और मारना आदि खुदा के आध्यात्मिक तत्त्व को बहुत हल्का बना देते हैं। कुरान में कुरान को अंधेरी रात में उतारने की बात लिखी हुई है। इसका अर्थ यह हुआ कि कुरान को एक ही रात में उतारा गया। कुरान के विद्वान् कुरान की आयतों के सम्बन्ध में व्याख्या देते हैं कि किस समय कौन-सी आयत उतरी। ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं।

समुल्लास का समापन

कुरान के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अपनी मान्यता इस प्रकार लिखी है :

> "मुझसे पूछो तो यह किताब न ईश्वर, न विद्वान् की बनायी और न विद्या की हो सकती है। "............जो कुछ इसमे थोड़ा-सा सत्य है यह वेदादि विद्या पुस्तकों के अनुकूल होने से जैसे मुझको ग्राह्य है वैसे अन्य भी मज़हब के हठ और पक्षपात रहित विद्वानों को ग्राह्य है।" पृ० 947

अन्त में स्वामीजो परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं :

"परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सबसे सब प्रीति, परस्पर मेल और एक दूसरे की उन्नति करने में प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना वा दूसरे मत-मतान्तरों को दोष, पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूँ, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् लोग करें तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एकमत हो के सत्य की प्राप्ति सिद्ध हो?" पृ० 947

क्या मुसलमान मत अथर्ववेद में है?

सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ को देखने से ऐसा लगता है कि चतुर्दश समुल्लास समाप्त हो जाने के पश्चात् स्वामीजी को यह सूचना मिली कि कुछ लोग इसलाम का आरम्भ अथर्ववेद से बताते हैं। ऋषिग्रन्थों के इतिहासों के लेखक महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक की टिप्पणी से यह प्रतीत होता है कि कलकत्ता के "भारत मित्र" पत्र में गुरुवार श्रावण सुदी 6 संवत् 1940 विक्रम में एक समाचार छपा था जिसमें अल्लोपनिषद् में मुहम्मद साहब को रसूल लिखा हुआ है। स्वामीजी इसका उत्तर देते है :

"यदि तुमने अथर्ववेद न देखा हो तो हमारे पास आओ, आदि से पूर्ति तक देखो, अथवा जिस किसी अथर्ववेदी के पास 20 काण्ड युक्त मन्त्र संहिता अथर्ववेद को देख लो, कहीं तुम्हारे पैगम्बर साहब का मत वा निशान न देखोगे।" पृ०949

अल्लोपनिषद् में अरबी और संस्कृत के पद साथ-साथ प्रयोग किये गये हैं। मत-मतान्तरों के काल में नृसिंहतापिनी, रामतापिनी, गोपालतापिनी, जैसी बहुत-सी उपनिषदें साम्प्रदायिकोंने बना लीं।[1] उसी

---

1. ईसाइयों ने भी खृष्टोपनिषद् नाम की एक उपनिषद् खृष्ट "ईशुमसीह" के सम्बन्ध में सम्पूर्ण संस्कृत श्लोकों में बनायी है। यह छोटी-सी पुस्तक

प्रकार अपने मत को प्राचीन सिद्ध करने के लिये अल्लोपनिषद् भी बना ली गयी। यह न अथर्व वेद संहिता में है और न उसके ब्राह्मण "गोपथ" में। अतः इसलाम की मौलिकता वेदों से सिद्ध नहीं हो सकती।

अन्त में स्वामीजी समुल्लास का उपसंहार करते हुए लिखते हैं :

"हम तो यही मानते हैं कि सत्य-भाषण, अहिंसा, दया, आदि शुभ गुण सब मतों में अच्छे हैं, और बाकी वाद-विवाद, ईर्ष्या-द्वेष, मिथ्याभाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि तुमको सत्य मत ग्रहण की इच्छा हो तो वैदिक मत को ग्रहण करो।" पृ० 950

स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश

ग्रन्थ के अन्त में स्वामीजी ने अपने मन्तव्य और अमन्तव्य को लिखा है। स्वामीजी सर्वतन्त्र-सिद्धान्त, जिसको सदा से सब मानते आये हैं, वर्त्तमान में भी मानते हैं और भविष्य में भी मानेंगे। उसको "सनातन नित्य धर्म" कहते हैं, जिसका विरोधी कोई कभी न हो सके।

स्वामीजी अपना मन्तव्य लिखते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त ईश्वरादि पदार्थों को जैसे मानते हैं वैसे मैं भी मानता हूँ।

"मैं अपना मन्तव्य उसीको जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। **मेरा कोई नवीन कल्पना या मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है।** किन्तु जो

मैंने (लेखक ने) स्वयं देखी है। वस्तुतः जब स्वामीजी के प्रचार के कारण वेदों की महिमा बढ़ने लगी और निर्विवादरूप से वेद प्राचीनतम ग्रन्थ प्रमाणित हो गये तब सभी मत-सम्प्रदाय वालों ने अपने-अपने मत-सम्प्रदायों का मूल वेदों में बनाना आरम्भ कर दिया। यह अल्लोपनिषद् की कहानी भी उसी प्रकार की है।

सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।" पृ० 951

स्वामीजी पक्षपातयुक्त अपने देश या मतग्रन्थ की बातों को मानना मनुष्य धर्म से बाहर बताते हैं।

"मनुष्य उसीको कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्य रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।" पृ० 952

इसके पश्चात् स्वामीजी ने ईश्वर, जीव, धर्म, वेद, बन्ध, मुक्ति, वर्णाश्रम, स्वर्ग, नरक, स्तुति, प्रार्थना, सगुण-निर्गुण आदि 51 अपने मन्तव्य और अमन्तव्य लिखे हैं। अन्त में लिखते हैं :

"जो जो बात सबके सामने माननीय है उसको मानना अर्थात् सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ और जो मत-मतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं, उनको मैं प्रसन्न नहीं करता, क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा कर परस्पर शत्रु बना दिये हैं। सर्व सत्य का प्रचार कर सबको ऐक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके सबसे सबको सुख-लाभ पहुँचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।" 960

अन्त में स्वामीजी परमेश्वर से प्रार्थना और सत्यप्रेमी आप्तजनों की सहानुभूति की कामना करते हुए इस प्रकार लिखते हैं :

"सर्व शक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे, जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें। यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।' पृ० 961

इस प्रकार सत्य अर्थ के प्रकाश के निमित्त स्वामीजी ने 14 समुल्लासों का यह युगान्तरकारी युगनिर्माता ग्रन्थ समाप्त किया है। इसे विश्व के धर्मों का कोश कह सकते हैं। इस ग्रन्थ ने युगान्तर की सृष्टि तो की ही है, इस ग्रन्थ को श्रद्धा, निष्ठा और लेखक की भावनाओं को समझ कर जो भी व्यक्ति पढ़ता है उसके जीवन, आचरण, आदि सबमें एक मौलिक सुधार हो जाता है। सचमुच यह मानवमन्तव्य का अद्वितीय ग्रन्थरत्न है।

चतुर्थ अध्याय

प्रशासनिक एवं साम्प्रदायिक आक्रमण

स्वामी दयानन्द अद्भुत व्यक्तित्व के धनी थे। उनका चिन्तन-मनन अपने ढङ्ग का निराला था। एक संस्कृत का विद्वान्, वीतराग संन्यासी, मोक्ष की साधना में संलग्न व्यक्ति, राजनीति, समाजनीति, देशनीति में कैसे पड़ गया और विचार इतने सुलझे हुए और ऊँचे उठे हुए कि इतने उदार विचारों की कल्पना उस समय के अंग्रेजी पढ़े-लिखे उच्च कोटि के सुधारक लोग भी न कर सकते थे। स्वाभाविक है कि स्वामी दयानन्द स्वराज्य, स्वदेशीय शासन, स्वदेशीय उद्योग-धन्धे, आर्थिक उन्नति इत्यादि की बड़ी ऊँची बातें बड़ी गम्भीरता और सक्रियता से करते थे। संसार का कल्याण करना तो मुख्य उद्देश्य था ही, लेकिन यह कल्याण सामाजिक और आध्यात्मिक तभी बन सकता था जब राजनीतिक और आर्थिक कल्याण भी हो सके।

राजनीतिक कल्याण के लिए स्वराज्य, अपने देश निवासियों का शासन, अनिवार्य है। विदेशी सरकार से यह आशा नहीं की जा सकती। स्वराज्य के अभाव में आर्थिक उन्नति के प्रयासों के स्थान पर आर्थिक शोषण ही होता है। अतः आर्थिक या सामाजिक उत्थान के लिए स्वराज्य प्रथम सोपान है। स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों, पत्रों, ग्रन्थों, क्रिया-कलापों में स्वराज्य-प्राप्ति के प्रति इतिकर्त्तव्यता सदा निहित रहती थी।

स्वामी दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द में भी ये स्वतन्त्रता-स्वराज्य के बीज थे। स्वामी दयानन्द ने गुरु से कितना यह ब्रह्मदाय प्राप्त किया, यह एक अलग अन्वेषणीय बात है, किन्तु उनके भरपूर यौवन और उर्वर चिन्तनशील मस्तिष्क के सम्मुख सन् 1857 ई० के

प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम में असफलता मिल चुकी थी। बहुत-से इतिहास-विदों का यह निर्णय है कि स्वामी दयानन्द की सक्रिय भूमिका इस स्वातन्त्र्य संग्राम में थी। हम यहाँ इस प्रश्न पर विचार ही नहीं कर रहे हैं। हमारा दृष्टिकोण तो यहाँ केवलमात्र इतना है कि स्वामीजी के साहित्य में व्यापक रूप से स्वतन्त्रता-स्वराज्य प्राप्ति एवं स्वदेशोन्नति की एक तड़प है। उनके साहित्य और व्यक्तिगत पत्रों में विदेशी शासन के प्रति विद्रोह का स्वर परम उत्कर्ष के साथ मुखरित हुआ है। स्वामी दयानन्द संन्यासी थे, निर्भीक थे, बेलाग दोटूक बात बोल देना उनके चरित्र की विशेषता थी, प्रभु के परमभक्त थे और मनुष्य से सर्वथा अकुतोभय थे, अतः उनके साहित्य में बहुत्र ऐसे प्रसङ्ग मिलते हैं जिन्हें विदेशी शासन के विरुद्ध लगाने का प्रयास उस समय के विरोधियों ने किया था। स्वामीजी सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं :

> "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है, अथवा मत-मतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजापर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।[1]

यह घोषणा अपने में पर्याप्त है कि स्वदेशी राज्य विदेशी अच्छे राज्य से भी अच्छा है। (Self-Government is better than good foreign Governmet) इस सन्दर्भ में हमारा ध्यान इस ओर भी जाता है कि महारानी विक्टोरिया ने जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत का शासनसूत्र अपने हाथों में सम्भाला था तो उन्होंने एक घोषणा की थी कि उनके राज्य में अंग्रेज और भारतीयों में कोई पक्षपात नहीं होगा, सबको

1. स० प्र० समु० 8 पृष्ठ 354

समानाधिकार होगा और अंग्रेजी सरकार भारत की जनता को सब प्रकार से रक्षा करेगी इत्यादि। स्वामी दयानन्द का उपर्युक्त उद्धरण महारानी विक्टोरिया की घोषणा का नाम लिये बिना ही डंके की चोट कह रहा है कि कोई कितना ही करे, चाहे महारानी विक्टोरिया हों, या कोई और, स्वदेशीय शासन सर्वोपरि होता है। महर्षि ने स्वदेशी राज्य और स्वराज्य शब्दों का अनगिनत बार प्रयोग किया है। लोग सामान्य रूप से यह समझते हैं कि स्वराज्य के अधिकार की बात दादाभाई नौराजी ने सर्वप्रथम की थी। किन्तु जब हम स्वामी दयानन्द के साहित्य को देखते हैं तो पता लगता है कि स्वामीजी अनेक जगहों पर स्वराज्य की चर्चा करते हैं। उन्होंने अपने वेदभाष्यों में अनेकत्र स्वाधीनता की प्रार्थना की है। यजुर्वेद के मन्त्र 36-24 की व्याख्या "आर्याभिविनय" में करते हुए लिखते हैं :

"हम कभी पराधीन न हों और स्वाधीन ही रहें"

यजुर्वेद भाष्य 15-5 में लिखा है कि "मनुष्यों को चाहिये कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ाकर स्वाधीनता निरन्तर स्वीकार करें।" फिर एक प्रार्थना में लिखते हैं :

> "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों, हमलोग पराधीन कभी न हों।"

स्वराज्य न होने से ऋषि की अन्तर्वेदना सत्यार्थप्रकाश में निम्न शब्दों में फूट पड़ी है :

> "अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य-प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा का क्या कहना, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है, जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है, कुछ थोड़े राज्य स्वतन्त्र हैं, दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है।"

पृ० 354

देश की दुर्दशा एवं सामाजिक अव्यवस्था देखकर चौका-चूल्हा, जात-पाँत, छूत-छात का विरोध करने में उनके हृदय की वेदना फिर फूट पड़ती है :

"इसी मूढ़ता से उन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-करते स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पका कर खायें, परन्तु वैसा न होने पर जानो तब आर्यावर्त देश भर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है।" पृ० 411

इस प्रकार के इतने उद्धरण एकत्र हो जाते हैं कि कई लोगों ने स्वामी दयानन्द को विद्रोही संन्यासी, बागी फकीर इत्यादि कहा था। अंग्रेजी राज्य के गुप्तचरों ने भी आर्यसमाज के आरम्भिक दिनों में कुछ इसी तरह की रिपोर्ट दी थी :

"ब्रिटिश सिविल सर्विस के अनेक उच्च अधिकारियों ने पिछली शताब्दी में ही आर्यसमाज के राष्ट्रीय और राजनैतिक स्वरूप को भली-भाँति पहचान लिया था। सन् 1901 ई० की भारतीय जनगणना के अधीक्षक सर हर्बर्ट रिजली ने यह लिखा था कि—"**आर्यसमाज में राष्ट्रीय धर्म के बीज निहित हैं।**"[1]

इस सन्दर्भ में रोमा रोला का उद्धरण भी महत्त्वपूर्ण है :

I have said enough about this rough Sanyasin with the soul of a leader, to show how great and uplifter of the peoples he was—In fact the most vigourous force of the immediate and present action in India at the moment of the rebirth and reawakening of the National-consciousness—his Arya Samaj, whether he wished it or not, prepared the way in 1905 for the revolt of Bengal. He

---

1 डा० सत्य० विद्या०—आर्यसमाज का इतिहास खण्ड 4, पृ० 89

was one of the most ardent prophets of reconstruction and of national organisation.

भाव यह है :

"स्वामी दयानन्द जनता के महान् उद्धारक थे। वस्तुतः राजनीतिक चेतना के पुनर्जागरण और पुनर्जन्म के वर्तमान भारतीय आन्दोलन की वे सबसे अधिक ओजस्वी शक्ति थे। उनके आर्यसमाज ने चाहते या न चाहते हुए भी, सन् 1905 ई० में बंगाल के विद्रोह का मार्ग प्रशस्त किया। वे भारत के पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय संगठन में सबसे अधिक उत्साही पैगम्बरों में से एक थे।"[1]

स्वामी दयानन्द स्वदेशी के भी बड़े प्रचण्ड समर्थक थे। उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश में अंग्रेजों की स्वदेशभक्ति और स्वदेशी की भावना की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि भारतीयों ने अंग्रेजों के रीति-रिवाज, वस्त्र आदि अपनालिये हैं, किन्तु अंग्रेजों ने भारतवर्ष जैसे गरम देश में आकर भी अपने स्वदेश की वस्तुएँ नहीं छोड़ीं। स्वामीजी एक स्थान पर लिखते हैं :

"देखो अपने देश के बने हुए जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देश के जूते को नहीं। इतने में ही समझ लो कि उनके ही देश के बने हुए जूतों का जितना मान-प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। देखो कुछ 100 वर्ष से ऊपर इस देश में आए यूरोपियनो को हुए, आजतक ये लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे। परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुतसे लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसीसे तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं।"[2]

1. रोमा रोलाँ—The Life of Ramkrishna—पृ० 157-158
2. स० प्र० 11, पृ० 594-595

इस प्रकार के अनेकों उदाहरण स्वामीजी के ग्रन्थों, प्रार्थनाओं और व्याख्यानों में मिल जाते हैं जिनमें स्वदेश, स्वराज्य की भावना प्रस्फुटित हो उठती है और सोचने वाले के लिए पर्याप्त कारण बन जाता है, कि स्वामी दयानन्द एक विद्रोही संन्यासी थे। अंग्रेज अधिकारियों ने इस बात को ध्यान में रख लिया था कि जहाँ कहीं आर्यसमाज है वहाँ स्वतन्त्रता, स्वदेशाभिमान, स्वराज्य, राष्ट्रभक्ति आदि भावना बड़ी बलवती रहती है।

ये सारे प्रसङ्ग बिना किसी अधिक टिप्पणी की आकांक्षा के यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि अंग्रेज आफिसर और अंग्रेजी सरकार आर्यसमाज के स्वतन्त्रताप्रेमी स्वरूप से पूर्ण रूपसे परिचित हो गये थे। फिर घटनाओं पर घटनाएँ कुछ इस तरह हो रही थीं कि शासन आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द के स्वतन्त्रता विषयक पक्ष को सोचने के लिए बाध्य हो रहा था। सन् 1875 ई० में आर्यसमाज की स्थापना हुई, सन् 1873-74 ई० में सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ, सन् 1883 ई० में स्वामीजी का देहान्त हो गया, सन् 1884 ई० में सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। 15-16 वर्षों की अवधि समाप्त होते-होते सन् 1901 ई० की जनगणना में जनगणना-अधिकारी ने आर्यसमाज के स्वतन्त्रता-प्रेमी स्वरूप को सुस्पष्ट शब्दों में अङ्कित कर दिया। सन् 1902 ई० में इलाहाबाद में सत्यार्थप्रकाश पर मुकदमा चला, सन् 1905 ई० में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने "इण्डिया होम रूल सोसायटी" की स्थापना की, सन् 1907 ई० में प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला लाजपत राय की गिरफ्तारी हुई, सन् 1909 ई० में पटियाला के आर्यसमाजियों पर अभियोग चलाया गया था, जो यथार्थतः सत्यार्थप्रकाश पर ही मुकदमा चला था। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश पर अभियोगों के तूफान-से आ गये। इनमें सबसे पहला मुकदमा सत्यार्थप्रकाश के ऊपर इलाहाबाद में विचारार्थ प्रस्तुत किया गया।

परतन्त्र भारत में

1. इलाहाबाद का मुकदमा :

नवम्बर सन् 1902 ई०

आलाराम संन्यासी नाम के एक व्यक्ति थे। पहले ये आर्यसमाज का प्रचार करते थे। किसी कारणवश इनकी आर्यसमाज से अनबन हो गयी और ये आर्यसमाज से निकलकर स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के विरोध में प्रचार करने लगे। आलाराम संन्यासी के व्याख्यान बड़े ही कटु होते थे। इन्होंने एक पुस्तक भी लिखी। ये प्रमाणित करते थे कि आर्यसमाज एक विद्रोही संस्था है और सत्यार्थप्रकाश एक राज-द्रोही ग्रन्थ है। इनके व्याख्यान और कार्य ऐसे भड़काने वाले थे कि इलाहाबाद में पुलिस ने भारतीय दण्ड विधान की धारा 109 के अन्तर्गत इन पर मुकदमा चलाया। इस मुकदमे का विस्तृत वर्णन प्रो० रामदेव ने "आर्यसमाज और उसके निन्दक" में किया है। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने "आर्यसमाज का इतिहास, खण्ड 4" में इस मुकदमें का विस्तृत वर्णन किया है। हम यहाँ पर इन्हीं ग्रन्थों के सहयोग से इस सन्दर्भ को पूर्ण कर रहे हैं।

यह मुकदमा नवम्बर, सन् 1902 ई० में बृटिश न्यायाधीश श्री पी० हैरिसन के कोर्ट में दायर किया गया था। आलाराम ने आर्यसमाज और सत्यार्थप्रकाश पर राजद्रोह का आरोप लगाया था। इलाहाबाद के न्यायाधीश, जिला मजिस्ट्रेट श्री पी० हैरिसन ने उन सारे सन्दर्भों पर विस्तारपूर्वक विवेचना की जिन्हें आलाराम संन्यासी ने सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत किया था। न्यायाधीश ने अपने निर्णय में स्पष्ट रूप से यह विश्लेषण प्रस्तुत किया था :

"इन सभी अवतरणों में बगावत के लिए भड़काने को कोई बात मैं नहीं पाता हूँ, किन्तु इनमें यह विलाप है कि विभिन्न धार्मिक और नैतिक दुर्गुणों के कारण हिन्दू जाति पराधीन हो गयी है। स्वामी दयानन्द के उपदेश का सामान्य स्वर मुझे यह प्रतीत होता है कि यह हिन्दू जाति का सुधार करने के लिये उपदेश है, इसका उद्देश्य अन्त में

सम्भवतः भारतीय शासन स्थापित करना है। स्वामी दयानन्द ने यह स्वीकार किया है वर्तमान समय में हिन्दुओं में कुछ ऐसे दुर्गुण उत्पन्न हो गये हैं जिनके कारण वे स्वमेव अपना शासन करने में भी असमर्थ हैं।"[1]

विद्वान् न्यायाधीश का विश्लेषण :

विद्वान् न्यायाधीश ने विरोधी द्वारा प्रस्तुत एक-एक दलील और एक-एक अवतरण को लेकर यह प्रमाणित किया है कि स्वामी दयानन्द या सत्यार्थप्रकाश राजद्रोही नहीं कहे जा सकते। मजे की बात यह है कि विद्वान् न्यायाधीश स्वामी दयानन्द सरस्वती और सत्यार्थप्रकाश के राजनीतिक सन्दर्भों का महत्त्व पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। अपने निर्णय की विस्तृत टिप्पणियों में उन्होंने निम्न प्रकार से लिखा है :

"इस मामले में दलील दी गई है कि आर्यसमाजियों अथवा कम से कम स्वामी दयानन्द ने आलाराम की भाषा से भी अधिक बुरे नहीं तो ऐसे बुरे शब्दों वाला साहित्य प्रकाशित किया है। इस मुकदमे में कुछ ऐसे आर्यसमाजी—प्रकाशनों के उद्धरण दिये गये हैं। मैंने इन अवतरणों को तथा इनके अनुवादों को मूल ग्रन्थों से मिलाया है। इन अवतरणों के एक समूह—एक्जीबिट ज़ेड—का उद्देश्य आलाराम द्वारा कही गयी इस बात को प्रमाणित करता है कि आर्यसमाजी राजद्रोही होते हैं। इसके प्रथम अवतरण में एक ऐसा सन्दर्भ है, जिसका अर्थ निम्न-लिखित है :

"हमारे देश में किसी विदेशी का शासन न हो और हम कभी किसी दूसरे देश के अधीन न हों।" स्वामी दयानन्द की प्रार्थना।

"अब अवतरण संख्या 2, 3, 4 और 5 में साम्राज्य के लिये प्रार्थना की गई है। अब अवतरण 6 में इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि भारत में स्वदेशी शासन नहीं है और यह परिणाम निकाला गया है कि अपने देशवासियों द्वारा किया जाने वाला शासन सब शासनों में

1. पुनः उद्धृत आर्यसमाज का इतिहास, खण्ड 4, पृष्ठ 432

सर्वोत्तम होता है और विदेशी द्वारा किया गया शासन भले ही धार्मिक पक्षपात से मुक्त और देशवासियों के कल्याण का ध्यान रखने वाला, न्यायपूर्ण तथा दयालुतापूर्ण क्यों न हो, फिर भी वह अधिकतम सुख देने वाला नहीं हो सकता है।

"अवतरण सं० 8 मुझे अप्रासङ्गिक प्रतीत होता है। अवतरण सं० 8 में यह कहा गया है कि—गोरे न्यायाधीश शासक लोगों का पक्षपात करते हैं और ऐसे गोरे व्यक्तियों को भी छोड़ देते हैं जो भारतवासियों की हत्या कर चुके हैं। यह निश्चित है कि ईसामसीह के स्वर्ग में इसी प्रकार का न्याय किया जाता होगा। यह बात ब्रिटिश सरकार के नहीं, अपितु ईसाइयत के विरुद्ध दी गयी युक्ति प्रतीत होती है।

"अवतरण सं० 9 में विदेशी शासन का कारण आपसी फूट को बताया गया है और भगवान् से प्रार्थना की गई है कि आर्यों में यह घातक बीमारी न रहे। संख्या 14 तक के अन्य अवतरण इस मामले में महत्त्व नहीं रखते हैं। अवतरण सं० 14 में कहा गया है कि जब विदेशी किसी देश पर शासन करते हैं और साथ ही उस देश में व्यापार भी करते हैं तो निश्चित ही इसका परिणाम उस देश की गरीबी और दुःख के सिवाय कुछ नहीं हो सकता है। अवतरण सं० 15 में आर्यों की पराधीनता-दशा का कारण अनेक दुर्गुणों और बुराइयों को बताते हुए यह परिणाम निकाला गया है कि उनके दुर्भाग्य से आर्यों के वंशजों को विदेशी शासन के जूए में पीड़ित होना पड़ रहा है।

"अवतरण सं० 16 में मांसभक्षी और मद्यपान करने वाले विदेशियों को आर्यों के दुःखों के बढ़ने कारण बताया गया है।

"कुछ अवतरणों में आदर्श राजा अथवा शासक का स्वरूप बताते हुए गोरक्षा तथा गोहत्यारों के विध्वंस का प्रबल समर्थन किया गया है। अवतरणों का अन्तिम समूह—एक्जीबिट वाई (Exhibit Y) में प्रधान रूप से एक्जीबिट ज़ेड (Exhibit Z) में बताते गये अवतरणों की ही आवृत्तिमात्र है।"

विद्वान् न्यायाधीश ने विरोधी द्वारा प्रस्तुत सभी अवतरणों को पुस्तक से मिलाया, उनका निरीक्षण-परीक्षण किया और अपना निर्णय देने से पूर्व उन्हें उद्धृत कर दिया कि विरोधी ने सत्यार्थप्रकाश और स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाजियों को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित इन अवतरणों को प्रस्तुत किया है। इन सभी अवतरणों का निरीक्षण-परीक्षण करने के पश्चात् विद्वान् न्यायाधीश ने निम्नलिखित निर्णय दिया है :

न्यायाधीश का निर्णय :

"इन सब अवतरणों में मुझे विद्रोह के भड़काने का कोई संकेत प्रतीत नहीं मिलता है, किन्तु ये अवतरण इस बात पर दुःख प्रकट करते हैं कि विभिन्न धार्मिक और नैतिक कारणों से हिन्दू पराधीन हो गये हैं। **दयानन्द के आदेशों को सामान्य भावना मुझे सुधार के लिये प्रेरणा देने वाली प्रतीत होती है। इसमें यह भी दृष्टिकोण सम्मिलित है कि अन्ततोगत्वा शासन का सूत्र इन देशवासियों को पुनः प्राप्त होगा।"** स्वामी दयानन्द ने इस बात को स्पष्ट रूप से माना है कि वर्तमान हिन्दुओं में कुछ ऐसे दुर्गुण हैं जिनके कारण वे अपना शासन करने में समर्थ नहीं हैं।

"**दयानन्द के उपदेश और प्रार्थनाएँ विदेशी शासन को तुरन्त उलट देने के लिये नहीं, अपितु ऐसा सुधार करने के लिये हैं जिनसे हिन्दू भविष्य में अपना शासन करने में समर्थ हो सकें।** गोरक्षा के बारे में दिये जाने वाले अवतरण भी अपने आप में मुझे बगावत के लिये भड़काने वाले प्रतीत नहीं होते अपितु इनका उद्देश्य ऐसे

शासन की प्रशंसा करना है जो गोहत्या को बन्द करेगा। इसमें कहीं भी विदेशी शासन के विरुद्ध हथियार उठाने का अथवा लड़ाई छेड़ने का आह्वान नहीं किया गया है।"

अन्त में विद्वान् न्यायाधीश यह स्वीकार करते हैं कि आलाराम आर्यसमाज से निष्कासित था और उसके मन में आर्यसमाज के प्रति विद्वेष और घृणा थी। वह बदला लेने के लिये समाज को बदनाम कर रहा था। आलाराम ने पुस्तक लिखकर, व्याख्यान देकर, परचे बँटवाकर सत्यार्थप्रकाश, स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज को राजद्रोह के अपराध में घसीटना चाहा था, किन्तु विद्वान् न्यायाधीश ने तर्कों, उद्धरणों को निरस्त ही नहीं किया, बल्कि उसकी जमानत ली और उसे दण्डित किया। आलाराम को लेने के देने पड़ गये, यद्यपि सनातन धर्मी पत्रों ने आर्यसमाज को राजनीति में विद्रोही स्वरूप देने की चेष्टा की थी। हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री बालकृष्ण भट्ट ने अपने "हिन्दी प्रदीप" में 24 जनवरी सन् 1901 ई० के अङ्क में लिखा था :

"स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के समूचे भवन का निर्माण राजनीति के आधार पर किया है।"

इन सारी टिप्पणियों के बावजूद विद्वान् न्यायाधीश ने आलाराम से जमानत ली और अपना निर्णय निम्नरूप में दिया :

"अतः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आलाराम से जाब्ता फौजदारी की धारा 108 के अनुसार उत्तम व्यवहार के लिये जमानत ली जानी चाहिये। वह ऐसा आदमी है कि उसे गलत रास्ते पर ले जाने वाले तथा खतरनाक मार्ग से हटाने के लिये पर्याप्त दबाव की आवश्यकता होगी।"

न्यायाधीश का निर्णय और अधिक विस्तार में है। आलाराम को क्या दण्ड दिया गया, क्या जमानत ली गई, यह सब दिखाने की कोई

आवश्यकता नहीं है। हमें तो इतना ही दिखाना अभीष्ट है कि विद्वान् न्यायाधीश ने (जो स्वयं अंग्रेज था) सत्यार्थप्रकाश, स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज को राजद्रोह के अपराध से मुक्त कर दिया और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने स्वामी दयानन्द के राजनीतिक उपदेशों की महत्ता और सार्थकता को सर्वांश में स्वीकार कर लिया।

इलाहाबाद का मुकदमा कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह सर्वप्रथम मुकदमा है जिसमें स्वामी दयानन्द और उनके साहित्य के ऊपर न्यायिक दृष्टि से विस्तार पूर्वक विचार हुआ। विद्वान् न्यायाधीश ने एक-एक तर्क को निरस्त कर दिया। यह निर्णय एक और दृष्टि से अपना महत्त्व रखता है कि परवर्ती अनेकों प्रसङ्गों पर यह निर्णय नजीर का काम करता रहा है। ये न्यायाधीश अंग्रेज थे और पीछे के अंग्रेज अधिकारी, सेनानायक, सैनिक कमीशन, सर्विस कमीशन, गोपनीय रिपोर्ट आदि में सर्वत्र इस निर्णय को ध्यान में रखा गया है।

2. पटियाला का अभियोग

अक्टूबर 1909 ई०

स्वतन्त्रता से पूर्व, जब देश का विभाजन नहीं हुआ था, उस समय पंजाब में पटियाला एक प्रसिद्ध रियासत थी। इसके महाराजा सिक्ख थे। उस समय सभी देशी रियासतों में अंग्रेज अधिकारियों का वर्चस्व सर्वोपरि रहता था और पटियाला में भी अंग्रेज अधिकारी बड़े महत्त्वपूर्ण थे। पटियाला में उस समय 'बारबर्टन' नाम के एक महत्त्वपूर्ण महत्त्वाकांक्षी अंग्रेज अधिकारी थे। वे पुलिस तथा जेल विभाग के महानिरीक्षक थे और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट भी थे। अतः ये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारी माने जाते थे। यद्यपि इनकी आयु लगभग सत्तर वर्ष की थी फिर भी ये अपने कार्यकाल की अवधि और भी अधिक बढ़ाना चाहते थे। इनके लिए कुछ वाह-वाही एवं राजभक्ति आवश्यक थी। इसी स्वार्थमय उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने आर्यसमाज के प्रतिष्ठित लोगों पर राजद्रोह का अभियोग चलाया था। "श्री रामदेव ने लिखा है कि इस समय राज्य में

बारबर्टन सर्वशक्तिशाली बना हुआ था। वह इसकी (कार्यकाल की) वृद्धि के लिए बहाना ढूँढ़ रहा था और उसे यह विश्वास भी था कि राजद्रोह का मामला चलाने से उसे इसमें सहायता मिलेगी।"[1]

उस युग में सम्पूर्ण देश में अच्छे पढ़े-लिखे **बुद्धिमान् लोग आर्यसमाज के मिशन से प्रभावित थे।** पटियाला में भी आर्यसमाज बड़ा लोकप्रिय था। यहाँ के भी बहुत सारे अधिकारी और कर्मचारी स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज से प्रभावित थे। ये सब धार्मिक रुचि के चरित्रवान् व्यक्ति थे। अपने जीवन में नैतिक मूल्यों कार्य एवं आचरण की शुद्धता एवं पवित्रता का व्यवहार करते थे। स्वाभाविक था कि इससे प्रशासन भ्रष्टाचार रहित रहता था। स्वार्थी और भ्रष्ट अधिकारी आर्यसमाजियों से वैर-विद्वेष की भावना रखते थे। बारबर्टन महोदय भी इस नैतिक जीवन के भूषण को अपनी व्यक्तिगत स्वार्थलिप्सा के कारण दूषण समझते थे। अतः उन्होंने पटियाला अभियोग को एक सशक्त अभियोग का रूप देने का भरपूर प्रयास किया। आर्यसमाजियों की गिरफ्तारियाँ आरम्भ हुईं। उनके घरों पर छापे पड़े, उनकी धार्मिक पुस्तकें आदि भी ज़ब्त कर ली गईं। कुल एक सौ पन्द्रह व्यक्ति गिरफ्तार किये गये थे। जो लोग बन्दी बनाये गये थे, उनमें सामाजिक और राजनीतिक स्तर की दृष्टि से उच्च कोटि के लोग थे। एक्जेक्यूटिव इञ्जीनियर, लोक-निर्माण विभाग के लेखाकार, हाई स्कूल के हेडमास्टर आदि आदि सम्माननीय पदों पर प्रतिष्ठित लोगों को इस अभियोग में घसीटा गया था।

अभियोग का आरम्भ :

पटियाला में, लोगों के घरों की तलाशियाँ और गिरफ्तारियाँ 11 अक्टूबर, 1909 ई० को हुई थीं। अभियोग की सुनवाई का आरम्भ

1. मुन्शीराम जिज्ञासु तथा रामदेव—आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स, गुरुकुल कांगड़ी 1910, पृ० 52—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार कृत आर्यसमाज का इतिहास भाग 4, पृ० 356।

22 नवबर 1909 ई० हुआ था। यह अभियोग इतना महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि सारे देश का ध्यान उत्तर आकृष्ट हो गया था। महात्मा मुन्शी-राम 'कल्याण मार्ग के पथिक' बन चुके थे और अपना सारा जीवन आर्य-समाज और गुरुकुल को समर्पित कर चुके थे। कई वर्षों से उन्होंने वकालत करना भी छोड़ दिया था। किन्तु इस अभियोग का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि 'कल्याण मार्ग के पथिक' भी वृहत्तर कल्याण की दृष्टि से वकीलों का चोंगा पहन कर पुनः अदालत में हाजिर हुए थे। आर्य-समाज की ओर से पैरवी करने के लिये लाहौर के विख्यात बैरिस्टर श्री रोशनलालजी को बुलाया गया था। रियासत की ओर से लाहौर हाई कोर्ट के मूर्धन्य बैरिस्टर आर्थर ग्रे को नियुक्त किया गया था।

पटियाला महाराज ने इस केस के लिये एक विशेष न्यायालय का गठन अलग से कर दिया था और इस न्यायालय को चीफ-कोर्ट का अधिकार दिया गया था।

अभियोग की प्रकृति :

अभियोग की प्रकृति तो राजद्रोह की थी किन्तु राजद्रोह के स्वरूप को सिद्ध करने के लिये बैरिस्टर आर्थर ग्रे ने "सत्यार्थप्रकाश" से ऐसे अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये जिन्हें उन्होंने आपत्तिजनक बताया। इस प्रकार पटियाला अभियोग में जो कोई मुद्दे उभरे थे, उनमें सत्यार्थप्रकाश पर राजद्रोह को बढ़ावा देने का मुद्दा मुख्य था।

सरकारी वकील के तर्क :

सरकारी वकील ने आर्यसमाज और आर्यसमाजियों को राजद्रोही सिद्ध करने के लिए सत्यार्थप्रकाश की व्यापक छानबीन की थी।

सत्यार्थप्रकाश के आपत्तिजनक अवतरण :

इस विषय में सरकारी वकील ने सत्यार्थप्रकाश के कई उद्धरण प्रस्तुत किये और यह बताया कि ईसाइयत पर किस तरह के मिथ्यारोप लगाये गये हैं। इस विषय में उन्होंने :

(1) सत्यार्थप्रकाश के पृ० 708 का एक अवतरण अदालत में पढ़ा

और यह भी बताया कि स्वामी दयानन्द ने आर्यों को अच्छा तथा दूसरों को बुरा बताया है। उनके कथनानुसार सज्जन पुरुषों को आर्य कहते हैं तथा दुष्टों को दस्यु कहा जाता है। अभियुक्तों के वकील रोशनलाल ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा कि यहाँ आर्य का अर्थ अच्छे कार्य करने वाला व्यक्ति है तथा दस्यु बुरे काम करने वाले को कहा जाता है।

(II) इसके बाद सरकारी वकील ने पृ० 226 के मनुस्मृति के सुप्रसिद्ध श्लोक के बारे में कहा कि वेदों की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहा जाता है। स्वामी दयानन्द के मतानुसार, प्राचीन साहित्य में आतङ्कवादी या अत्याचारी को मारने में कोई दोष नहीं माना जाता था। इस विषय में स्वामीजी द्वारा उद्धृत वचन के आधार पर सरकारी वकील ने यह परिणाम निकाला कि बुरे व्यक्ति को मारना कोई अपराध नहीं है, चूँकि उन पर शासन करने वाले ईसाई बुरे व्यक्ति हैं, अतः उनकी हत्या में भी कोई दोष नहीं समझा जाना चाहिए। इस प्रकार आर्यसमाज ईसाइयों के बध तथा राजद्रोह के लिए अपने सदस्यों को प्रेरित करता है।

(III) यद्यपि आर्यसमाज बार-बार धार्मिक संस्था होने की घोषणा करता है, तथापि सत्यार्थप्रकाश के पृ० 186 से आरम्भ होने वाला एक पूरा समुल्लास इस बात को पूरे विस्तार से बताता है कि किसी देश का शासन किस ढङ्ग से किया जाना चाहिये और शासकों में क्या गुण होने चाहिएँ।

IV) पृ० 187 में यह बताया गया है कि वेद न जानने वाले व्यक्तियों द्वारा बनाये गये कानून का पालन नहीं किया जाना चाहिए। ईसाई शासक वेद नहीं जानते हैं, अतः यह सन्दर्भ उनके आज्ञाभङ्ग की प्रवृत्ति को प्रेरणा देने वाला है। आर्यों का आदर्श राज्य वही है जिसमें वेद-शास्त्रों के विद्वान् शासन करते हैं।

(V) पृ० 188 में यह कहा गया है कि एक व्यक्ति को अपनी पूरी शक्ति ऐसे राजा का विध्वंस करने में लगानी चाहिए जो वेदों को नहीं जानता है।

(VI) पृ० 190 में यह कहा गया है कि राजा के सात या आठ ऐसे मन्त्री होने चाहिए जो स्वदेश में उत्पन्न हुए हैं और वेदों को अच्छी तरह जानते हैं। इन प्रसङ्ग में सरकारी वकील ने स्वदेश के साथ स्वराज शब्द का भी प्रयोग किया है।

(VII) इस पर उनका कहना था कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्यसमाज के नेता स्वराज्य स्थापित करना चाहते हैं और स्वराज्य का अर्थ स्वशासन है। यह बात उस समय और अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम आर्यों की आकांक्षाओं और अभिलाषाओं के बारे में पढ़ते हैं। पृ० 228 पर स्वामीजी ने लिखा है : "सब इस बात को समझते हैं कि आर्य भूमण्डल के स्वामी हैं।" मुझे आर्यों द्वारा अपनी उच्च आकांक्षाएँ रखने के बारे में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु जब वे यह कहते हैं कि उनकी संस्था राजनैतिक नहीं है तो इसपर मुझे बड़ी आपत्ति है।

(VIII) स्वामी दयानन्द एक ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहते थे जिसके मन्त्री उनके विचारों के अनुसार वेद-शास्त्रों के ज्ञाता हों, और जहाँ तक ईसाइयों या गौराङ्ग व्यक्तियों के शासक होने का सवाल है, वे उनको कभी भी अपना शासक नहीं बनाना चाहते थे। पृ० 103 पर उन्होंने कहा है कि "अपने देशवासियों का शासन सर्वोच्चम शासन होता है।"

(IX) पृ० 368 पर उन्होंने गोरक्षा की चर्चा की है और यह परिणाम निकाला है कि मांस-भक्षण, मद्यपान करने वाले विदेशियों के आ जाने के बाद ही आर्यों के दुःख बढ़ते चले गये हैं।

(X) यदि आर्यसमाज धार्मिक संस्था है तो उनके संस्थापक को इस बात की क्या आवश्यकता थी कि वह एक आदर्श राज्य का, राजनैतिक विषयों का और सेना के संगठन का वर्णन करें ? स्वामी दयानन्द इन बातों का न केवल सामान्य रूप से उल्लेख करते हैं, अपितु ब्यौरे की बातें यहाँ तक बताते हैं कि सेना को कवायद किस ढङ्ग से करनी चाहिए, उन्हें कैसी व्यूह रचना करनी चाहिए, पैदल तथा घुड़सवार सेनाएँ किस

प्रकार की होनी चाहिये। सरकारी वकील के शब्दों में "वे इस प्रकार के सौ उद्धरण प्रस्तुत कर सकते थे जिनमें राजनैतिक विषयों की चर्चा की गई है।" किसी आर्यसमाजी लेखक ने यह बात ठीक ही कही थी, भले ही यह व्यंग्य में कही गई हो कि—"यदि स्वामी दयानन्द आज जीवित होते तो उनपर विभिन्न समुदायों में विद्वेष पैदा करने के लिए और मेरे विचार में इस देश की सरकार को बदनाम करने के 153-A अनुच्छेद के अनुसार मुकदमा चलाया जाता।"

सरकारी वकील ने अपने तर्कों के समापन पर इस प्रकार उपसंहार किया : स्वामी दयानन्द ने जब अपना ग्रन्थ लिखा था, उस समय देश में कोई राजनैतिक असन्तोष नहीं था, फिर भी इस ग्रन्थ के लिखे जाने के प्रधान उद्देश्य के बारे में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता है। यह उद्देश्य प्रत्येक सम्भव उपाय से देश की राजनैतिक सत्ता इस आशा और विश्वास के साथ प्राप्त करना था कि किसी दिन आर्यों का शासन सारे भूमण्डल पर उसी तरह होगा जैसे आरम्भ में था। यदि यह एक प्रबलतम राजनैतिक आकांक्षा नहीं है तो मुझे यह सन्देह करना पड़ेगा कि मैं भाषा और शब्दों का अर्थ नहीं समझता हूँ।

यह सारा प्रकरण हमने आर्यसमाज का इतिहास, भाग 4 पृ० 369 से पृ० 371 से उद्धृत कर अपने ढङ्ग से सजा दिया है। इन सारे प्रसङ्गों को देखने से यह बिना किसी सन्देह के कहा जा सकता है कि पटियाला अभियोग में सरकारी बैरिस्टर आर्थर ग्रे सत्यार्थप्रकाश को राजनीतिक दृष्टि से आपत्तिजनक सिद्ध करना चाहते थे।

पटियाला अभियोग में आर्थर ग्रे ने सरकारी पक्ष प्रस्तुत करने में कई दिनों तक तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किये थे। यह तो सर्वविदित है कि स्वामी दयानन्द ने न केवल सत्यार्थप्रकाश में अपितु अपनी प्रार्थना पुस्तक 'आर्याभिविनय' में, अपने वेदभाष्यों में, अपने व्यक्तिगत पत्रों में, सर्वत्र स्वराज्य का समर्थन किया है। अतः किसी भी सुयोग्य बैरिस्टर के लिये यह कुछ कठिन काम न था। हम यहाँ इस ग्रन्थ में 'सत्यार्थ-प्रकाश' से सम्बन्धित सन्दर्भ की चर्चा कर रहे हैं। अतः बैरिस्टर आर्थर

ग्रे के प्रस्तुतीकरण में जो अन्य प्रसङ्ग उठाये गये हैं, हम उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। बैरिस्टर आर्थर ग्रे ने आर्याभिविनय की प्रार्थनाएँ उद्धृत की थीं। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी, श्यामजी कृष्ण वर्मा स्वामी दयानन्द के शिष्य और स्वामीजी द्वारा मनोनीत परोपकारिणी सभा के सदस्य थे। लाला लाजपत राय प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता थे। इन सारे प्रसङ्गों को बैरिस्टर ग्रे ने उठाया था। और भी ऐतिहासिक सन्दर्भ उठे थे जो पटियाला अभियोग के सन्दर्भ में आर्यसमाज के इतिहास में पठनीय हैं। हम यहाँ केवल 'सत्यार्थप्रकाश' से सम्बन्धित प्रसङ्ग पर विचार कर रहे हैं। अतः पटियाला अभियोग के विस्तृत वर्णन से विरत हो जाना ही उपयुक्त है।

अभियोग की समाप्ति :

विशेष न्यायालय की 13-14 बैठकें हुई थीं। सरकारी अधिकारियों की ओर से सुल्ह-समझौते की पेशकश की गई। समझौते के मसविदे में भी कुछ धोखा प्रमाणित हुआ। ये सब राजनीतिक दाव-पेंच हैं। हम तो इस सम्बन्ध में पटियाला महाराजा के आदेश में यह पढ़ते हैं : **"हमारा यह आशय कभी नहीं था कि भारत में आर्यसमाज का प्रत्येक सदस्य अथवा यह संस्था राजद्रोही है।"** महाराजा के इस निर्णय के पश्चात् आर्यसमाज अथवा 'सत्यार्थप्रकाश' राजद्रोह के अभियोग से मुक्त हो गये।

प्रतिक्रियाएँ :

इस अभियोग की देशव्यापी प्रतिक्रियाएँ भी रुचिकर एवं महत्त्वपूर्ण हैं :

सत्यार्थप्रकाश के अनेक उद्धरणों को देकर बैरिस्टर आर्थर ग्रे सत्यार्थप्रकाश को प्रतिबन्धित कराना चाहते थे। वे यह न कर सके। उल्टे, जनता की भावना उनके विरुद्ध होती गई। पञ्जाब के प्रसिद्ध पत्र 'पञ्जाबी' ने अपने 11 जनवरी 1910 के अङ्क में निम्न प्रकार टिप्पणी की :

"ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने (बैरिस्टर ग्रे) तथा-कथित राजनैतिक और क्रान्तिकारी उद्धरणों के लिये सत्यार्थ-प्रकाश की गहरी खोज की है। सम्भवतः भविष्य में कोई प्रसिद्ध वकील यह सिद्ध करेगा कि बाइबल समाजवादी विचारों का प्रचार करती है और इसमें पाये जाने वाले अश्लील अवतरणों के लिये इसे जब्त किया जाना चाहिए।"[1]

लाहौर के "ट्रिब्यून" ने लिखा :

"कोई अन्य मुकदमा इससे अधिक अनुपयुक्त समय में और इससे अधिक अशुभ परिस्थितियों में शुरू नहीं किया गया है।"[2]

इलाहाबाद के दैनिक पत्र "लीडर" ने बारबर्टन के कारनामों की निन्दा करते हुए लिखा था।

"हम यह भी आशा प्रकट करते हैं कि पटियाला का मामला समाप्त होने के साथ आर्यसमाज पर राजद्रोह के लिये किया जाने वाला सन्देह अब अतीत की वस्तु हो जायेगी।"[3]

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र "अमृत बाजार पत्रिका" की महत्त्व-पूर्ण टिप्पणी इस प्रसङ्ग में ध्यान देने योग्य है :

"यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसमें इस्तगासे के वकील द्वारा राजद्रोह के लिए की गई आर्यसमाज की कड़ी निन्दा को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है, अपितु इसे वस्तुतः निराधार घोषित किया गया है।"[4]

कलकत्ता के ही एक अन्य दैनिक पत्र "बंगाली" ने निम्नलिखित टिप्पणी की :

"यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि पटियाला राजद्रोह के मामले में महाराजा के आदेश ने आर्यसमाज को तथा इसके

---

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास, भाग-4, पृ० 387
2. वही पृ० 393
3. वही पृ० 394
4. वही पृ० 397

सदस्यों को राजद्रोह के आरोप से बिल्कुल बरी कर दिया है। यह सर्वथा उचित ही था।"[1]

यह तो हुई पटियाला अभियोग की कहानी और उसपर विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ। जहाँतक सत्यार्थप्रकाश के उद्धरणों का प्रश्न है, वे अपने में सर्वथा सुस्पष्ट हैं। स्वामी दयानन्द और उनके अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में विदेशी शासन के लिये कोई स्थान नहीं है। स्वराज्य, स्वदेशी आदि उनके आदर्श हैं। जहाँतक पटियाला अभियोग का प्रश्न है, सत्यार्थप्रकाश की स्थिति अत्यन्त सुस्पष्ट है कि बैरिस्टर ग्रे ने सरकारी पक्ष को मजबूत करने के लिए सत्यार्थप्रकाश के कई उद्धरण दिये, किन्तु न्यायालय ने उनके अभियोगों में कोई सचाई न पायी।

पटियाला अभियोग का निर्णय केवल पटियाला महाराज का निर्णय नहीं समझा जाना चाहिए। यह अभियोग अखिल भारतीय रूप ले चुका था और इसका निर्णय भी वासयराय के पोलिटिकल एजेण्ट के सहयोग एवं निर्देश में हुआ था।

पटियाला का अभियोग सत्यार्थप्रकाश पर नहीं था। किन्तु साथ ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिन व्यक्तियों को राजद्रोही, ब्रिटिश सरकारद्रोही सिद्ध करने के लिए यह अभियोग चलाया गया था, उनका द्रोहात्मक कार्य यह था कि वे आर्यसमाजी थे और सत्यार्थप्रकाश उनका धर्मग्रन्थ था। इसीलिए सरकारी पक्ष के बैरिस्टर ने विपुल उद्धरण सत्यार्थप्रकाश से प्रस्तुत किये थे। यदि ये उद्धरण राजद्रोही सिद्ध हो जाते तो 'सत्यार्थप्रकाश' भी राजद्रोही माना जाता। अतः अभियोग का फलितार्थ सत्यार्थप्रकाश पर अभियोग भी निश्चित रूप से बनता था।

अभियोग अपने न्यायिक पर्यवसान तक पहुँचे बिना मध्य में ही कानूनी दाव-पेंच के रूप में समाप्त हो गया और इसीलिए 'सत्यार्थप्रकाश' के ये अंश न्याय पटल में विचारार्थ प्रस्तुत तो किये गये, किन्तु उनपर कोई निर्णय नहीं किया गया। इलाहाबाद के न्यायाधीश हैरिसन ने इन उद्धरणों को

---

5. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास, भाग-4, पृ० 397

राजद्रोह से मुक्त घोषित किया था, किन्तु पटियाला अभियोग न्यायसत्रों की आरम्भिक दाँव-पेंचों में ही समाप्त हो गया था।

3. संयुक्त प्रान्त में सरकारी चेष्टा

आज का उत्तर प्रदेश स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व संयुक्त प्रान्त कहलाता था। यह आगरा और अवध दो प्रान्तों को मिलाकर बनाया गया था। अंग्रेजी में इसे यूनाइटेड प्रौविन्सेज़ (यू० पी०) कहते थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इसका नामकरण उत्तर प्रदेश कर दिया गया और अंग्रेजी में संक्षिप्त नाम यू० पी० की जगह यू० पी० ही रह गया।

20वीं शताब्दी के पहले दशक में ही उत्तर प्रदेश में आर्यसमाज और आर्यसमाजियों को सरकारी कोप का सामना करना पड़ा था। इसका बड़ा सुन्दर वर्णन डा० सत्यकेतु विद्यालंकार कृत 'आर्यसमाज का इतिहास' भाग, 4 अध्याय 11 में विस्तार से प्रकाशित है। यह प्रसङ्ग हम वहीं से सधन्यवाद ले रहे हैं। ग्रन्थकार ने अपनी सूचनाओं के सम्बन्ध में पाद-टिप्पणी में एक नोट निम्न रूप में प्रकाशित किया है :

"Arya Samaj in the United Provinces by C. E. W. Sands, Superitendent of Police, Criminal Investigation Department, United Provinces, Allahabad, 1910.

उत्तर प्रदेश के गृह-विभाग ने लेखक को इस पुस्तक का अवलोकन करने की अनुमति प्रदान की। इसके लिये वह उत्तर प्रदेश सरकार का आभारी है। सरकारी निर्देश के अनुसार इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या के प्रतीक नहीं दिये गये हैं।"[1]

सैण्ड्स संयुक्त प्रान्त के गुप्तचर विभाग के उप-अधीक्षक थे। उन्होंने प्रान्त के विभिन्न जिलों से गुप्तचर विभाग के कर्मचारियों द्वारा सूचनाएँ एकत्र कीं और इन्हीं सूचनाओं के आधार पर "Arya Samaj in the United Provinces" पुस्तक लिखी। यह पुस्तक 1910 में प्रकाशित

1. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास भाग 4, पृ० 268

हुई किन्तु गोपनीय रखी गयी । इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य आर्यसमाज पर प्रतिबन्ध लगाने का था और इसी प्रसङ्ग में यह विचार प्रस्तुत किया गया था कि आर्यसमाज को राजद्रोह फैलाने वाली संस्था क्यों समझा जाय। पुस्तक में और जो अन्य कारण दिये गये हैं उनमें यह सिद्ध किया गया है कि आर्यसमाज की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से ब्रिटिश सरकार के विरोध में है। आर्यसमाज में देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना पूरी उग्रता के साथ सदा से रही है। इसिलिए ब्रिटिश सरकार का विरोध, ईसाई मिशन का विरोध, और इसीके साथ इस्लाम का विरोध आर्यसमाज के प्रचार का अङ्ग बना रहा है। सैण्ड्स ने इन सभी पक्षों पर बहुत विस्तार से सूचनाएँ संग्रहीत की हैं। स्वयं स्वामी दयानन्द भारतवर्ष में ईसाई मिशन का प्रभाव घटाना चाहते थे और ईसाई प्रभाव और ब्रिटिश सरकार, दोनों एक दूसरे के सहयोगी थे। ईसाई प्रचारक पी० एम० जेन्कर स्वामी दयानन्द से मिले थे और उन्होंने स्वामीजी से मिलकर यह निष्कर्ष निकाला था : **"स्वामीजी सबसे अधिक इस बात से चिन्तित थे कि ईसाइयों के प्रभाव को भारत में किस प्रकार कम किया जाय।"** मिशनरियों को शासन का संरक्षण प्राप्त था।"[1]

यह एक सर्वविदित सत्य है कि स्वामीजी मूलतः इसलिए भी ईसाइयत का डटकर विरोध करते थे क्योंकि वे भारतवर्ष से ब्रिटिश शासन को समाप्त करना चाहते थे।

सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द का युगान्तरकारी एवम् त्रिकालजयी महान् ग्रन्थ है। यह धार्मिक भावना और आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। किन्तु सैण्ड्स जैसे ब्रिटिश अधिकारियों को इसमें राजद्रोह की भरमार दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपनी पुस्तक में सत्यार्थप्रकाश के कई अवतरणों का उद्धरण भी दिया है। सैण्ड्स के अनुसार कुछ आपत्तिजनक स्थल निम्न प्रकार हैं :

---

1. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार – आर्यसमाज का इतिहास, भाग 4, पृ० 271

(1) सत्यार्थप्रकाश का षष्ठ समुल्लास राजधर्म विषय पर लिखा गया है। यह समुल्लास भारतीय राजनीतिक वाङ्मय के आधार पर राज्य-व्यवस्था का बड़ा सशक्त और विस्तृत वर्णन करता है। इसमें जनतन्त्र का समर्थन और अविनायकवाद, स्वेच्छाचारी शासन आदि का कठोर विरोध है। देश की स्वतन्त्रता, स्वराज्य आदि का समर्थन इससे पूर्व नहीं मिलता। कहा जाता है कि दादाभाई नौरोजी ने सर्वप्रथम भारतीय राजनीति में स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया था। किन्तु ऐतिहासिक तथ्य यह है कि दादाभाई नौरोजी ने 1905 ई० में 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया था और स्वामी दयानन्द ने उससे बहुत पूर्व 1875 में स्वराज्य, स्वतन्त्रता आदि का इतना खुलकर प्रयोग एवं प्रचार किया था कि सैण्ड्स जैसे पुलिस अधिकारी स्वामीजी को विद्रोही संन्यासी समझने लगे थे। षष्ठ समुल्लास में राजा कैसे हों, उनकी समितियाँ, सभाएँ कैसी हों, यह सब वर्णन किया गया है। साथ ही न्याय-नीति, दण्ड-नीति, कर-नीति, युद्ध-नीति, व्यूह-रचना, सन्धि-विग्रह की नीति, सबका बहुत विस्तार से वर्णन है। समुल्लास के अन्त में स्वामीजी ने एक प्रार्थना की हैं : "वयम् प्रजापतेः प्रजा अभूम" यह यजुर्वेद का वचन है। हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा, और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किङ्कर भृत्यवत् हैं। **वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे** और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।"[1]

सैण्ड्स जैसे खुफिया विभाग के कठमुल्ला अधिकारियों को यह प्रार्थना राजद्रोही प्रतीत होती है।

यह तो नितान्त सत्य है कि स्वामीजी ने स्वराज्य, स्वदेशी, स्वदेश-वासी राजा, स्वदेशवासी मन्त्री आदि भावनाओं का दृढ़ता के साथ समर्थन किया है।

(II) स्वामीजी भारतवर्ष की दरिद्रता, परतन्त्रता एवम् सामाजिक

1. सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ 373

अधोगति पर अत्यधिक दुःखी थे। उन्होंने अष्टम समुल्लास में लिखा है :

"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा ही क्या कहना, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े से राज्य स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ता है। **कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।** अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[1]

इस उद्धरण में स्वामीजी की अन्तर्वेदना फूट पड़ती है। परतन्त्रता का कारण भी समझ में आता है। इस उद्धरण में स्वदेशी राज्य को विदेशी राज्य से अधिक अच्छा और सर्वोपरि उत्तम बताया गया है। महारानी विक्टोरिया ने जब 1857 के विद्रोह के पश्चात् भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ले लिया था तब महारानी के घोषणा-पत्र में इसी प्रकार के पक्षपात-रहितता मतमतान्तर से आग्रहहीन न्याय, दया, कृपा आदि का आश्वासन दिया गया था। स्वामीजी के इस उद्धरण में ऐसे आश्वासनों के रहते भी विदेशी शासन की अपेक्षा स्वदेशी शासन उत्तम है, यही प्रमाणित होता है। इनमें विद्रोह जैसी कोई बात नहीं है।

(III) सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में स्वामीजी ने आचार, अनाचार, भक्ष्य, अभक्ष्य आदि विषयों पर विचार किया है। वहाँ वे एक प्रसङ्ग पर विदेशी शासन से हानियों का वर्णन करते हुए लिखते हैं :

1. सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ 354

"विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या का न पढ़ना पढ़ाना व बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या-भाषण आदि कुलक्षण वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पाँच सहस्र वर्ष पहले हुई थीं, उनको भी भूल गये ... आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयङ्कर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अबतक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करें कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।"[1]

इस अवतरण में एक स्वदेश-भक्त संन्यासी की अन्तर्वेदना ने परा-धीनता के कारण का विश्लेषण सुस्पष्ट दोटूक भाषा में किया है। एक ईश्वर-भक्त की अन्तर्वेदना परमेश्वर से प्रार्थना करने में परिणत हो गयी है। इसमें राजद्रोह और विद्रोह की गन्ध खोजना साम्राज्यवादी अफ-सरशाही के पागलपन का चरम रूप ही है।

(IV) सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में ही एक और प्रसङ्ग भी सैण्ड्स को राजद्रोहपूर्ण लगता था :

"जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे तभी आर्यावर्त वा अन्य भूगोलस्थ देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्त्तते थे क्योंकि दूध घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न, रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जबसे विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं

1. सत्यार्थप्रकाश पृ० 414-415

के मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तबसे क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है।"[1]

इस अवतरण में स्वराज्य के समय कैसी सम्पन्नता थी और परतन्त्रता के समय किस तरह जनता के दुःख बढ़ रहे हैं, इस बात का वर्णन है। किन्तु सैण्ड्स इसमें भी राजद्रोह देखते हैं।

सैण्ड्स ने एक पूरी पुस्तक ही लिखी है। उत्तर प्रदेश के विभिन्न जिलों में आर्यसमाज की गतिविधियाँ, आर्यसमाज के क्रिया-कलाप आदि का वर्णन उसमें किया है : किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में हम केवल सत्यार्थप्रकाश से सम्बन्धित अंश पर ही विचार कर रहे हैं।

सैण्ड्स का पक्षपातपूर्ण भ्रम :

सैण्ड्स जैसे अधिकारी किस प्रकार भ्रम और पक्षपात के शिकार हो गये थे, इसका मूल्याङ्कन 'आर्यसमाज का इतिहास, भाग-4' में किया गया है। हम उसे उसी रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं :

"संयुक्त प्रान्त में आर्यसमाज की राजद्रोही गतिविधियों का जो भयावह विवरण और भीषण चित्र सैण्ड्स की उपर्युक्त रिपोर्ट में प्रस्तुत किया गया है, वह कई कारणों से यथार्थ, प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता है। इसका पहला कारण यह है कि यह विवरण विभिन्न जिलों के पुलिस अधीक्षकों द्वारा, खुफिया पुलिस के कर्मचारियों द्वारा सङ्कलित की गयी सूचनाओं के आधार पर तैयार किया गया है। वर्त्तमान शताब्दी के पहले चरण में संयुक्त प्रान्त के पुलिस-विभाग में मुसलमानों का बोलबाला था। उन दिनों अस्सी प्रतिशत पुलिस कर्मचारी मुसलमान होते थे। ये आर्यसमाज को अपना कट्टर विरोधी समझते थे और उससे बड़ी घृणा रखते थे। इन व्यक्तियों ने आर्यसमाज को बदनाम करने के लिये झूठी रिपोर्टें देने में कभी कोई संकोच नहीं किया। तत्कालीन आर्यसमाजी पत्र खुफिया विभाग के इन जासूसों की कड़ी आलोचना किया करते थे। इस विषय में पहले 'मुसाफिर' के सम्पादक

1. सत्यार्थप्रकाश पृ० 417

पण्डित भोजदत्त द्वारा एक पुलिस इन्सपेक्टर खलीलुर्रहमान की आलोचना का उल्लेख किया जा चुका है। पीलीभीत से प्रकाशित होने वाले उर्दू पत्र 'रियाजे फैज' ने 4 फरवरी 1910 ई० के अपने अङ्क में लिखा था कि आर्यसमाज पर सरकार के सन्देह का एक बड़ा कारण ऐसे नैतिकता-शून्य पुलिस अधिकारी हैं जो अपनी वैयक्तिक पदोन्नति को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हुए अपनी स्वार्थसिद्धि की दृष्टि से अंग्रेज अधिकारियों के कान आर्यसमाज के बारे में झूठी गुप्त रिपोर्टों से भरते रहते हैं, जबकि हिन्दुओं को इनके खण्डन करने का कोई अवसर नहीं मिलता है। महात्मा मुन्शीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' के 16 फरवरी 1910 के अङ्क में एक सम्पादकीय अग्रलेख 'गुरुकुल में सरकारी जासूस' के शीर्षक से लिखा था। इसमें यह बताया गया था कि गुप्तचर विभाग के अधिकांश कर्मचारी मुसलमान हैं। वे हर तरह से यह कोशिश करते रहते हैं कि आर्यसमाज को सामान्य रूप से तथा गुरुकुल को विशेष रूप से सरकारी अधिकारियों की निगाहों में अधिक-से-अधिक नीचा गिराया जाय।

इससे स्पष्ट है कि उस समय खुफिया पुलिस के मुसलमान कर्मचारी आर्यसमाज की गतिविधियों और उपदेशकों के भाषणों की रिपोर्ट बड़ी पक्षपातपूर्ण दृष्टि से लिखा करते थे और उनके आधार पर तैयार किये गये विवरण को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है :

सैण्ड्स के उपर्युक्त विवरण का दूसरा बड़ा आधार मिशनरियों से प्राप्त सूचनाएँ हैं। ये ईसाई प्रचारक भी आर्यसमाज के कट्टर विरोधी थे और ब्रिटिश सरकार के प्रमुख अधिकारियों के मन में आर्यसमाज के प्रति राजद्रोह की शङ्का उत्पन्न करने में उनकी भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। पहले यह बताया जा चुका है कि बिशप पार्कर की सम्मति को संयुक्त प्रान्त की सरकार ने बहुत महत्त्व दिया था।[1]"

उत्तर प्रदेश में ऐसे तूफान कई बार उठे किन्तु अफसरों के स्तर तक

1. आर्यसमाज का इतिहास, भाग 4, पृ० 294-295

ही रहे। इलाहाबाद के न्यायाधीश न्यायमूर्त्ति हेरिसन के निर्णय के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश को राजद्रोह के अभियोग से मुक्त ही रखा गया है।

4. पेशावर का मुक़द्मा

यह मुकदमा 1892 ई० में पेशाबर के सेशन जज माननीय डब्ल्यू० ओ० क्लार्क की अदालत में चला था। यह एक अपील का मुकदमा था और इसमें माननीय न्यायाधीश महोदय ने सत्यार्थप्रकाश के स्वरूप पर विचार किया था।

हमने इस मुकदमे का विस्तार खोजने के लिए यथाशक्ति प्रयास किया। क्या पूर्व पक्ष था, अभियोग के क्या मुद्दे बने. इत्यादि का कुछ अधिक पता न चल सका। जनश्रुति इस प्रकार है कि माननीय न्यायाधीश की इजलास में सत्यार्थप्रकाश के चतुर्दश समुल्लास पर आपत्ति की गयी थी। कहा जाता है कि तनकीह के समय आर्यसमाज के वकील ने एक बिन्दु यह निर्धारित किया कि सम्पूर्ण चतुर्दश समुल्लास आपत्तिजनक है या उसका कुछ अंश। मुक़दमा करने वालों ने सम्पूर्ण चौदहवें समुल्लास को आपत्तिजनक माना। बहस के समय आर्यसमाज के वकील ने इस प्रश्न को उठाया कि सम्पूर्ण चतुर्दश समुल्लास में तो सैकड़ों आयतों का हिन्दी अनुवाद भी शामिल है। क्या कुरान की ये आयतें मुसलमानों की निगाह में आपत्तिजनक हैं? और यदि ये आयतें आपत्तिजनक नहीं हैं तो सम्पूर्ण चतुर्दश समुल्लास आपत्तिजनक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार सम्पूर्ण चतुर्दश समुल्लास आपत्तिजनक न होकर बहस का मुद्दा केवल कुछ अंशों पर आ जाता है। चूँकि अभियोग सम्पूर्ण समुल्लास पर हैं, अतः न्याय की दृष्टि से अभियोग टिक नहीं पाता।

यह तो हुई जनश्रुति की बात। पूर्व चर्चित उत्तर प्रदेश के पुलिस अधीक्षक के अनुसार न्यायाधीश की राय में सत्यार्थप्रकाश के अंश अन्य धर्मों के अनुयायियों को ठेस पहुँचाने वाले हैं। सैण्ड्स के अनुसार, साम्प्रदायिक विद्वेष भड़काने वाले कार्यों को 1898 ई० में भारतीय दण्ड संहिता में दण्डनीय बनाया गया। अतः उससे पूर्व के सभी प्रयास व्यर्थ

गये और सत्यार्थप्रकाश को विरोधियों की तमाम चेष्टाओं के बाद भी न राजद्रोही पाया गया और न ही साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने के कारण आपत्तिजनक समझा गया।

स्वतन्त्र भारत में प्रतिबन्ध की चेष्टा :

1947 ई० में जब भारत स्वतन्त्र हो गया और देश का विभाजन हो गया तो एकबार मुस्लिमलीग और साम्प्रदायिक मुसलमानों के हौसले पस्त हो गये थे। ईसाई मिशन तो अपनी सम्पत्तियाँ बेचने भी लगे थे। किन्तु उस समय भारतीय राजनीति पर श्री जवाहरलाल नेहरू का अतुलनीय प्रभाव था और नेहरू जी साम्प्रदायिकता को कोसते तो बहुत थे। किन्तु अल्पसंख्यकों के सामने झुकने में और उनको सन्तुष्ट करने में नेहरू जी को हारे हुए जुआड़ी का-सा आनन्द आता था। नेहरूजी दो राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को मानते न थे, किन्तु उसी आधार पर उन्होंने देश का विभाजन स्वीकार किया। यह राजनीतिक पराजय थी किन्तु कांग्रेस ने इस पराजय को ईमानदारी से स्वीकार न करके अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण को नीति अपना ली। परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान की ओर भागते हुए मुसलमान रुक गये और जो साम्प्रदायिक आग देश विभाजन के साथ बुझ जानी चाहिए थी, वह पुनः लपटें मारने लगी। यहाँ तक कि अंग्रेजों के समय सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध की जो चेष्टा सफल न हो सकी थी, स्वतन्त्रता के बाद उसका फिर प्रयास आरम्भ हो गया।

5. भोपाल राज्य में प्रतिबन्ध

भोपाल नवाबी राज्य था। वहाँ के मुस्लिम अधिकारी सत्यार्थ-प्रकाश के चौदहवें समुल्लास से असन्तुष्ट थे। सिहोर नगर के मुस्लिम अधिकारियों ने जून 1948 ई० में सत्यार्थप्रकाश के चतुर्दश समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगा दिया और सत्यार्थप्रकाश की जिन पुस्तकों में 14वाँ समुल्लास सम्मिलित था, उन्हें भी जब्त कर लिया गया।

आर्यसमाज की ओर से विरोध :

पञ्जाब के विभाजन के साथ आर्यसमाज की स्थिति चोट खाये हुए सिंह की सी हो रही थी। भोपाल के मुसलमान नवाब का सत्यार्थप्रकाश पर यह प्रतिबन्ध घाव पर नमक रगड़ना था। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली और राजस्थान की प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधि सभा ने इस अनुचित, साम्प्रदायिकता से प्रेरित प्रतिबन्ध का विरोध किया और सरकार को दो मास का समय दिया। आर्यसमाज की ओर से यह चेतावनी दी गई थी कि यदि दो मास के भीतर प्रतिबन्ध हटा न लिया गया तो आर्यसमाज सत्याग्रह करने के लिए बाधित हो जायगा।

प्रतिबन्ध की वापसी :

भोपाल की नवाबी सरकार ने आर्यसमाज की इस चेतावनी को गम्भीरता से लिया और नवाब सरकार ने 26 सितम्बर 1948 ई० को प्रतिबन्ध वापस लेने का आदेश जारी कर दिया। इस प्रकार 26 सितम्बर 1948 ई० को यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया।

6 जम्मू-कश्मीर में प्रतिबन्ध

स्वतन्त्रता से पूर्व जम्मू-कश्मीर भारतवर्ष में एक रियासत थी। इसके राजा हिन्दू थे और यहाँ की जनता में मुसलमानों का बहुमत था। इस रियासत में जनसंख्या की दृष्टि से लद्दाख में बौद्ध धर्मावलम्बियों का बहुमत है, जम्मू में हिन्दुओं का बहुमत है और कश्मीर में मुसलमानों का बहुमत है। भारत की स्वतन्त्रता के समय कश्मीर के राजा ने भारत के साथ जम्मू-कश्मीर को उसी प्रकार मिला दिया था जिस प्रकार भारतवर्ष की अन्य देशी रियासतें भारत सङ्घ का अविभाज्य अङ्ग बनी थीं। कश्मीर के विलय के समय, कश्मीर के नेता शेख़ अब्दुल्ला थे और वहाँ राजा के विरुद्ध जन-आन्दोलन भारत की स्वतन्त्रता के पूर्व से ही चल रहा था। भारतवर्ष के तात्कालिक प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू से कश्मीर के जन-नेता शेख़ अब्दुल्ला की गहरी मित्रता थी। अतः शेख़ अब्दुल्ला ने नेहरूजी को प्रभावित करके भारतीय संविधान की धारा 370 के अन्तर्गत

जम्मू-कश्मीर के लिए विशेष संवैधानिक अधिकार प्राप्त कर लिया। इस विशेषाधिकार के कारण जम्मू-कश्मीर सरकार कई तरह के स्वतन्त्र निर्णय ले लेती है। श्री शेख़ अब्दुल्ला साम्प्रदायिक भावनाओं से प्रेरित थे।

गोपनीय आदेश :

शेख़ अब्दुल्ला की सरकार भी साम्प्रदायिक थी। जम्मू-कश्मीर की गवर्नमेन्ट ने दिनाङ्क 20-5-80 ई० को एक गुप्त आदेश जम्मू-कश्मीर के सभी पुस्तकाल्यों में प्रसारित किया। यह आदेश सं० D.A.L 72/A.D.L. 295/90 सीक्रेट (गुप्त) था। इसके द्वारा सत्यार्थप्रकाश और श्रीमद्-भगवत्गीता पर जम्मू-कश्मीर की गवर्नमेन्ट ने प्रतिबन्ध लगा दिया था। सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाजियों का धर्मग्रन्थ है और भगवत्गीता हिन्दूमात्र का धर्मग्रन्थ है। ऐसी उच्चकोटि की विश्व सम्मानित पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगाना शेख़ अब्दुल्ला की मुस्लिम कट्टर साम्प्रदायिकता का उग्र रूप था। आदेश गुप्त था पर इतना अन्यायपूर्ण था कि इस अन्यायपूर्ण साम्प्रदायिक पागलपन से प्रेरित आदेश के विरुद्ध आर्यसमाज में उग्र क्षोभ होना अत्यन्त स्वाभाविक ही था।

सार्वदेशिक सभा की सक्रियता :

सार्वदेशिक सभा ने जम्मू-कश्मीर सरकार की इस अन्यायपूर्ण नीति का जमकर विरोध किया। सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री लाला रामगोपाल शालवाले भारतवर्ष के प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी और गृहमन्त्री श्री ज्ञानी जैल सिंह से मिले और उन्हें आर्यसमाज में व्याप्त क्षोभ और इस अन्यायपूर्ण आदेश से अवगत कराया। सार्वदेशिक सभा के प्रधान के विशेष प्रतिनिधि के रूप में श्री पृथ्वी सिंह आजाद कश्मीर गये और वहाँ राज्य के गवर्नर और अन्य अधिकारियों से मिलकर इस आदेश को अविलम्ब निरस्त करने की माँग की। उधर प्रशासनिक स्तर पर इस गुप्त आदेश को निरस्त करने का कार्य चलाया जा रहा था और साथ ही जन-आन्दोलन के द्वारा सरकार पर दबाव डालने की चेष्टा आरम्भ कर दी गयी थी।

धर्म-ग्रन्थ दिवस :

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान, माननीय श्री शालवाले ने समस्त आर्यसमाजों को निर्देश दिया कि 28 सितम्बर 1980 ई०, रविवार को इस अन्यायपूर्ण आदेश के विरुद्ध सार्वजनिक सभाएँ आयोजित की जाँय और इस आदेश को वापस लेने के प्रस्ताव पारित करके जम्मू-कश्मीर के मुख्यमन्त्री, भारत सरकार के प्रधानमन्त्री और गृहमन्त्री को ये प्रस्ताव भेजे जाँय, साथ ही समाचार-पत्रों में भी इस अन्यायपूर्ण आदेश को वापस लेने के प्रस्ताव प्रकाशित कराये जाँय।

स्वाभाविक था आर्यसमाज में क्षोभ और असन्तोष उत्पन्न हुआ और 6-9-1990 को कश्मीर सरकार ने यह अन्यायपूर्ण आदेश वापस ले लिया। इस अवसर पर सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री लाला राम-गोपाल शालवाले का ऐतिहासिक प्रेस वक्तव्य प्रसारित हुआ :—

> "गवर्नमेण्ट ऑफ जम्मू एण्ड कश्मीर के पुरातत्व संग्रहालय और पुस्तकालय के निदेशक के द्वारा घोषणा की गयी है कि आदेश सं० D. A. I. M./157 A.D.L. 295/80 दिनांक 6-9-1990 द्वारा राज्य की समस्त लाइब्रेरियों को आदेश दिया गया है कि दिनांक 20-5-1980 को जो आदेश सत्यार्थ-प्रकाश एवं भगवद्गीता को लाइब्रेरियों से हटाने का दिया गया था, उसे वापस लिया जाता है।"

इस घोषणा का स्वागत करता हुआ मैं आर्य जगत् को बधाई देता हूँ कि महर्षि दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश से प्रतिबन्ध हटाकर शेख अब्दुल्ला की सरकार ने बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है।

केन्द्रीय गृहमन्त्री श्री ज्ञानी जैल सिंहजी भी धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने उचित समय पर शेख सरकार का मार्गदर्शन किया।

शिरोमणि सभा के प्रधान श्रीलालाजी के इस वक्तव्य से आर्य जगत् ने सन्तोष की साँस ली और एक संघर्ष में साम्प्रदायिक शेख़ अब्दुल्ला की सरकार के विरुद्ध सफलता का अहसास किया। जम्मू-कश्मीर में सत्यार्थ-प्रकाश और भगवद्गीता पर प्रतिबन्ध का आदेश शेख़ अब्दुल्ला सरकार की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को प्रकट करता है। साथ ही संविधान की धारा 370 के तहत जम्मू-कश्मीर में हिन्दुओं को किस प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है, इसे भी प्रकट करता है। इस घटना ने सार्वदेशिक सभा और उसके प्रधान श्री शालवाले के प्रभावशाली नेतृत्व को भी प्रमाणित किया।

कानून के पञ्जे से बाहर :

इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से कानून के बलवान् पञ्जों ने कई बार सत्यार्थप्रकाश को अपनी पकड़ में जकड़ने का असफल प्रयास किया, किन्तु महर्षि का यह कालजयी ग्रन्थ सदा उनकी पकड़ से बाहर रहा। सत्यार्थप्रकाश एक मृत्युञ्जय ग्रन्थ है। तर्क और विद्या से भरपूर है विरोधी लोग जब इसके अकाट्य तर्क और विश्व की कल्याण-कारिणी भावना पर हावी न हो सके, एवं साम्प्रदायिक लोगों को जब उनके साम्प्रदायिक महल लड़खड़ाते दृष्टिगोचर हुए तो शासन और कानून एवं न्यायालय का सहारा लिया गया। किन्तु यह मृत्युञ्जय कालजयी ग्रन्थ अपनी प्रतिष्ठा के साथ उनकी पकड़ से बाहर ही रहता आया है और इसे ज़ब्त कराने वालों को सदा ही मुँह की खानी पड़ी है।

साम्प्रदायिक आक्रमण

सत्य का विरोध साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता के कारण सदा ही होता रहा है। सुकरात को ज़हर पीना पड़ा था, गैलेलियो को अमानुषिक यातनाएँ सहनी पड़ी थीं। स्वामी दयानन्द को भी न केवल विरोध सहना पड़ा था, तथा ईंटें और पत्थर खाने पड़े थे बल्कि 14 बार ज़हर पीना पड़ा था और अन्त में विषपान से ही संसार के कल्याणकारी कार्यों को अधूरा छोड़ कर वे अकाल हो कालकवलित हो गये थे। स्वामीजी

सत्य के प्रचारक थे, सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सदा उद्यत रहते थे। स्वाभाविक है कि हर सम्प्रदाय वाले अपने मत और मान्यताओं को सत्य ही बताते हैं और मानते हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि ने भी अपने मतों को सत्य बताया और स्वामी दयानन्द और उनके ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध पुस्तकें लिखीं। ईसाइयों ने भी सत्यार्थ-प्रकाश के विरुद्ध पुस्तकें लिखीं। सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध पुस्तकें तो मुसलमानों ने भी लिखीं, किन्तु वे पुस्तकें लिखकर ही सन्तुष्ट न हुए बल्कि उन्होंने सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के विरुद्ध जन-आन्दोलन साम्प्रदायिक रूप में छेड़ दिया। भारतवर्ष का वह समय 20वीं शताब्दी का तीसरा-चौथा दशक, मुसलमानी साम्प्रदायिकता का सामूहिक रूप से शिकार हुआ। किन्तु इस साम्प्रदायिक झञ्झावात के पूर्व परस्पर विचार विनिमय होता रहता था। सच तो यह है कि ईसाई और मुसलमान दोनों ही हिन्दुओं को अपना शिकार समझते थे। जिसकी जहाँ बन पड़ती थी, हिन्दुओं के विरुद्ध पुस्तकें तो लिखता ही था, हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान बना लेने में गर्व करता था और सफलता का अनुभव करता था। स्वामी दयानन्द से पूर्व मुसलमानों ने हिन्दुओं के विरुद्ध और हिन्दुओं ने कभी उनके उत्तर में और कभी विरोध में पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित की थीं।

सत्यार्थप्रकाश से पूर्व की स्थिति :

श्रीहितैषी अलावलपुरी ने **"सत्यार्थप्रकाश आन्दोलन का इतिहास"** नामक एक पुस्तिका लिखी थी। यह हिन्दी और उर्दू में प्रकाशित हुई थी। इसका 1946 ई० का संस्करण हमारे संग्रह में है। श्रीहितैषी पृष्ठ 17 पर लिखते हैं :

> "धार्मिक भावनाओं का ही यह परिणाम समझना चाहिये कि कुछ लोगों ने हिन्दुओं के विरुद्ध पुस्तकें लिखी थीं। उपरोक्त विषय में जिन पुस्तकों का ज्ञान हो चुका है उनमें से पुरानी "रद्दे हिन्दू" है जिसके लेखक का नाम मोहम्मद इस्माइल

बोकनी रत्नागिरि छपा है। यह पुस्तक बम्बई में 1261 हिजरी तदनुसार सन् 1845 ई० में मोहम्मद अदरीस बिन अबदुल्ला चिल्माई ने सबसे पूर्व छपवायी। दूसरा संस्करण 1267 जुबलहज तदनुसार अक्टूबर या नवम्बर सन् 1850 ई० में कानपुर में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त कई अन्य संस्करण प्रकाशित हुए। सभी अच्छे पुस्तकालयों में इनका कोई न कोई संस्करण विद्यमान है। इसमें जो कुछ लिखा है सब प्रश्नोत्तर के रूप में है। इसके उत्तर में "रद्दे मुसलमान" और "अब्ताल उऊमरवासमीन" पुस्तकें प्रकाशित हुईं। पहली पुस्तक के लेखक चौबे बद्री दास थे। "तोहफतुल हिन्द" नामक पुस्क 1268 हिजरी अर्थात् 1851-52 ई० में मौलाना उबेद उल्ला नामक नौमुस्लिम ने लिखी व प्रकाशित करवाई जो 1264 हिजरी अर्थात् सन् 1848 ई० में मुसलमान हो गया था, उसका नाम अनन्त राम था। यह पुस्तक उर्दू में थी। इसके उत्तर में मुंशी इन्द्रमन की ओर से "तोहफतुल इस्लाम" फारसी में प्रकाशित हुई। इसके उत्तर में सैयद महमूद हुसेन ने "खल्मते हनूद" नामक पुस्तक फारसी में 1281 हिजरी—सन् 1864 या 65 में प्रकाशित की। इसके उत्तर में मुंशी इन्द्रमन ने "पैदायशे इस्लाम" नामक पुस्तक सन् 1864 ई० में फारसी में प्रकाशित की। बरेली के किसी एक मुसलमान ने "मसनबी दीने हिन्दू" नामक पुस्तक कविता में छपवायी। इसका उत्तर मुंशी इन्द्रमन ने "मसनबी दीने अहमद" के रूप में दिया। इसके अनन्तर मौलाना मोहम्मद हुसेन फकीर की पुस्तक "तेगे फकीर पर गर्दने शरीर" सन् 1863 ई० में प्रकाशित हुई। फिर जब मुरादाबाद के एक मौलाना अहमददीन ने "एज़ाज़े मोहम्मदी" और दूसरे मौलाना कुतुब आलम ने "बदिया अस्नाम" नामक पुस्तकें लिखीं तो मुंशी इन्द्रमन ने संवत् 1922 विक्रम अर्थात् सन् 1865 ई० में "हमलाये-ए-हिन्द" "सहसामये

हिन्द" पुस्तकें प्रकाशित कीं। सन् 1867 ई० में "सोलतए हिन्द" नामक पुस्तक छपी। तोहफतुल हिन्द दूसरा संस्करण मुद्रित हाशमी प्रेस, मेरठ, तीसरी बार 1277 हिजरी तदनुसार सन् 1860 ई० में प्रकाशित हुआ, उस पर लेखक का नाम मौलाना उबेद उल्ला लिखा हुआ है।"

स्वामी दयानन्द का कार्यकाल सन् 1863 ई० के आस-पास शुरू होता है। इतने लम्बे उद्धरण से हमें केवल इतना मात्र अभीष्ट है कि स्वामी जी के कार्यकाल से पूर्व के दो-तीन दशक इस प्रकार के साम्प्रदायिक साहित्य से भरे पड़े हैं। सभी "मम सत्यम्" का नारा बुलन्द कर रहे थे। स्वामीजी ने देखा कि सत्य के नाम पर केवल साम्प्रदायिकता का ही बोलबाला है। स्वामीजी के कुछ प्रसिद्ध शास्त्रार्थ ईसाई मुसलमानों से हुए हैं। मौलवी मोहम्मद कासिम के साथ चांदपुर—शाहजहाँपुर—में सन् 1977 के 19-20 मार्च को शास्त्रविचार हुआ था। जालन्धर में मौलबी अहमद हसन के साथ 24 सितम्बर सन् 1877 को शास्त्रार्थ हुआ था। मौलबी अब्दुल रहमान के साथ उदयपुर में 11 सितम्बर से 17 सितम्बर तक सन् 1882 ई० में 7 विभिन्न प्रश्नों को लेकर विचार हुआ था। इससे यह सहज ही समझ में आ जाता है कि सन् 1883 ई० में सत्यार्थप्रकाश का परिवर्द्धित-संशोधित द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ, उससे पूर्व हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अपने-अपने मत एवं सम्प्रदाय की उच्चता को सिद्ध करने के लिये कई बार प्रयास हो चुके थे।

मुसलमानों द्वारा परवर्ती विरोधी साहित्य :

सत्यार्थप्रकाश के छपने के पश्चात् मुसलमानों ने बौद्धिक स्तर पर विरोध किया। बहुत सारे शास्त्रार्थ मुबाहिसे होते रहे और दोनों ओर से कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। आर्यसमाज का इतिहास खण्ड 5 अध्याय 21 पृष्ठ 520 पर प्रसिद्ध गवेषक विद्वान् डा० भवानीलाल भारतीय ने इस प्रकार लिखा है :

"मुसलमानों ने जो साहित्य सत्यार्थप्रकाश और आर्य-समाज के विरोध में लिखा, वह अधिकांशतः उर्दू में ही है।

सर्वप्रथम मुसलमानों के कादियानी अहमदिया फिर्के ने आर्य-समाज के विरोध में लेखनी उठायी। मिर्जा गुलाम अहमद द्वारा लिखी गई पुस्तकों के खण्डन में पं० लेखराम द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का उल्लेख हम इसी ग्रन्थ के नवें अध्याय में कर चुके हैं। बुराहीन-ए-अहमदिया के समर्थन में तस्दीक-ए-बुराहीन-ए-अह-मदिया लिखी गयी। इसी कोटि की एक अन्य पुस्तक ताईद-ए-बुराहीन-ए-अहमदिया अल्मारूक-ए-नएक-ए-चश्मये आरिया छपी। मौलबी अबू रहमत हसन ने "वेद और कुरान का मुकाबला" तथा "वेद की हकीकत" (दोनों पुस्तकें सन् 1895 ई० में अमृतसर में छपीं) लिखीं।"

साम्प्रदायिक उन्माद का उग्र रूप :

मुसलमान और ईसाई हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं पर खुलकर चोट करते रहे और हिन्दुओं की ओर से भी प्रतीकार होता रहा, किन्तु यह आलोचना-प्रत्यालोचना या तो बौद्धिक स्तर पर होती थी अथवा एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिये होती थी, किन्तु इसमें विचार-शून्य, बुद्धिविपरीत, साम्प्रदायिक उन्माद की गन्ध कम होती थी। खिलाफत आन्दोलन के कारण मुसलमानों ने कांग्रेस और महात्मा गाँधी की तुष्टीकरण-नीति का भरपूर लाभ उठाया। कहते हैं कि मुसलमानों का हौसला इतना बुलन्द हो गया था कि उनके नेता अली बन्धुओं ने (मोहम्मद अली, शौकत अली) अछूतों को आधा-आधा हिन्दू-मुसलमानों में बाँट लेने का प्रस्ताव कर दिया था। स्वभावतः ही स्वामी श्रद्धानन्द और पं० मदन मोहन मालवीय जैसे हिन्दू हितों के शुभचिन्तकों को इस साम्प्रदायिक उन्माद से चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। इधर आर्यसमाज में शुद्धि आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा तो मुसलमानों का छटपटाना और बढ़ गया। दोनों ओर से कमर कसकर लोग तैयार हो गये और हिन्दुओं के जीवन में सञ्जीवनी बूटी का काम करने वाले ग्रन्थरत्न 'सत्यार्थप्रकाश' की ज़ब्ती की माँग मुसलमानों की ओर से की जाने लगी। इसका सारांश आर्यसमाज के इतिहास में निम्न प्रकार मिलता है :

"बीसवीं सदी के तृतीय दशक में स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में शुद्धि आन्दोलन जिस प्रकार जोर पकड़ने लगा था उससे क्षुब्ध होकर कतिपय मुसलमानों ने सत्यार्थप्रकाश पर और आर्यसमाज पर साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने का आरोप लगाना आरम्भ कर दिया। उनका कहना था कि सत्यार्थप्रकाश के अनेक अंश इस प्रकार के हैं जिनसे अन्य मतों व सम्प्रदायों के अनुयायियों के हृदयों पर आघात पहुँचता है, अतः सरकार को उसपर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये। कांग्रेस और खिलाफत के प्रसिद्ध नेता मौलाना मोहम्मद अली का ध्यान मुसलमानों के इस आन्दोलन की ओर गया और उन्होंने अपने दैनिक पत्र "हमदर्द" में इस आशय का एक लेख प्रकाशित किया कि सत्यार्थप्रकाश आर्यों के गुरु स्वामी दयानन्द की मुख्य कृति है। आर्यों की इस ग्रन्थ के प्रति असाधारण भक्ति है। सत्यार्थप्रकाश के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा देने से जो भयङ्कर परिस्थिति उत्पन्न हो जायेगी उसपर नियन्त्रण पा सकना किसी भी सरकार के लिये सुगम नहीं होगा। फिर बिना किसी न्याय्य कारण के आर्यसमाज जैसी सशक्त संस्था को सरकार अपना विरोधी बनाये भी क्यों ?[1]"

मुसलमानों की ओर से सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध जो आन्दोलन चल रहा था उसकी एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह हुई कि हिन्दू नेता और हिन्दू समाचार-पत्र सारे झगड़े की जड़ कुरान को बताने लगे और यह माँग करने लगे कि प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता है तो कुरान पर, सत्यार्थप्रकाश पर नहीं। सत्यार्थप्रकाश की समालोचनाएँ तो कुरान की आयतों की प्रतिक्रिया हैं। फल यह निकला कि मुसलमानों ने सत्यार्थ-प्रकाश और हिन्दुओं ने कुरान को जब्त करने की माँग पर जोर देना आरम्भ कर दिया। इसी बीच प्रान्तीय धारासभाओं के चुनाव हुए और सिन्ध में मुस्लिम लीगी सरकार बन गयी। सिन्ध की लीगी सरकार ने सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाने की नीति अपनाने का निर्णय लिया।

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकारकृत आर्यसमाज का इतिहास भाग 2, पृ० 616-617

सिन्ध में प्रतिबन्ध की चेष्टा

बीसवीं शताब्दी का चतुर्थ दशक भी बड़े साम्प्रदायिक तनाव का था। मुसलमानों को, विशेष रूप से मुस्लिम लीग के समर्थकों को यह भरोसा होने लगा था कि साम्प्रदायिक तनाव जितना अधिक होगा, पाकिस्तान उतना ही जल्दी एवं उतनी ही आसानी से प्राप्त हो जायेगा। देश में प्रान्तीय विधान सभाओं के निर्वाचन हुए। कई प्रान्तों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ और वहाँ कांग्रेस की सरकार बनी। सिन्ध प्रान्त में मुसलमानों का बहुमत तो था ही, वहाँ 60 सदस्यों की विधानसभा में कांग्रेस के केवल 7 सदस्य निर्वाचित हो सके। अतः सिन्ध में मुस्लिम लीग के बहुमत के कारण मुस्लिम लीग का ही मन्त्रिमण्डल बना। शासनतन्त्र हाथ में आ जाने के पश्चात् मुस्लिम लीगी साम्प्रदायिकता ने अपनी साम्प्रदायिक नीतियों का निदर्शन आरम्भ किया। यह सम्भाव्य पाकिस्तान का निदर्शन भी समझा जा सकता था। 23 जून सन् 1943 ई० को यह समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ कि :

> "नये मन्त्रिमण्डल के पास इस आशय के अनेक प्रतिवाद-पत्र पहुँचे हैं कि सत्यार्थप्रकाश नाम की किताब के विरुद्ध कार्यवाही की जाय। सरकार इस मामले पर गम्भीरता से विचार कर रही है। शीघ्र ही किसी निश्चय की घोषणा की जायेगी।"

स्वाभाविक था कि यह समाचार आर्यजगत् में क्षोभ और असन्तोष का कारण बनता क्योंकि यह सुस्पष्ट था कि मुस्लिम लीगी सरकार 'सत्यार्थप्रकाश' पर प्रतिबन्ध लगाने की घोषणा करने ही वाली थी। यह समाचार प्रकाशित होते ही सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तुरन्त ही जवाबी कार्यवाही के लिये सक्रिय हो उठी और 29 जून, सन् 1943 ई० को 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' की ओर से सिन्ध के मुख्यमन्त्री के नाम निम्नलिखित तार भेजा गया :

> "यह जानकर बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ कि आपका

मन्त्रिमण्डल आर्यों के सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता है। यदि ऐसा कोई निश्चय किया गया तो सब आर्य हैदराबाद रियासत की भाँति स्वाधीनता के लिये हर प्रकार की कुर्बानी देने को तैयार होंगे। कृपया ऐसे अदूरदर्शितापूर्ण कदम न उठायें, अन्यथा प्रबल संघर्ष का सामना करना पड़ेगा।"

आर्यसमाज एक सुसङ्गठित सङ्गठन है। इस समाचार के प्रकाशित होने पर प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाएँ और अनेकों आर्यसमाज सारे देश में स्थान-स्थान पर सक्रिय हो गये और प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं तथा बहुत-से आर्यसमाजों की ओर से सिन्ध सरकार की इस साम्प्रदायिक नीति के विरुद्ध उन्हें आगाह किया गया। सिन्ध सरकार सम्भवतः इतने बड़े आन्दोलन का अनुमान न कर सकी थी और परिस्थिति की गम्भीरता को देखकर 8 जुलाई, 1943 ई० को लीगी सरकार ने सुस्पष्ट घोषणा कर दी कि सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कार्यवाही करने का उनका कोई इरादा नहीं है। उनकी इस घोषणा पर सार्वदेशिक सभा ने सिन्ध सरकार को धन्यवाद का तार भेजा और सारे आर्यजगत् ने सन्तोष की साँस ली।

मुस्लिम लीग जिस साम्प्रदायिक तनाव को बढ़ाना चाहती थी उसकी आवश्यकता तो बनी ही हुई थी। हिन्दू-मुस्लिम तनाव की आग को जितना अधिक भड़काया जाय मुस्लिम लीग के लिये उतना ही अच्छा था। सन् 1943 ई० के दिसम्बर महीने में कराँची में ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन हुआ। उसमें आर्यसमाज के सम्मान्य धर्मग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रकाशन और प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाने के उद्देश्य से निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया गया :

"ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग का यह अधिवेशन केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करता है कि स्वामी दयानन्द की सत्यार्थप्रकाश नाम की पुस्तक

के कुछ अध्याय हजरत मुहम्मद तथा अन्य धर्म-संस्थापकों के विरुद्ध आपत्तिपूर्ण, अपमान जनक तथा भड़काने वाले आक्षेप से पूर्ण है। यह अधिवेशन उक्त सरकारों से माँग करता है कि वे सत्यार्थप्रकाश के उन अध्यायों को गैरकानूनी घोषित करें। साथ ही उनकी यह भी माँग है कि उन अध्यायो के प्रकाशकों पर इण्डियन पीनल कोड की सम्बद्ध धाराओं के अनुसार मुकदमे चलाये जाँय, ताकि इस प्रकार के साहित्य का प्रकाशन भविष्य में बन्द हो जाय।"[1]

यह मुस्लिम लीग का शुद्ध साम्प्रदायिक आक्रमण था और सारे देश के आर्यसमाजों में विशेष रूप से और सामान्य रूप से सभी प्रबुद्ध जनों और हिन्दू सङ्गठनों में बड़ी तीखी एवं तीव्र प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी। आर्य-समाज की सिन्ध प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा ने 'सिन्ध सत्यार्थप्रकाश कमेटी' का निर्माण कर दिया। इस कमेटी ने मुस्लिम लीग के प्रस्ताव का उचित उत्तर देने के ख्याल से निर्णय किया कि सिन्धी भाषा में सत्यार्थप्रकाश का नया संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित किया जाय ताकि सिन्ध प्रान्त के प्रत्येक हिन्दू के पास सत्यार्थप्रकाश की एक-एक प्रति अवश्य पहुँच जाय। सारे देश के आर्यसामाजिक सङ्गठन, प्रतिनिधि सभाओं और आर्यसभाओं ने उदारतापूर्वक इस कार्य को सहायता प्रदान की और सत्यार्थप्रकाश के सिन्धी अनुवाद के नये संस्करण का मुद्रण आरम्भ हो गया।

इस मुस्लिम लीगी साम्प्रदायिकता का एक फल यह निकला कि बहुत सारे आर्यसमाजी सत्यार्थप्रकाश की प्रति अपने पास रखने लगे। घर से बाहर जब बिज़नेस-व्यवसाय, कारोबार आदि के लिये निकलते तो एक थैले में सत्यार्थप्रकाश लटका लेते। यह सत्यार्थप्रकाश की महिमा को प्रमाणित करने की सार्वजनिक प्रक्रिया थी।

इधर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने सिन्ध सरकार के पास अपना प्रतिनिधि भेजा। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरङ्ग सभा ने लीगी प्रस्ताव के उत्तर में निम्न प्रस्ताव पारित किया।"

1. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास भाग 2, पृ०619

"सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरङ्ग सभा को आश्चर्य है कि मुस्लिम लीग ने, जिसमें मुसलमानों का केवल एक भाग सम्मिलित है और जो एक राजनैतिक संस्था होने का दावा करती है, अपने कार्य-क्षेत्र से बाहर जाकर यह प्रस्ताव पास करना उचित समझा कि भारत सरकार सत्यार्थ प्रकाश के कुछ भागों को ज़ब्त कर ले, क्योंकि उनमें अन्य धर्म संस्थापकों, विशेषतः इस्लाम के संस्थापक के विरुद्ध आक्षेप-योग्य और अपमानजनक बातें लिखी हुई हैं :

"सत्यार्थप्रकाश लाखों आर्यों की धर्म पुस्तक है और उसने करोड़ों हिन्दुओं के लिये ही नहीं वरन् भारत तथा विदेशों के निवासियों के लिये भी प्रकाश के स्रोत का कार्य किया है।

"लगभग 60 वर्ष से सत्यार्थप्रकाश संसार के सामने है और भारत की समस्त भाषाओं और योरोप की कई मुख्य-मुख्य भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है और कहीं से भी कभी इसके किसी भाग की ज़ब्ती का प्रश्न गम्भीरतापूर्वक उपस्थित नहीं किया गया। जिन आर्यों और अन्य व्यक्तियों ने सत्यार्थप्रकाश से प्रकाश ग्रहण किया है वे सब मतान्ध मुसलमानों द्वारा उत्तेजित होने पर भी इस लम्बे समय में अहिंसात्मक रहे हैं। इससे स्पष्ट हैं कि इस ग्रन्थ के मान्य लेखक जिस उदात्त भावना से प्रेरित थे और जो उनके अनुयायियों को प्रेरित करती रहती है, वह यह है कि संसार में शान्तिपूर्वक धार्मिक और सामाजिक सुधार का कार्य किया जाय।

"सत्यार्थप्रकाश के मान्य लेखक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ग्रन्थ की भूमिका में और अन्य मतों की आलोचना विषयक समुल्लासों की अनुभूमिकाओं में स्पष्ट रूप से लिख दिया है कि उनका उद्देश्य न उन मतों के संस्थापकों का अपमान करना है और न उनके अनुयायियों की भावनाओं को ठेस पहुँचाना है,

अपितु उनका उद्देश्य सत्य की खोज करना-कराना है, जो मानव-जीवन का उच्चतम उद्देश्य है।

"सभा का यह भी विश्वास है कि इस्लाम और अन्य मतों के सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश में प्रकट की हुई सम्मति उचित आलोचना की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती। इसके विपरीत कुरान और हदीसों में कई ऐसे वाक्य हैं जो काफिरों अथवा गैर-मुसलिमों के विरुद्ध हिंसा का स्पष्ट रूप से प्रचार करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप आर्यसमाज के कई प्रसिद्ध नेता मुसलमानों की बलि चढ़ चुके हैं। इसपर भी आर्यसमाज ने कुरान और हदीसों के ऊपर वर्णित वाक्यों को निकाले जाने की माँग करने का कभी विचार तक नहीं किया। सभा का पूर्ण विश्वास है कि मुसलिम लीग कौंसिल के प्रस्ताव में जिस अनुचित और सर्वथा अनावश्यक कार्यवाही का निर्देश किया गया है, भारत सरकार उस कार्यवाही को करने की भूल नहीं करेगी।

"अन्त में यह सभा अपनी पूर्व घोषणा को बलपूर्वक पुनः दोहराना चाहती है कि यदि दुर्भाग्यवश भारत सरकार ने सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कोई निश्चय किया तो आर्य और करोड़ों हिन्दू, जिनमें सेना की सेवा में लगे हुए जाट व अन्य भी सम्मिलित हैं, अपने इस पवित्र धर्मग्रन्थ के प्रत्येक शब्द की रक्षा के लिये सब प्रकार के त्याग और बलिदानपूर्वक उसका विरोध करने में विवश होंगे।"[1]

आर्य महासम्मेलन का निर्णय :

सरकारें चाहे देशी हों या विदेशी, जन-आन्दोलन और विरोध की शक्ति का अनुमान लगाकर ही अपनी नीति का निर्णय लेती हैं। बहरे कानों को या तो जनघोष सुनाई पड़ता है और या फिर विस्फोट के शब्द। सिन्ध सरकार की इस कट्टर साम्प्रदायिक नीति के विरुद्ध जन-

1. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास भाग 2, पृ० 619

मत जागृत करना और उसे सरकार की राजधानी दिल्ली में ही जनघोष उठाना आवश्यक होता है। सार्वदेशिक सभा ने और दिल्ली के आर्यसमाज के प्रतिनिधियों ने यह निश्चय किया कि 20, 21, 22 फरवरी सन् 1944 ई० को दिल्ली में आर्य महासम्मेलन किया जाय। यह महर्षि के बोध-दिवस के पर्व के अवसर पर था। हिन्दुओं की शिवरात्रि और आर्यसमाजियों की बोधरात्रि आह्वानात्मक जागरण के साथ जुड़ने में भी सहायक थीं। स्वागत-समिति का गठन हो गया। बिना किसी विशेष प्रयत्न के 1400 के लगभग व्यक्ति स्वागत समिति के सदस्य बन गये। यह सफलता का आरम्भिक स्वरूप समझा जा सकता है। इसमें लाला नारायण दत्त को स्वागताध्यक्ष और प्रोफेसर सुधाकर को मन्त्री निर्वाचित किया गया। प्रोफेसर सुधाकर अस्वस्थ थे। उनके त्यागपत्र दे देने पर श्री देवराज चौधरी को स्वागत-मन्त्री निर्वाचित किया गया।

इस महासम्मेलन में सम्पूर्ण हिन्दू समाज का प्रतिनिधित्व हो सके, यह आवश्यक था। यह भी आवश्यक था कि सरकार को यह विदित हो जाय कि इस कार्य में सम्पूर्ण विशाल हिन्दू समुदाय आर्यसमाज के साथ मिलकर संघर्ष करने को उद्यत है। अखिल भारतीय प्रतिष्ठा के हिन्दूनेता डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी इस महासम्मेलन के अध्यक्ष मनोनीत थे, 20 फरवरी सन् 1944 ई० को डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षीय शोभायात्रा बड़े उल्लास के साथ दिल्ली में निकाली गयी। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस जलूस में सभी हिन्दू संगठनों ने, सभी संस्थाओं ने भाग लिया। यह जलूस सङ्गठित हिन्दू समाज का एक उत्साहवर्द्धक स्वरूप बन गया था। डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में यह घोषणा की थी :

"आर्यसमाज के अनुयायियों के दृढ़ संगठन को जानते हुए मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि यदि हमारे धार्मिक अधिकारों में हस्तक्षेप करने का कोई भी दुष्प्रयत्न किया गया, तो उसे परिणाम की चिन्ता किये बिना साहस और संगठन के बल से

छिन्न-भिन्न कर दिया जायेगा। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि सम्पूर्ण हिन्दू जाति और उसके सम्प्रदाय, कुछ छोटे-मोटे अवान्तर भेदों के होते हुए भी, सत्यार्थप्रकाश पर किये गये आक्रमण को अपने लिये चुनौती समझेंगे और उसका मुँहतोड़ उत्तर देने को उद्यत हो जायेंगे।[1]

महासम्मेलन में सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया गया :

"अखिल भारतीय आर्य महासम्मेलन का यह अधिवेशन बड़ी गम्भीरता से अनुभव करता है कि मुस्लिम लीग की ओर से (जो कि अपने को राजनीतिक संस्था कहती है) हिन्दुओं की धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का सङ्गठित प्रयत्न किया जा रहा है और सत्यार्थप्रकाश का विरोध इस आन्दोलन का आरम्भ मात्र है। सत्यार्थप्रकाश में लाखों मनुष्य वैसी ही श्रद्धा और भक्ति-भाव रखते हैं जैसी किसी अन्य धर्मग्रन्थ के प्रति उनके अनुयायियों की होती है। यह ग्रन्थ 70 वर्षों से जनता के समक्ष है। इसका भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद और प्रकाशन हो चुका है और डङ्के की चोट पर इसका देशभर में प्रचार होता रहा है। बहुसंख्यक आर्यसमाजों के मञ्च से यह व्याख्यानों का विषय रहा है और सत्संगों में इसका नित्य पाठ होता रहा है, परन्तु देशवासियों के किसी भी भाग की ओर से उसपर कभी आपत्ति नहीं उठायी गयी। यह सम्मेलन घोषणा करता है कि सत्यार्थप्रकाश में दूसरे मतों या सम्प्रदायों की समालोचना के रूप में कोई ऐसी बात नहीं कही गयी, जो अन्य मतावलम्बियों के धर्मग्रन्थों में विद्यमान न हो। कहा जाता है कि सत्यार्थप्रकाश का विरोध इस इसलिये है कि इससे

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार-आर्यसमाज का इतिहास भाग 2 पृ० 620-621

मुसलमानों की धार्मिक भावना को आघात पहुँचा है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। इसके पीछे तो राजनीतिक चाल स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही है। आर्यसमाज सत्यासत्य का निर्णय शास्त्रार्थ द्वारा करने के लिये सर्वदा उद्यत रहा है, परन्तु आर्यसमाज किसी भी प्रकार यह सहन नहीं कर सकता कि किसी को भी बलात् काट-छाँट करने के प्रयोजन से सत्यार्थप्रकाश की जाँच का अधिकार हो। ऐसी जाँच का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि अत्यन्त भीषण आन्तरिक झगड़े उत्पन्न हो जायेंगे और अन्य मतावलम्बियों के धर्म-ग्रन्थों की इसी प्रकार की समीक्षा के लिये द्वार खुल जायेगा। इस सम्मेलन को आशा है कि न केवल सभी हिन्दू अपितु अन्य मतालम्बी भी मुस्लिम लीग के इस आन्दोलन के गम्भीर तथा भयावह परिणाम पर पूर्णरूपेण विचार करेंगे। सत्यार्थप्रकाश का वर्त्तमान विरोध केवल आरम्भ मात्र है और हिन्दुओं के तथा अन्य मतावलम्बियों के धर्मग्रन्थों में हस्तक्षेप करने की ओर पहला पग है। सभी पुरुषों का, चाहे वे किसी भी मत, धर्म सम्प्रदाय या जाति के क्यों न हों, कर्तव्य है कि इस आन्दोलन का दृढ़तापूर्वक एवं सङ्गठित रूपेण तत्काल विरोध किया जाय। यह सम्मेलन स्पष्ट घोषणा करता है कि सामान्यतः समस्त हिन्दू जगत् और विशेषतः आर्यसमाज अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिये कोई कसर उठा न रखेगा और अपना सर्वस्व त्याग करने के लिये उद्यत रहेगा। इस सम्मेलन की धारणा है कि मुस्लिम लीग की माँग का मुख्य उद्देश्य यह है कि सरकार और आर्यसमाज तथा हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य में गहरा विरोध उत्पन्न हो जाय। इस सम्मेलन का विचार है कि मुस्लिम लीग अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में अवश्य विफल होगी। इस सम्मेलन को पूर्ण आशा है कि बृटिश सरकार, जिसकी आरम्भ से ही धार्मिक तटस्था की निश्चित

नीति रही है, मुस्लिम लीग के जाल में फँसकर आर्यसमाज के धार्मिक अधिकारों में पक्षपातपूर्ण हस्तक्षेप करना कदापि स्वीकार न करेगी।[1]"

इस प्रस्ताव का अनुमोदन अखिल भारतीय रूप में अनेकों विद्वान् नेताओं ने किया। विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा, लाहौर के प्रधान-मन्त्री गोस्वामी पं० गणेश दत्त ने भी इस प्रस्ताव का समर्थन किया। उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दू समाज के एकजुट होकर संघर्ष की घोषणा की।

सत्यार्थप्रकाश से सम्बन्धित इस प्रस्ताव का विश्लेषण करने पर कई विन्दु प्रकट होते हैं :

1. सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध हिन्दुओं की धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप का सङ्गठित प्रयत्न था।
2. यह हस्तक्षेप किसी धार्मिक सङ्गठन की ओर से न होकर मुस्लिम लीग जैसी राजनैतिक संस्था की ओर से था।
3. सत्यार्थप्रकाश में लाखों लोगों की वैसी ही श्रद्धा-भक्ति है जैसी मुसलमानों की कुरान में या ईसाइयों की वाइबिल में है।
4. सत्यार्थप्रकाश उस समय सन् 1943 ई० में 70 वर्षों से जनता के समक्ष था और भारतवर्ष की प्रायः सभी भाषाओं में इसका अनुवाद और प्रकाशन हो गया था।
5. आर्यसमाज इस ग्रन्थ का प्रचार व्याख्यान, शास्त्रार्थ आदि डङ्के की चोट पर सदा से करता आ रहा है।
6. इस धर्मग्रन्थ का सत्सङ्गों में नित्य पाठ होता है।
7. इतने सारे वर्षों की लम्बी अवधि में कभी किसी धार्मिक संस्था ने न कभी प्रतिबन्ध की माँग की, न इसके प्रचार पर आपत्ति उठायी।

---

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास भाग-2, पृ० 621-622

8. सत्यार्थप्रकाश में जो आलोच्य विषय हैं, वे उन-उन धर्मग्रथों में विद्यमान हैं।
9. सत्यार्थप्रकाश के विरोध के पीछे मुसलमानों की धार्मिक भावना को आघात नहीं बल्कि स्पष्ट रूप से साम्प्रदायिक मुसलमानों की राजनैतिक चाल है।
10. आर्यसमाज सत्य-असत्य के निर्णय के लिये शास्त्रार्थ एवं विचार विनिमय के लिये सदा तैयार है।
11. किसी बहाने से सत्यार्थप्रकाश में काट-छाँट करना आर्यसमाज के लिये असह्य है।
12. ऐसी काटछांट की माँग से दूसरे धर्मग्रन्थों में भी काट-छांट की माँग का दरवाजा खुल जायगा।
13 इसलिये हिन्दू और अन्य भी न्यायप्रिय धर्मावलम्बी मुस्लिम लीग के इस अन्यायपूर्ण आन्दोलन के भयावह परिणाम पर ध्यान देंगे।
14. सत्यार्थप्रकाश का विरोध हिन्दुओं के तथा अन्य मतावलम्बियों के धर्मग्रन्थों में हस्तक्षेप का पहला पग है। यह सफल हो जाने पर अन्य धर्मग्रन्थों पर भी प्रतिबन्ध की माँग होगी।
15. सभी लोगों का, चाहे वे किसी मत, धर्म, सम्प्रदाय के हों, मुस्लिम लीग के इस आन्दोलन का विरोध करना सबका कर्त्तव्य है
17. बृटिश सरकार धार्मिक तटस्था की नीति अपनाती रही है अतः
18. बृटिश सरकार आर्यसमाज के धार्मिक अधिकारों में अन्यायपूर्ण हस्तक्षेप न करेगी।

सत्यार्थप्रकाश "रक्षा निधि" की स्थापना के लिये महात्मा नारायण स्वामी ने प्रस्ताव किया इसमें दो लाख रुपये एकत्र करने का निश्चय हुआ। जनता में इतना उत्साह था कि उसी समय निम्न घोषणाएँ कर दी गयीं :

उत्तरप्रदेश प्रतिनिधि सभा	...	50,000/-
पञ्जाब प्रतिनिधि सभा	...	50,000/-
राजस्थान प्रतिनिधि सभा	...	15,000/-

बंगाल प्रतिनिधि सभा	...	15,000/-
आर्य कुमार सभा, बड़ौदा	...	10,000/-
आर्यसमाज, अजमेर	...	5,000/-

सत्यार्थप्रकाश रक्षा-निधि के लिये यह लगभग डेढ़ लाख रुपये की प्रतिश्रुति जनता के उल्लास और दृढ़ निश्चय का उत्साहवर्धक स्वरूप था।

सिन्ध की सरकार लीगी सरकार थी और मुस्लिम लीग की नीति ही उसकी नीति थी। हिन्दू और मुसलमानों में धार्मिक तनाव बढ़ता रहे, यही मुस्लिम लीग को इष्ट था और यही सिन्ध की लीगी सरकार को भी इष्ट था। अन्याय पर तुली हुई सरकार शक्ति की भाषा तो समझ सकती थी, किन्तु जनमत का आदर करना सिन्ध की लीगी सरकार की नीति न थी। अतः 26 अक्टूबर, सन् 1944 ई० को सिन्ध प्रान्त की मुस्लिम लीगी सरकार ने सत्यार्थप्रकाश पर आंशिक प्रतिबन्ध का आदेश प्रसारित कर दिया।

सिन्ध सरकार ने सत्यार्थप्रकाश के प्रतिबन्ध के सिलसिले में सत्यार्थ-प्रकाश पर 3 बार प्रतिबन्ध लगाया। तीनों का स्वरूप अलग-अलग था, जो निम्न प्रकार है :

सिन्ध सरकार द्वारा प्रथम प्रतिबन्ध :

"सिन्ध सरकार
गृह विभाग (विशेष)
सिन्ध सचिवालय, करांची, 26 अक्टूबर, 1944
आर्डर नं० एम० डी० 321

क्योंकि सिन्ध सरकार सार्वजनिक सुरक्षा के प्रयोजन से और सार्वजनिक सुव्यवस्था की स्थापना के लिये निम्नलिखित आदेश जारी करना आवश्यक समझती है, अतः भारत रक्षा कानून की धारा 41 की उपधारा 1 द्वारा जो अधिकार उसे प्रदत्त हैं, उनके अनुसार वह यह आदेश देती है कि सत्यार्थप्रकाश नाम की पुस्तक की कोई भी प्रति तबतक छापी व प्रकाशित

नहीं की जा सकेगी, जबतक कि उसमें से 14वाँ समुल्लास निकाल न दिया गया हो।"

यह आदेश पुरानी छपी और प्रकाशित पुस्तकों के विरुद्ध नहीं था, जिसका अर्थ यह हुआ कि पुरानी छपी और प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ सिन्ध प्रान्त में इस आदेश का उल्लंघन किये बिना बिक सकेंगी, पढ़ी जा सकेंगी, उनका प्रचार किया जा सकेगा, क्योंकि बेचने, छापने, पढ़ने, प्रचार करने आदि पर यह प्रतिबन्ध न था। यह प्रतिबन्ध तो केवल सत्यार्थप्रकाश के 14वें सम्मुलास सहित ग्रन्थ के छापने और प्रकाशित करके पर था, किन्तु आर्यसमाज जैसी संस्था के त्यागी-बलिदानी और आग से जूझने वाले नेताओं और सदस्यों को यह भी कब सहन हो सकता था? क्षोभ का समुद्र उभड़ पड़ा, जयघोषों की तरह कॉमन नारा बुलन्द हो गया—"जो हमसे टकरायेगा, चूर-चूर हो जायेगा।" इस जोश की बाढ़ को होश के नियन्त्रण में रखना आवश्यक था और आर्यसमाज के तपेतपाये विद्वान् तपस्वी नेताओं ने जोश और होश दोनों का सन्तुलन बुद्धिमानी से बनाये रखा। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से निम्नलिखित तार सिन्ध के गवर्नर के पास भेजा गया :

> "ऐसोशिएटेड प्रेस के समाचारों से यह जानकर कि आपकी सरकार ने आर्यों की अत्यधिक सर्वप्रिय पवित्र पुस्तक सत्यार्थप्रकाश के 14वें समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगा देने की घोषणा कर दी है, इस सभा को बहुत क्षोभ हुआ। आप हस्तक्षेप करने की कृपा करें और प्रतिबन्ध के आदेश को वापस करवावें। अन्यथा हैदराबाद रियासत के समान धार्मिक स्वतन्त्रता के लिये सिन्ध में भी आर्यों को कटु सघर्ष करना पड़ेगा, जिसके लिये आपकी सरकार ही उत्तरदायी होगी। मामला बड़ा गम्भीर है और उसके लिये आपका तत्काल हस्तक्षेप अपेक्षित है।"

सारे आर्य जगत् से बहुत से तार सिन्ध के गवर्नर और चीफ मिनिस्टर के पास भेजे गये। सारे भारतवर्ष के सभी आर्यसमाजों में क्षोभ और

आक्रोश का वातावरण व्याप्त हो गया, किन्तु जोश के साथ होश भी होना चाहिये। तत्कालीन तपे-तपाये अनुभवी आर्य नेताओं ने शीघ्रता में कोई कदम न उठाकर एक आर्य-सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया।

आर्य-सम्मेलन :

सिन्ध सरकार द्वारा सत्यार्थप्रकाश के 14वें समुल्लास पर लगाये गये प्रतिबन्ध से उत्पन्न समस्या पर विचार करने के लिये और भावी कार्यक्रम का निर्धारण करने के लिये नवम्बर सन् 1944 ई० के अन्तिम सप्ताह में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। चूँकि प्रतिबन्ध भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत लगाया गया था, अतः इसका एक कानूनी पहलू भी बनता था। भारत सुरक्षा कानून द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान लागू किया गया था। स्वाभाविक था कि प्रतिबन्ध का कानूनी पहलू विचारणीय था और भारत सुरक्षा कानून सदा लगा रहने वाला कानून भी न था। फिर भी इन सारी समस्याओं को सुलझाने के लिये एक ओर जहाँ नेतृत्व की अपेक्षा थी वहीं कानूनी दाँवपेंच की जानकारी भी आवश्यक थी। इस सम्मेलन के अध्यक्ष मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध आर्यनेता श्रीघनश्याम सिंह गुप्त चुने गये थे। श्रीगुप्त आर्यनेता तो थे ही, साथ ही मध्यप्रदेश लेजिस्लेटिव असेम्बली के स्पीकर भी थे। श्रीगुप्त कानून के अच्छे जानकार थे और उन्होंने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य को भविष्य के संघर्ष की सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया था। आपने अपने भाषण में कहा :

"आप सबको विदित है कि यह सम्मेलन सिन्ध सरकार द्वारा ऋषि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश नामक पवित्र ग्रन्थ पर लगाये गये प्रतिबन्ध पर विचार करने के लिये बुलाया गया है। सिन्ध सरकार के इस कार्य का इतिहास निर्विवाद रूप से यह सिद्ध करता है कि उसके इस आदेश का असली कारण राजनीतिक है। सत्यार्थप्रकाश लगभग 70 साल तक संसार के सामने है। देश और विदेश की भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित

हो चुके हैं। उसके कारण अबतक कहीं भी किसी भी प्रकार का उत्पात या उपद्रव नहीं हुआ। मुस्लिम लीग, जो एक राजनीतिक संस्था है, ने अभी हाल में यह आन्दोलन खड़ा किया है। उसके आदेश के अनुसार ही सिन्ध सरकार ने सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाया है। इस प्रतिबन्ध के विशुद्ध राजनीतिक होने में इससे अधिक किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ....जबतक अपने धर्म पर किया गया यह आक्रमण वापस न ले लिया जायेगा तबतक वह आराम से नहीं बैठेंगे।"[1]

सम्मेलन में सिन्ध सरकार के आदेश के विरोध में प्रस्ताव पास किये गये। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री प्रोफेसर सुधाकर ने मुस्लिम लीग के अध्यक्ष श्रीमोहम्मद अली जिन्ना के नाम पत्र लिखा और उनसे यह अनुरोध किया कि वे सिन्ध सरकार को ऐसे अनुचित साम्प्रदायिक कार्य करने से रोकें। सार्वदेशिक सभा ने पण्डित शिवचन्द आर्य को सिन्ध सरकार के प्रमुख व्यक्तिओं से बातचीत करने के लिये करांची भेजा। इस प्रकार शान्तिपूर्वक सभी सम्भव प्रयत्न किये जाते रहे।

सत्यार्थप्रकाश रक्षा-समिति की बैठक :

8 फरवरी सन् 1945 ई० को सत्यार्थप्रकाश रक्षा-समिति की बैठक दिल्ली में हुई। तबतक यह पता लग गया था कि सिन्ध सरकार शान्तिपूर्ण वैधानिक प्रस्तावों से प्रतिबन्ध वापस लेकर जनमत का आदर नहीं करेगी। अतः समिति ने निर्णय किया कि (1) यदि वैधानिक उपायों से सत्यार्थप्रकाश पर से प्रतिबन्ध हटाने में सफलता प्राप्त न हो तो आर्यों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने के लिये तैयार रहना चाहिये। (2) प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं और आर्यसमाजों को यह सन्देश भेज दिया गया कि वे अन्तिम पग उठाने की तैयारी शुरू कर दें।

---

1. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 623

सिन्ध मन्त्रिमण्डल के हिन्दू सदस्यों की चुनौती :

यों तो सिन्ध में मुस्लिम लीगी सरकार थी, किन्तु मन्त्रिमण्डल में कुछ हिन्दू सदस्य भी थे। ऐसे एक सदस्य श्री निचलदास वजीरानी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रति सिन्ध सरकार की नीति से असन्तोष प्रकट करते हुए यह धमकी दी कि यदि सिन्ध सरकार ने इस नीति में परिवर्तन न किया तो मन्त्रिमण्डल के हिन्दू सदस्य त्याग-पत्र दे देंगे।

यह सिन्ध सरकार के मन्त्रिमण्डल में आन्तरिक मतभेद की स्थिति थी। सिन्ध सरकार इस धमकी को अनसुनी नहीं कर सकती थी। अतः उसने प्रतिबन्ध का एक दूसरा ही स्वरूप घोषित कर दिया।

द्वितीय प्रतिबन्ध :

मन्त्रिमण्डल के हिन्दू सदस्यों की धमकी के परिप्रेक्ष्य में सिन्ध सरकार ने 11 अगस्त सन् 1945 ई० को एक नया आदेश जारी किया :

> "जिसके अनुसार सत्यार्थप्रकाश के 14वें समुल्लास के सिन्धी, अरबी, उर्दू, अंग्रेजी और फारसी भाषाओं में अनुवाद को सिन्ध में छापना व प्रकाशित करना तथा इन भाषाओं में अन्यत्र छपे व प्रकाशित हुए अनुवादों को सिन्ध में बाँटना व बेचना अपराध घोषित कर दिया गया था।"[1]

द्वितीय प्रतिबन्ध का स्वरूप :

प्रथम प्रतिबन्ध और द्वितीय प्रतिबन्ध की तुलना करने पर द्वितीय प्रतिबन्ध की सीमा छोटी थी, पर अन्याय और धार्मिक अधिकार का हनन तो होता ही था। प्रथम प्रतिबन्ध तो 26 अक्टूबर, 1944 ई० को लगाया गया था। सत्यार्थप्रकाश की कोई भी प्रति तबतक प्रकाशित वा छापी नहीं जा सकेगी जबतक कि उसमें से 14वाँ समुल्लास निकाल न दिया गया हो। इस प्रकार यह प्रतिबन्ध सम्पूर्ण पुस्तक पर था। दूसरा प्रतिबन्ध जो 11 अगस्त, सन् 1945 ई० को लगाया गया था, उसके

1. डॉ० स० वि०—आर्यसमाज का इतिहास, भाग 2 पृष्ठ 623-624.

अनुसार सत्यार्थप्रकाश के 14वें समुल्लास के ऊपर लिखित पाँच भाषाओं में अनुवाद को छापना, प्रकाशित करना या अन्यत्र छपे अनुवादों को सिन्ध में बाँटना या बेचना अपराध घोषित किया गया था। द्वितीय प्रतिबन्ध हिन्दी सत्यार्थप्रकाश के किसी अंश पर लागू नहीं होता था। मूलग्रन्थ हिन्दी में है और उसके अनुवाद अनेक भाषाओं में प्रकाशित हो गये हैं। सिन्ध सरकार के द्वितीय प्रतिबन्ध का सम्बन्ध केवल 14वें समुल्लास से तथा सिन्धी, उर्दू, अरबी, अंग्रेजी और फारसी इन पाँच भाषाओं के अनुवाद से सम्बन्धित था, किन्तु आर्यसमाज और उसके दूरदर्शी नेताओं को यह परिवर्तित लघुआयामी आदेश भी स्वीकार नहीं हो सकता था। सत्यार्थप्रकाश सत्य का प्रकाश करने वाला ग्रन्थ है। वह किसी ईर्ष्या-द्वेष या घृणा के भाव से नहीं लिखा गया है, न आर्यसमाजियों का यह विश्वास है कि उससे साम्प्रदायिक वैमनस्य विरोध या घृणा के भाव पनपेंगे। सत्यार्थप्रकाश में तो दर्जनों पौराणिक मतों, जैनियों, बौद्धों और ईसाइयों की भी समालोचना है। किन्तु किसी क्षेत्र में मुस्लिम लीग जैसी घृणित एवं निन्दनीय प्रतिक्रिया नहीं हुई। अतः सुस्पष्ट है कि यह मुस्लिम लीग की सोची-समझी योजनाबद्ध चाल थी कि इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाने से हिन्दुओं और मुसलमानों में साम्प्रदायिक तनाव और अधिक बढ़ जायगा।

यह ठीक है कि परिवर्तित प्रतिबन्ध, जिसे हमने द्वितीय प्रतिबन्ध का नाम दिया हैं, के द्वारा सत्यार्थप्रकाश के हिन्दी संस्करण पर (अर्थात् मूलग्रन्थ पर) अथवा उसके किसी अंश पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह गया था। साथ ही यह भी सत्य है कि सिन्ध के बहुसंख्यक हिन्दू सिन्धी और उर्दू भाषाएँ लिखते और बोलते थे, अतः द्वितीय प्रतिबन्ध भी सिन्ध के हिन्दुओं और आर्यों के लिये उनके धर्मग्रन्थ पर ऐसा प्रतिबन्ध था जिसके रहते वे अपने इस पवित्र ग्रन्थ का पठन-पाठन तथा प्रवचन, व्याख्यान एवं प्रचार नहीं कर सकते थे। अतः आर्यसमाज ने इसे अपने धार्मिक अधिकार का हनन समझा और यह चेष्टा आरम्भ की कि सिन्ध के गवर्नर महोदय शान्तिपूर्वक यह प्रतिबन्ध वापस ले लें। किन्तु आर्यनेताओं के

प्रयास सफल न हो सके और सिन्ध की मुस्लिम लीगी सरकार अपने निर्णय पर डटी रही।

सिन्ध की साम्प्रदायिक नीति का पर्दाफाश :

इस बीच घटनाचक्र कुछ इस प्रकार घूम गया कि सिन्ध सरकार अपनी साम्प्रदायिक नीति के कारण नग्न हो गयी। घटना इस प्रकार हुई—सिन्ध सरकार ने सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध भारत रक्षा कानून (डिफेंस ऑफ इण्डिया ऐक्ट) के तहत लगाया गया था। इधर सन् 1945 ई० में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति की घोषणा हो गई और भारत रक्षा कानून विश्वयुद्ध की परिस्थितियों में ही लगाया गया था, अब युद्ध समाप्त हो जाने के कारण भारत सुरक्षा कानून की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी थी। परिणाम यह हुआ कि जब 30 सितम्बर, सन् 1946 ई० के दिन भारत सुरक्षा कानून की समाप्ति की घोषणा हो गयी, तब भारत सुरक्षा कानून के तहत ही लगा हुआ प्रतिबन्ध स्वतः समाप्त हो गया। इस प्रकार भारत रक्षा कानून के साथ ही सत्यार्थप्रकाश पर लगा हुआ प्रतिबन्ध अपने आप समाप्त हो गया था, किन्तु सिन्ध की लीगी सरकार की रीति-नीति साम्प्रदायिक थी। मुस्लिम लीग हिन्दू-मुसलमानों में तनाव बढ़ाना ही चाहती थी। अतः सिन्ध सरकार ने सत्यार्थप्रकाश पर पुनः प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार सिन्ध सरकार की साम्प्रदायिक विद्वेष की नीति नग्न होकर सामने आ गयी।

तृतीय प्रतिबन्ध :

अब यह तीसरा प्रतिबन्ध बिना किसी बहाना के बड़े उग्र रूप में सामने आया। 10 अक्टूबर, सन् 1946 ई० को सिन्ध सरकार ने निम्न-लिखित आदेश जारी कर दिया :

"क्योंकि सिन्ध सरकार को यह प्रतीत होता है कि सिन्धी भाषा के सत्यार्थप्रकाश के 14वें समुल्लास से हिज मैजेस्टी की प्रजा के विभिन्न वर्गों में द्वेष वा घृणा का प्रादुर्भाव होता है, इस कारण अब क्रिमिनल प्रोसीजर कोड 1898 की दफा 99-A के अनुसार सिन्ध की सरकार घोषित

करती है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित और सिन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा, करांची की ओर से प्रोफेसर ताराचन्दजी गाजरा, एम० ए० द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश की सब प्रतियाँ, चाहे वे कहीं भी पायी जायँ, जब्त की जाती हैं और साथ ही वे सब डाकूमेन्ट्स भी जिनमें कि उक्त पुस्तक के 14वें समुल्लास की प्रतिलिपि, पुनर्मुद्रण, अनुवाद व उद्धरण विद्यमान हों। इस आदेश का कारण यह है कि उक्त समुल्लास में ग्रन्थकार ने—(1) मुसलमानों के कतिपय धार्मिक विश्वासों का मज़ाक उड़ाया है, (2) कुरान की शिक्षाओं को ग़लत तरीके से पेश किया है और उनको निन्दा की है, (3) कुरान की प्रामाणिकता और स्वरूप पर आक्रमण किये हैं और उनका मज़ाक उड़ाया है, (4) हजरत मुहम्मद की सर्वोच्च स्थिति पर आक्रमण किये हैं और उनकी महत्ता को तुच्छ बताया है, (5) इस समुल्लास की सामग्री मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को आघात पहुँचाने वाली है और आघात पहुँचाती है।"

जहाँतक प्रतिबन्ध का प्रश्न है, यह तीसरा प्रतिबन्ध अधिक भयानक है। इसमें कारण चाहे 14वें समुल्लास को ही बनाया गया, किन्तु सम्पूर्ण पुस्तक ज़ब्त कर ली गयी। इस प्रतिबन्ध की एक और महत्त्वपूर्ण बात यह भी ध्यान देने की है कि इसमें उर्दू, सिन्धी, अंग्रेजी इत्यादि किसी भाषा-विशेष की सीमा नहीं रखी गयी थी। इस प्रकार सिन्ध सरकार इस साम्प्रदायिक मोर्चे पर हिन्दुओं की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाने के लिये बड़ी उग्रता से तैयार दिखायी पड़ रही थी।

स्वाभाविक था कि सामान्य रूप से सम्पूर्ण विचारशील लोग, व्यापक रूप से सम्पूर्ण हिन्दू समाज और विशेष रूप से आर्यसमाज में क्षोभ व्याप्त हो गया था। देश के समाचार-पत्रों ने इस प्रतिबन्ध के विरुद्ध टिप्पणियाँ लिखीं। वस्तुतः पत्रों ने तो शुरू से ही विरोध करना आरम्भ कर दिया था। आर्यसमाज ने सत्यार्थप्रकाश रक्षा-समिति का गठन तो पहले ही कर लिया था। 13 नवम्बर, 1946 ई० को इस रक्षा-समिति की बैठक हुई और समिति ने निम्न प्रकार घोषणा की :

"इस समिति की सम्मति में ऐसी स्थिति आ गयी है जब कि अपनी धार्मिक स्वाधीनता की रक्षा के लिये ऐसे प्रभाव युक्त कदम उठाये जाँय जिनसे कि सरकार को यह अन्यायपूर्ण आदेश वापस लेना पड़े। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये समिति निश्चय करती है कि व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया जाय और आर्य जनों को आदेश देती है कि वे सत्याग्रहियों में अपने नाम भर्ती करायें। यह समिति यह भी निश्चय करती है कि महात्मा नारायण स्वामी सत्याग्रह के सर्वाधिकारी होंगे। वे ही इस सम्बन्ध में आवश्यक निर्णय करते रहें।"[1]

यह प्रतिबन्ध सिन्ध में लगाया गया था और सिन्ध के आर्यसमाजियों में विशेष क्षोभ था। यों तो सारे देश में हजारों हज़ार आर्यसमाजी सत्यार्थप्रकाश को गले में लटका कर घूमने लगे थे। सरकार अनदेखी का बहाना कर सकती थी। करांची डी० ए० वी० हाई स्कूल के प्रिन्सिपल श्रीराम सहाय ने अक्टूबर 1946 में ही डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट को पत्र द्वारा यह सूचित कर दिया था कि सत्यार्थप्रकाश पर लगाया गया प्रतिबन्ध अन्यायपूर्ण है। अतः उन्होंने सरकार के इस आदेश को तोड़ने का निश्चय कर लिया है।

सत्याग्रह का आरम्भ :

सत्याग्रह के सर्वाधिकारी नारायण स्वामी ने सिन्ध सरकार के अन्यायपूर्ण आदेश के विरुद्ध सत्याग्रह करने का निश्चय किया। नारायण स्वामी आर्यसमाज के सर्वमान्य नेता थे। उस समय उनकी आयु 80 वर्ष से ऊपर थी और शरीर भी अस्वस्थ था, किन्तु आर्यसमाज के इस महान् तपस्वी संन्यासी ने धर्म रक्षा के लिये, अपने धार्मिक अधिकारों के हनन के विरोध में न अपनी आयु का ख्याल किया न अपने स्वास्थ्य का ख्याल किया। बिना किसी भी कठिनाई की परवाह किये नारायण स्वामी ने सत्याग्रह का नेतृत्व करने के लिये दिल्ली से करांची के लिये

1. डॉ० सत्य० विद्या०—आर्यसमाज का इतिहास भाग 2, पृष्ठ 625.

प्रस्थान कर दिया। महात्मा नारायण स्वामी के साथ राजगुरु धूरेन्द्र शास्त्री और लाला खुशहाल चन्द—पश्चात्, आनन्द स्वामी—आदि कई सर्वमान्य नेता करांची के लिये चल पड़े और सभी करांची पहुँच भी गये।

सत्याग्रह के सर्वाधिकारी का डिम-डिम घोष :

सिन्ध सरकार की इस अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ करने से पूर्व महात्मा नारायण स्वामीजी ने सिन्ध के मुख्य मन्त्री के नाम एक पत्र लिखकर सत्याग्रह आरम्भ करने की घोषणा कर दी। यह पत्र क्या था, आर्यसमाज की ओर से अपने धार्मिक अधिकार के लिये डिमडिम घोष या समरनाद था। महात्मा नारायण स्वामी का पत्र निम्न प्रकार था :

> "यह सबको विदित है कि सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाज का धर्मग्रन्थ है। ईसाइयों के लिये जैसे बाइबिल और मुसलमानों के लिये कुरान पवित्र है, वैसे ही सत्यार्थप्रकाश हमारे लिये पवित्र है। सिन्ध सरकार द्वारा सत्यार्थप्रकाश की जब्ती का हुक्म हमारे धार्मिक अधिकार और स्वाधीनता पर भयङ्कर आक्रमण है। हम यह सूचना देना चाहते हैं कि हमारे पास सिन्धी भाषा में सत्यार्थप्रकाश है। हम किसी का अधिकार नहीं समझते कि वह उसे हमसे छीने। हम एक सप्ताह भर करांची में रहेंगे।"[1]

यह पत्र भेजने के पश्चात् आर्यसमाज के दीवाने सत्याग्रही करांची की सड़कों पर सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ लेकर घूमने लगे। यह सिन्ध सरकार को खुल्लम खुल्ला चुनौती थी कि वह सत्यार्थप्रकाश लेकर घूमने वालों को हिरासत में ले और ये आर्यसमाजी थे जो सिन्ध सरकार की जेलें भरने के लिये बलिदान की ललक लिये करांची में घूम रहे थे।

---

1. डॉ० सत्य० विद्या०—आर्यसमाज का इतिहास भाग 2 पृष्ठ 625

सारा देश सिन्ध सरकार के इस आदेश पर आक्रोश व्यक्त कर रहा था। आर्यसमाज के वलिदानी स्वयंसेवक सिन्ध सरकार के प्रतिबन्ध का उल्लंघन करने के लिये सब प्रकार से तुले हुए थे। देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद ने खुलेआम घोषणा की कि सत्यार्थप्रकाश 70 साल से प्रचलित एक धर्म ग्रन्थ है और उसपर प्रतिबन्ध लगाना मुसलिम लीग के व्यवहार का कहीं पूर्व रूप तो नहीं है, जो लीग के शासन में मुसलमानों से भिन्न लोगों के साथ किया जायगा। पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस प्रतिबन्ध को विचार और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने वाला बताया। महात्मा गांधी ने इसे विवेकहीन और शरारत से भरपूर बताया। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, खान अब्दुल गफ्फार खां, डा० खान साहब आदि ने इस प्रतिबन्ध का विरोध किया। और तो और मुसलिम विद्वानों ने भी इस आदेश का विरोध किया। मौलाना इब्नखलील देवबन्दी ने तो यहाँ तक लिखा कि :

"जब हम मज़हब के बाज़ार में अपनी चीज़ लाये हैं तो यह ग्राहक का कर्त्तव्य है कि ठोंक बजाकर परख ले। यदि हम सोने को परखने की परख पर नाक भौं चढ़ायेंगे तो ग्राहक को इसकी सच्चाई पर सन्देह होने लगेगा। हजरत मौलाना कासिम, संस्थापक, दार-उल-अलूम देवबन्ध जो इसलाम की चोटी के उल्माओं में से एक हैं, कई बार स्वामी दयानन्द सरस्वती के साथ शास्त्रार्थ किया। उन्हें इसलाम और कुरान पर स्वामीजी के विचारों का व्यक्तिगत ज्ञान था और यह पुस्तक मौलाना के जीवनकाल में ही छप चुकी थी। मुझे ज्ञात नहीं कि उन्होंने इस पुस्तक का कोई उत्तर दिया हो। सत्यार्थप्रकाश आरम्भ से मुसलमानों की दिलचस्पी का केन्द्र रहा है। यह विचार कभी जमायत-उल्मा के मन में नहीं आया कि दलील का उत्तर नाराज़गी या क्रोध के रूप में दिया जाय अर्थात् इस पुस्तक को ही जब्त कर लिया जाय। क्या आप दुनिया की अक्ल पर ताला लगाना चाहते हैं। यह मज़हब है, इसे मिस्टर जिन्ना

के हाथों का खिलौना न बनाइये। खुदा के लिये यह न कहलाइये कि दलील का जवाब न बन पड़ा तो मुसलमान रोने पर उतर आये। सत्यार्थप्रकाश की जब्ती की माँग बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है।"[1]

मौलाना मुहम्मद अमीन—नाज़िम जमीयत उल उल्मा, आगरा ने लिखा : "मुस्लिम लीग ने सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध जो एजीटेशन आरम्भ कर रखी है वह हज़रत रसूल मक़बूल से मुहब्बत का इज़हार नहीं, वह मुस्लिम लीग के नस्ब-उल-ऐन के मुताबिक है, और वह है हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा पैदा कराना, जिसका दूसरा नाम पाकिस्तान है। हज़रज मुहम्मद साहब के इस्मे गिरामी पर सादा लोह मुसलमानों को भड़काया जा रहा है ताकि कम फ़हम मुसलमान इस प्रोपैगण्डा से मुत्तासर होकर हिन्दुओं से नफरत करने लगें।"

हिन्दू नेताओं ने आर्यसमाज का खुलकर साथ दिया। श्रीगोस्वामी गणेशदत्त ने कहा : "सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाकर तीस करोड़ हिन्दुओं के शंखों और घड़ियालों को चैलेन्ज दिया है। इसकी एक पंक्ति की जब्ती का अर्थ है हिन्दुस्तान की सम्पत्ति का नाश। इस प्रतिबन्ध को सहन करना पाप है।"

पं० मदन मोहन मालवीय ने कहा : "सत्यार्थ प्रकाश के 14वें समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगाकर सिन्ध सरकार ने बड़ी भारी भूल की है। सत्यार्थप्रकाश के लिये प्रत्येक आर्यसमाजी और असंख्य हिन्दुओं के लिये बड़ा मान है। इस प्रतिबन्ध को तत्काल उठा लेना चाहिये।"

स्वामी भागवतानन्द मण्डलेश्वर, निरञ्जनी अखाड़ा, ने कहा :- आवश्यकता हुई तो पाँच लाख साधु सत्यार्थप्रकाश की रक्षा के लिये सत्याग्रह करेंगे क्योंकि पवित्र आत्मा स्वामी दयानन्द ने संसार के कल्याण के लिये सत्यार्थप्रकाश को रचा। ऋषि की इस रचना में से एक शब्द भी जब्त न होने देंगे, क्योंकि यह एक सन्यासी की रचना है।"

---

1. हितैषी अलावलपुरी—सत्या० आन्दोलन का इतिहास पृ० 92-93

जगद्गुरु स्वामी रामानन्द ने कहा : "सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध वैदिक सभ्यता पर आक्रमण है। वेद के आधार पर लिखी गई संन्यासी की पुस्तक पर आक्रमण साधु सहन नहीं कर सकते। यह हमारे आचार्य की घोषणा है।"

इसी प्रकार अनगिनत नेताओं और धर्मों के आचार्यों ने इस प्रतिबन्ध के विरुद्ध आवाज उठायी।

देश के प्रायः सभी प्रमुख पत्रों ने सत्यार्थप्रकाश के ऊपर लगाये गये प्रतिबन्ध का विरोध किया। दिल्ली के प्रमुख पत्र हिन्दुस्तान टाइम्स, हिन्दुस्तान, स्वराज्य, लाहौर के ट्रिब्यून, बम्बई के सोशल वेलफेयर, कराँची के सिन्ध आबजर्बर और डेली गजट, कलकत्ता के हिन्दुस्तान स्टेण्डर्ड आदि ने इस प्रतिबन्ध का विरोध किया। कलकत्ता के हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड की टिप्पणी में था कि स्वामी दयानन्द की अपेक्षा कई योरोपियन आलोचकों ने इसलाम पर अधिक कड़ी आलोचना की है। मगर मुसलमानों ने कभी माँग नहीं की कि इन पुस्तकों का आयात बन्द किया जावे, फिर इसके विरुद्ध शोर क्यों ? किसी बात पर हद से ज्यादा तिलमिलाना कमजोरी नहीं तो और क्या है ? इस तरह की बहुत सारी टिप्पणियाँ देश के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं, किन्तु सिन्ध की सरकार अपने प्रतिबन्ध पर डटी हुई थी। फल यह हुआ कि आर्यसमाज के नेताओं और सत्यार्थप्रकाश के भक्तों को सिन्ध सरकार के आदेश के विरुद्ध सत्याग्रह करने के अतिरिक्त और कोई चारा न रह गया।

सिन्ध सरकार द्वारा आदेश की वापसी :

जब महात्मा नारायण स्वामो जैसे वयोवृद्ध 80 वर्ष से भी अधिक की आयु के सर्वमान्य संन्यासी ने आर्यसमाज के शीर्षस्थ नेताओं के साथ सत्याग्रह आरम्भ कर दिया तो सत्याग्रह के पाँचवें दिन सिन्ध सरकार ने यह आदेश दे दिया :

"सत्यार्थप्रकाश को जब्त न किया जाय और जिसके पास यह ग्रन्थ हो उसे गिरफ्तार भी न किया जाय।"[1]

---

1. डॉ० सत्य० विद्या०—आर्यसमाज का इतिहास, भाग 2, पृ० 626

आर्यसमाज की विजय :

सिन्ध की लीगी सरकार पर साम्प्रदायिकता का भूत बुरी तरह सवार था। वह सभी न्याय-अन्याय को छोड़कर मुस्लिम लीग के इशारे पर चल रही थी। मुस्लिम लीग का स्वार्थ साम्प्रदायिकता को भड़काने में था और इसीलिये सिन्ध सरकार महात्मा गाँधी या पं० जवाहरलाल नेहरू या डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जैसे देश के नेताओं का परामर्श मानने को तैयार न थी। वह मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और सीमान्त गाँधी खान अब्दुल गफ्फ़ार खाँ या और दूसरे भी न्यायप्रिय मुसलमानों की उचित एवं हितकारी सलाह मानने को भी तैयार न थी। सिन्ध सरकार को झुकना पड़ा, किन्तु तब, जब उसने यह देखा कि आर्यससाज विशेष रूप से और सम्पूर्ण हिन्दू समाज व्यापकरूप से सिन्ध सरकार के विरुद्ध एकत्र होकर सत्याग्रह के लिये तैयार हो गये थे, तो सिन्ध सरकार के सामने प्रतिबन्ध वापस लेने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न रह गया था। यह आर्यसमाज की बड़ी शानदार विजय थी। सारे देश में जो रोष व्याप्त हो गया था उसका सामना करने की शक्ति सिन्ध सरकार एकत्र न कर पायी और सत्याग्रह आरम्भ होने के पश्चात् 5वें दिन ही सिन्ध सरकार ने प्रतिबन्ध वापस लेकर आर्यसमाज की विजय का डङ्का बजा दिया। किन्तु यह सुस्पष्ट प्रकट हो गया कि पाकिस्तान की लीगी सरकार के शासन में क्या कुछ आने वाला था। डा० राजेन्द्र प्रसाद जैसे मनस्वी नेता ने ठीक ही लिखा था—"70 साल से प्रकाशित एक धर्म-पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाने वाला यह आदेश कहीं उस व्यवहार का पूर्व रूप तो नहीं है जो लीग के शासन में मुसलमानों से भिन्न लोगों के साथ किया जायगा।"[1]

कलकत्ता काण्ड

साम्प्रदायिक उन्माद का एक रूप कई वर्षों तक कलकत्ता में छाया रहा। हमने इसका विस्तृत वर्णन इसी पुस्तक के प्रथम अध्याय में किया

1. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 626

है। द्रष्टव्य है "युगनिर्माता सत्यार्थप्रकाश : सन्दर्भ दर्पण" अध्याय 1. यहाँ तो हम केवल सन्दर्भ की पूर्णता की दृष्टि से घटनाओं की सूची मात्र यहाँ प्रस्तुत कर रहे है। सन् 1985 के दिसम्बर मास के अन्तिम दिनों में आर्यसमाज कलकत्ता की शताब्दी बड़े आनन्द, उल्लास और उत्साह के साथ मनायी जा रही थी। वहाँ उत्सव-स्थल पर कई बुकस्टाल लगे हुये थे। कलकत्ता के मुस्लिम नेताओं ने सरकार पर ज़ोर डाला, और सूचना दी कि वहाँ प्रतिबन्धित पुस्तकें खुलेआम बिक रही हैं। पुलिस ने कई बार छापा मारा और कुछ अवाञ्छनीय या आपत्तिजनक न पाने पर वह काफी लज्जित हुई।

सन् 1986 ई० में आर्यसमाज कलकत्ता की दूसरी शती का प्रथम वार्षिकोत्सव, 101ला वार्षिकोत्सव बड़े धूमधाम से मुहम्मद अली पार्क में मनाया जा रहा था। इस वर्ष पुनः मुस्लिम नेताओं ने पुलिस पर ज़ोर डाला और सत्यार्थप्रकाश को ही प्रतिबन्धित पुस्तक बता कर पार्क के बुक स्टालों से सत्यार्थप्रकाश की 38-39 प्रतियाँ उठवा लीं। इससे आर्यसमाज में बड़ा क्षोभ हुआ। जब सारी घटनाएँ पुलिस कमिश्नर को समझायी गयीं तो उन्होंने दुःख भी प्रकट किया और सत्यार्थप्रकाश की प्रतियाँ पण्डाल में वापस दे दीं। बड़े उल्लास के वातवरण में शानदार विजय के साथ हमने पण्डाल में पुस्तकें वापस लीं।

इसी प्रकार की चेष्टा सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कलकत्ता में आयोजित पुस्तक मेला के समय भी हुई, किन्तु सत्यार्थप्रकाश की बिक्री और जन-प्रियता बढ़ती ही गई।

एक भूल सुधार :

आर्यसमाज का इतिहास, खण्ड 7, पृ० 266 में लिखा—"मुसलमानों ने सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध कलकत्ता के न्यायालय में एक मुकदमा भी दायर कर दिया, जिसके विरुद्ध आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा पैरवी की गयी है।"

यद्यपि उस समय वातावरण में ऊष्मा बहुत थी और दोनों ओर से संवैधानिक और कानूनी दाँवपेंच की तैयारी चल रही थी, किन्तु न्यायालय में कोई भी न गया था। इस प्रकार कलकत्ता में सत्यार्थप्रकाश पर कभी कोई मुकदमा दायर नहीं हुआ है।

मुस्लिम यूथ हैदराबाद की चेष्टा :

हैदराबाद के मुसलमानों की ओर से दिसम्बर सन् 1986 ई० में ही इस्लामिक यूथ के जनरल सेक्रेटरी श्रीअफ़सर फ़ैज़ी ने भारत सरकार से सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की थी। श्री फ़ैज़ी के इस वक्तव्य का तीव्र विरोध किया गया। आर्य प्रतिनिधि सभा आन्ध्र-प्रदेश ने सरकार का ध्यान इस साम्प्रदायिक उत्पात की ओर आकृष्ट किया और यह साम्प्रदायिक चेष्टा भी व्यर्थ गयी।

महत्त्वपूर्ण समकालिकता :

दिसम्बर सन् 1986 में ही कलकत्ता में पुलिस ने पण्डाल से सत्यार्थ-प्रकाश की प्रतियाँ उठाई थीं। दिसम्बर, सन् 1986 में ही हैदराबाद के मुसलमानों ने सत्यार्थप्रकाश के प्रतिबन्ध की माँग की थी। यह समकालिकता किसी बड़े षड्यन्त्र की ओर संकेत करती है। यदि आकस्मिक भी हो तब भी इस प्रकार के व्यापक और सामूहिक साम्प्रदायिक प्रयासों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

पञ्चम अध्याय

सत्यार्थप्रकाश का विस्तार

सत्यार्थप्रकाश एक युगान्तरकारी-युगनिर्माता ग्रन्थ है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सम्भवतः सर्वाधिक जनप्रिय ग्रन्थों में यह प्रथम था। विद्या और तर्क की दृष्टि से तो यह अद्वितीय स्थान प्राप्त ही कर चुका था, समाज-सुधार, अछूतोद्धार, नारी-उत्थान, स्वदेश-भक्ति, समाज-संगठन जैसे सभी आन्दोलनों का प्रेरणास्रोत और जीवनदाता यह ग्रन्थ था।

"स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने तो यहाँ तक लिख डाला था कि अपने जीवनकाल में उन्होंने ऋषि-ग्रन्थों (स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ) के समान अन्य कोई ग्रन्थ नहीं देखा।"[1]

स्वामीजी के ग्रन्थों में भी सत्यार्थप्रकाश का स्थान कई दृष्टियों से सबसे विशिष्ट है। स्वामीजी के विचारों का, उनके मन्तव्यामन्तव्य का यह आधारभूत ग्रन्थ है। स्वामी दयानन्द के भक्त-शिष्य, अनुगामी सदा से इसे अपने धर्मग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते आये हैं। जहाँ कहीं भी आर्यसमाजी हैं, आर्यसमाज हैं, वहाँ इस ग्रन्थ की माँग अनिवार्य है। स्वामी दयानन्द को और उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज को समझने के लिए 'सत्यार्थप्रकाश' को पढ़ना और समझना प्रथम आवश्यकता है। सत्सङ्गों में इस ग्रन्थरत्न की कथा होती है। उत्सवों में इसपर प्रवचन होते हैं। शास्त्रार्थों एवं शास्त्र-विचारों में यह प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

अतः हिन्दी भाषा के विशाल क्षेत्र से बाहर विभिन्न भारतीय

1. डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार कृत चतुर्वेद गंगालहरी पृष्ठ 358

भाषाओं में इसके अनुवाद होने लगे। ग्रन्थ की बढ़ती हुई माँग के साथ अनेक भाषाओं में सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद किये गये और प्रकाशित हुए।

पंजाब आर्यसमाज का गढ़ बना। वहाँ के हिन्दू ईसाई और मुसलमानों के दोहरे आक्रमण से तिलमिला रहे थे। उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, बम्बई, राजस्थान, हरियाणा आदि अञ्चलों का काम हिन्दी सत्यार्थप्रकाश से चल ही रहा था। किन्तु पंजाब में उर्दू का अधिक बोलबाला था। सत्यार्थप्रकाश का हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में अनुवाद का आरम्भ पञ्जाब से हुआ।[1]

1. **पञ्जाबी गुरुमुखी :** सर्वप्रथम सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद 1898 ई० में गुरुमुखी में अमृतसर से प्रकाशित हुआ। अनुवादकर्त्ता थे पण्डित आत्माराम अमृतसरी। इसी अनुवाद का द्वितीय संस्करण अमृतसर से ही 1912 ई० प्रकाशित हुआ था।

2. **उर्दू :** उर्दू में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद 1899 ई० में प्रकाशित हुआ। अनुवादक थे पण्डित रैमलदास और पण्डित आत्माराम अमृतसरी। प्रथम संस्करण 7000 का था। ग्रन्थ इतना जनप्रिय था कि दो वर्षों से कम काल में ही द्वितीय संस्करण 5000 की संख्या में प्रकाशित हुआ। तृतीय संस्करण 1907 में निकला। चतुर्थ संस्करण मास्टर लक्ष्मण रामनगरी ने प्रकाशित किया था। राजपाल एण्ड सन्स, लाहौर ने कुछ संस्करणों को प्रकाशित किया था। 1923, 1925, 1927, 1928, 1929 तथा 1930 ई० में राजपाल एण्ड सन्स ने उर्दू सत्यार्थप्रकाश के संस्करण निकाले थे।

संस्करणों की इस कहानी में दो तथ्य उजागर होते हैं। अनुवाद के प्रथम दशक में ही उर्दू सत्यार्थप्रकाश की पर्याप्त संख्या में माँग थी।

---

1. अनुवादों के इस संक्षिप्त विवरण को हमने डा० सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा सम्पादित आर्यसमाज का इतिहास भाग 5, अध्याय 2 के आधार पर लिखा है। इस अंश के लेखक मूर्धन्य साहित्यकार डा० भवानीलाल भारतीय हैं। हम लेखक-सम्पादक दोनों के कृतज्ञ हैं।

फिर 1923 से 1930 ई० के मध्य आठ वर्षों में छः संस्करण प्रकाशित हुए। यह ग्रन्थ की बढ़ती हुई माँग का उत्कृष्ट प्रमाण है।

एक और तथ्य जो ध्यान आकृष्ट करता है कि मास्टर लक्ष्मण राम-नगरी के चतुर्थ संस्करण और राजपाल एण्ड सन्स के 1923 ई० के संस्करण में 10-15 वर्षों के अन्तराल में संस्करणों की स्थिति अधिक प्रकाश की आकांक्षा करती है। ग्यारहवाँ संस्करण 1939 ई० में निकला। 1930 ई० और 1939 के मध्य 8-9 वर्षों का अन्तराल कुछ प्रकाश की आकांक्षा रखता है। 1914 से 1919 ई० प्रथम विश्वयुद्ध का काल है। सम्भवतः यह विषम परिस्थिति भी कुछ कारण की व्याख्या करती है।

ग्यारहवें संस्करण के दश समुल्लासों का अनुवाद साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् पं० चमूपतिजी का था। उनका देहान्त हो जाने के कारण शेष समुल्लासों का पुराना अनुवाद ही था। बारहवाँ संस्करण 1943 में निकला 1939 से 1943 के मध्य द्वितीय विश्वयुद्ध भी आया। फिर तेरहवाँ संस्करण 1946 ई० में प्रकाशित हुआ। यह समय था जब साम्प्रदायिक अग्नि ने देश का विभाजन कराया और पञ्जाब का विभाजन क्या हुआ, आर्यसमाज का शरीर ही कट गया और चौदहवाँ संस्करण 1961 ई० आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब ने प्रकाशित किया। पुनः पन्द्रहवाँ संस्करण सार्वदेशिक सभा ने छापा है।

प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु की सूचना के अनुसार आंवला, जिला बरेली के महाशय ज्वालाप्रसाद ने सत्यार्थप्रकाश का उर्दू कविता में भावानुवाद किया था।

3. **बंगला :** सत्यार्थप्रकाश का प्रथम बंगला अनुवाद अजमेर निवासी श्री मोतीलाल भट्टाचार्य ने किया था। इसका मुद्रण भारत मिहिर यन्त्रालय, कलकत्ता में हुआ। इस अनुवाद को वैदिक यन्त्रालय, अजमेर ने 1901 ई० में प्रकाशित किया। बंगला सत्यार्थप्रकाश की छः आवृत्तियों की चर्चा आर्यसमाज के इतिहास में है। पञ्चम संस्करण के समय रिलीफ कार्य समाप्त हो गया था, रिलीफ के बचे हुए रुपये के

सदुपयोग के ख्याल से रिलीफ के कार्यकर्त्ताओं ने सत्यार्थप्रकाश के बंगला अनुवाद का पञ्चम संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय किया। पञ्चम संस्करण पाँच हजार प्रतियों का प्रकाशित हुआ था। इसमें आर्यसमाज कलकत्ता और आर्य प्रतिनिधि सभा, बंगाल का संयुक्त प्रयास था। षष्ठ और सप्तम संस्करण सन् 1980 ई० में वैदिक अनुसन्धान ट्रस्ट, 19, विधान सरणी, आर्यसमाज कलकत्ता ने 5500 और 1100 प्रतियों का निकाला। इन दोनों संस्करणों का प्रकाशन पं० प्रियदर्शनजी 'सिद्धान्तभूषण' की देख-रेख में हुआ। सप्तम संस्करण ऑफसेट प्रिन्टिंग कला से हुआ। ये सारे संस्करण वैदिक अनुसन्धान ट्रस्ट, कलकत्ता के द्वारा निकाले जा रहे हैं।

4. **गुजराती** : सत्यार्थप्रकाश का प्रथम गुजराती अनुवाद पं० मंछाशंकर जयशंकर द्विवेदी ने किया था। यह 1905 ई० में बम्बई में छपा था। पुनः मायाशंकर शर्मा ने एक अन्य अनुवाद किया था। वह अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ। इसी अनुवाद का सम्पादन डॉ० दिलीप वेदालंकार ने किया, जो आर्यसमाज आणन्द द्वारा सं० 2032 में प्रकाशित हुआ।

5. **मराठी** : मराठी भाषा में श्री दास विद्यार्थी का अनुवाद 1907 ई० में बम्बई से छपा। स्नातक सत्यव्रत का अनुवाद 1932 ई० में सेठ भागोजी बालूजी कीर ने प्रकाशित किया। 1956 ई० में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर कृत मराठी अनुवाद आर्यसमाज कोल्हापुर की ओर से 1904 ई० में प्रकाशित हुआ।

6. **सिन्धी** : सिन्धी भाषा में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद श्री जीवनलाल आर्य ने किया। इसका प्रकाशन गोबिन्दराम हासानन्द ने 1912 ई० में, आर्य प्रतिनिधि सभा, सिन्ध ने 1937 ई० में किया। साथ ही अजमेर निवासी हकीम बीरूमल आर्य प्रेमी ने और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी सिन्धी अनुवाद का प्रकाशन किया।

7. उड़िया : उड़िया भाषा में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद सर्वप्रथम श्रीवत्स पण्डा ने किया था। श्रीवत्स पण्डा का उड़िया संस्करण 1927 ई० और 1937 ई० में दो बार प्रकाशित हुआ था। उड़िया भाषा में एक और अनुवाद पण्डित श्री लक्ष्मीनारायण शास्त्री ने किया है। यह उत्कल साहित्य संस्थान गुरुकुल, आमसेना द्वारा 1975 ई० में 2000 प्रतियों का प्रकाशन हुआ है। इसका द्वितीय संस्करण 1987 ई० में 3000 प्रतियों का प्रकाशित हुआ है।

8. असमिया : असमिया भाषा में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद पं० परमेश्वर कोती ने किया और आर्यसमाज गौहाटी ने इसे 1975 ई० में प्रकाशित किया।

9. नेपाली : सत्यार्थप्रकाश का नेपाली अनुवाद श्री दिलुसिंग राई ने किया। यह नेपाली अनुवाद आर्यसमाज दार्जिलिंग ने प्रकाशित किया। इसका प्रथम संस्करण 1931 ई०, द्वितीय संस्करण 1936 ई० और तृतीय संस्करण 1963 ई० में प्रकाशित हुआ।

10. तमिल : सत्यार्थप्रकाश का तमिल भाषानुवाद श्री एन० आर० जम्बुनाथन ने सर्वप्रथम किया था। यह प्रथम संस्करण आर्यसमाज मद्रास द्वारा 1925 ई० में प्रकाशित हुआ। द्वितीय संस्करण श्रीकन्नैया कृत तमिल भाषानुवाद है, जिसे आर्यसमाज मद्रास ने 1935 ई० में प्रकाशित किया। तृतीय संस्करण का तमिल भाषानुवाद स्वामी शुद्धानन्द भारती का है। इसे आर्यसमाज मद्रास ने 1974 ई० में प्रकाशित किया।

11. तेलुगू : तेलुगू भाषा में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद श्री आदिपूणि सोमनाथ राव ने 1906 ई० में पूर्वार्द्ध दश समुल्लासों का किया। पं० गोपाल राम ने ग्यारहवें समुल्लास का तेलुगू अनुवाद 1912 ई० में किया। शेष तीन समुल्लासों का अनुवाद पं० राजरत्नाचार्य ने किया। यह तेलुगू अनुवाद आर्यसमाज हैदराबाद तथा आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद द्वारा प्रकाशित हुआ। पं० गोपदेव शास्त्री कृत सत्यार्थ-

प्रकाश का तेलुगू भाषानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

12. **कन्नड़** : कन्नड़ भाषा में तीन अनुवाद बताये जाते हैं— प्रथम पं० भास्कर पन्त, दूसरे पं० सत्यपाल स्नातक और तीसरे पं० सुधाकर चतुर्वेदी। श्री भास्कर पन्त का अनुवाद 1932 ई० में आर्यसमाज मैंगलोर ने प्रकाशित किया। पं० सुधाकर चतुर्वेदी का अनुवाद 1974 ई० में प्रकाशित हुआ।

13. **मलयालम** : मलयालम भाषा में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद ब्रह्मचारी लक्ष्मण ने किया था। इसे आर्यसमाज मिशन कालीकट ने 1933 ई० में प्रकाशित किया। मलयालम में एक अनुवाद पं० नरेन्द्र भूषण ने किया है। यह वैदिक साहित्य परिषद चेंगनूर (केरल) द्वारा 1973 ई० में प्रकाशित किया गया।

14. **संस्कृत** : सत्यार्थप्रकाश का संस्कृतानुवाद स्वामीजी की जन्म-शताब्दी पर 1981 वि० में प्रकाशित हुआ था। स्वामी दयानन्द स्वयं संस्कृत के अतलस्पर्शी विद्वान् थे। उनकी संस्कृत ऋषिकोटि की संस्कृत है। फिर भी उन्होंने जनसाधारण को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से अपना अद्वितीय ग्रन्थ आर्यभाषा हिन्दी में लिखा। जब अन्य भाषाओं में इस कालजयी ग्रन्थ के अनुवादों की माँग होने लगी तो स्वाभाविक ही संस्कृतानुवाद की ओर भी भक्तों का ध्यान गया। सत्यार्थप्रकाश का संस्कृत अनुवाद श्री शंकरदेव पाठक ने किया है और यह जन्म शताब्दी ग्रन्थमाला 1 के रूप में प्रकाशित हुआ था। इधर बहुत दिनों से संस्कृत अनुवाद उपलब्ध न था। अब सार्वदेशिक ने द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया है। प्रथम संस्करण में एक हजार प्रतियाँ और द्वितीय संस्करण में 1100 प्रतियाँ प्रकाशित हुई हैं।

15. **ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण** :

गुरुकुल झज्जर के संस्थापक स्वामी ओमानन्द सरस्वती ऋषिभक्त तो हैं ही, साथ ही वे इतिहास और पुरातत्त्व में भी पर्याप्त अभिरुचि रखते हैं। गुरुकुल झज्जर के संग्रहालय में पुरातत्त्व की सामग्री सुरक्षित

है। सत्यार्थप्रकाश जैसे ग्रन्थरत्न को चिरस्थायी करने की भावना से उन्होंनें सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराया है। इसीके अनुसार उतने ही पन्नों का एक पुस्तकाकार संस्करण पुस्तक के रूप में ऋषि निर्वाण शताब्दी के अवसर पर सं० 2040 में 2200 प्रतियों का हरयाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर से प्रकाशित हुआ है। इसमें सूची के 2 पृष्ठ, भूमिका के 5 पृ० और ग्रन्थ के 425 पृ० हैं। इस प्रकार 432 ताम्रपत्रों पर यह कार्य पूर्ण हुआ।

16. ब्रेल लिपि में :

सत्यार्थप्रकाश का ब्रेल लिपि में मुद्रण सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने स्वयं कराया है। नेत्रहीन व्यक्तियों को इस महनीय ग्रन्थ से लाभ मिल सके, इस दृष्टि से यह अति प्रशंसनीय प्रयास है। यह ब्रेल लिपि पूरे सत्यार्थप्रकाश की है और इसके कई खण्ड हैं। इसकी कुछ प्रतियाँ सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा में अभी भी उपलब्ध हैं।

विदेशी भाषानुवाद

सत्यार्थप्रकाश एक सार्वभौम ग्रन्थ है। भारतवर्ष की ऐतिहासिक एवं सामाजिक भूमिका में लिखा जाने के पश्चात् भी इसके बहुत सारे सिद्धान्त सार्वभौम हैं। विदेशों के निवासी जिन्हें भारतवर्ष के आचार-व्यवहार, इतिहास, उपलब्धि आदि से विशेष सरोकार नहीं है, उन्हें भी ईश्वर, जीव, प्रकृति, बन्धन, मोक्ष, स्वर्ग, नरक इत्यादि प्रसङ्गों में रुचि हो सकती है। फिर जब स्वामीजी ने इस्लाम और ईसाई जैसे मत-मतान्तरों का गम्भीरता से सर्वेक्षण किया है और इन सबकी ऐसी तर्क-संगत समालोचना की है कि जल्दी उन समालोचनाओं का निराकरण सम्भव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में सत्यार्थप्रकाश का विदेशी भाषाओं में अनुवाद एक सहज मिशनरी संगठन की स्वाभाविक प्रक्रिया है।

जिस काल में सत्यार्थप्रकाश लिखा गया और प्रकाशित हुआ उस समय भारत अंग्रेजी शासन के अन्दर था। आभिजात्य वर्ग के लोगों में अंग्रेजी का प्रचलन बढ़ रहा था। विज्ञान, राजनीति, अर्थनीति, सामा-

जिक शास्त्रों आदि के लिये अंग्रेजी सारे ब्रिटिश-साम्राज्य में प्रचलित थी। इस प्रकार अंग्रेजी का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व था। इसीके साथ भारतीय मूल के लोग भारत से बाहर अंग्रेजी उपनिवेशों में बस रहे थे। उनका सम्पर्क हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं से टूट कर अंग्रेजी के साथ जुड़ रहा था। अतः अंग्रेजी अनुवाद की आवश्यकता भारत के लिये और विदेशी अंग्रेजी उपनिवेशों के लिये सुस्पष्ट थी। अंग्रेजी के साथ ही सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद अन्य कई विदेशी भाषाओं में हुआ। हम विभिन्न विदेशी भाषाओं के अनुवादों का संकलन मात्र अंकित कर रहे हैं।

अंग्रेजी : सत्यार्थप्रकाश का सर्वप्रथम अंग्रेजी अनुवाद डॉ० चिरंजीव भारद्वाज ने किया था। इसका प्रथम संस्करण 1906 ई० में लाहौर से प्रकाशित हुआ। द्वितीय संस्करण आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त ने 1915 ई० में, तृतीय संस्करण राजपाल एण्ड सन्स लाहौर ने 1927 ई० में, चतुर्थ संस्करण आर्यसमाज मद्रास ने 1932 ई० में और पञ्चम संस्करण सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने 1975 ई० में किया।

मास्टर दुर्गादास कृत सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद 1908 ई० में विरजानन्द प्रेस, लाहौर ने प्रकाशित किया था। इसीका द्वितीय संस्करण जनज्ञान प्रकाशन, दिल्ली ने 1970 ई० में प्रकाशित किया था।

पं० श्री गंगाप्रसादजी उपाध्याय वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान् और लेखन कला के अति सुविज्ञ व्यक्ति थे। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का अत्यन्त सुष्ठु एवं परिष्कृत अनुवाद 1946 ई० में प्रकाशित किया। इस अनुवाद के द्वितीय और तृतीय संस्करण 1960 और 1961 ई० में प्रकाशित हुए। इसी अनुवाद का एक और संस्करण 1981 ई० में डॉ० रत्नाकुमारी, स्वाध्याय संस्थान, इलाहाबाद ने प्रकाशित किया। वस्तुतः उपाध्यायजी का अनुवाद प्रामाणिकता और अनुवाद कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। हमने सैकड़ों स्थलों पर मूलग्रन्थ से इस अनुवाद

को मिला कर देखा है। सचमुच इससे और सुन्दर अनुवाद होना कठिन है।

सत्यार्थप्रकाश का एक और अंग्रेजी संस्करण सत्यार्थप्रकाश : स्पॉट लाइट आन ट्रुथ, श्री बन्देमातरम् रामचन्द्र राव ने किया है। इसका प्रथम संस्करण उद्गीथ प्रकाशन संस्था, हैदराबाद (आ० प्र०) ने 1988 ई० में प्रकाशित किया है। कागज, मुद्रण आदि की दृष्टि से यह संस्करण अति नयनाभिराम है। इसकी साज-सज्जा में बन्देमातरम् श्रीरामचन्द्र राव की ऋषिभक्ति निहित दृष्टिगोचर होती है। अनुवादक ने इस ग्रन्थ को इङ्गलिश विद कामेन्ट्स बनाया है। यह ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद के साथ सत्यार्थप्रकाश पर श्री रामचन्द्र राव की टिप्पणी भी है। एक बात सुस्पष्ट दीखती है कि अनुवादक मूलग्रन्थ से कई बार पृथक् होकर लिख रहे हैं और कई बार मूलग्रन्थ के कुछ अंश छोड़ भी दिये गये हैं। अनुवादक, मूलग्रन्थ लेखक महर्षि की अन्तस्पर्शी विद्या के साथ न्याय करने में भी कहीं-कहीं शिथिल पड़ जाते हैं। फिर भी सत्यार्थप्रकाश की इङ्गलिश रेन्डरिंग की दृष्टि से ग्रन्थ पढ़ने लायक है।

आर्यसमाज के इतिहास में 'अंग्रेजी में सत्यार्थप्रकाश का एक अन्य अनुवाद परोपकारिणी सभा की प्रेरणा से मेरठ के रायबहादुर रतनलाल ने किया था। यह अद्यापि अप्रकाशित है। इसकी पाण्डुलिपि सभा के पुस्तक संग्रह में सुरक्षित है।"[1]

जर्मन : सत्यार्थप्रकाश का जर्मन भाषा में अनुवाद दश समुल्लास पर्यन्त डा० दौलतराम देव ने किया था। इसे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने जर्मनी के लिपज़िग नगर में मुद्रित कराकर 1930 ई० में प्रका-शित किया था।

फ्रेंच : संसार के कई देशों में अंग्रेजी की अपेक्षा फ्रेंच भाषा का प्रचार अधिक है। विशेष रूप से मारिशस में आर्यसमाज का प्रचार भी अधिक है और वहाँ के लिये सत्यार्थप्रकाश का फ्रेंच अनुवाद आवश्यक

1. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार: आर्यसमाज का इतिहास भाग 5, पृ० 63

था। सत्यार्थप्रकाश का फ्रेंच भाषा में अनुवाद दश समुल्लास पर्यन्त लुई मोरॉं (Louis Moren) ने किया था। इसका प्रथम संस्करण 1940 ई० में ब्रुसेल्स (बेल्जियम) में प्रकाशित हुआ। द्वितीय संस्करण 1975 ई० में आर्यसभा मारिशस ने प्रकाशित किया था।

चीनी : सत्यार्थप्रकाश का चीनी भाषा में अनुवाद डा० चाऊ ने किया था। यह 1958 ई० में हाँगकाँग से प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद की व्यवस्था में पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय की प्रेरणा अति प्रशंसनीय रही है।

बर्मी : बर्मी भाषा में सत्यार्थप्रकाश के दश समुल्लासों का अनुवाद बौद्ध भिक्षु ऊ क्तित्तिया ने किया था। आर्यसमाज रंगून ने इसे 1959 ई० में प्रकाशित किया था।

स्वाहिली : सत्यार्थप्रकाश का एक अनुवाद अफ्रीका की स्वाहिली भाषा में भी हो चुका है।

अरबी : पं० कालीचरण शर्मा ने अरबी भाषा में सत्यार्थप्रकाश के कुछ अंशों का अनुवाद किया था।

बाल तथा लघु संस्करण

सत्यार्थप्रकाश एक बृहद् ग्रन्थ है। यह एक प्रकार से संसार के सभी धर्मों, सम्प्रदायों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का समीक्षात्मक वर्णन प्रस्तुत करता है। यह विश्व विचारकोश तो है ही, साथ ही यह मानव मन्तव्य का अनूठा ग्रन्थ है। चौदह समुल्लासों में वेद शास्त्र, दर्शन, उपनिषद, के सैकड़ों-सहस्रों ग्रन्थों के उद्धरण एवं प्रमाणों सहित समन्वित हैं। सीधे-सादे कम पढ़े-लिखे लोगों के लिये भी हृदयग्राही एवं विचारोत्तेजक सामग्री इसमें सुलभ है, तो साथ ही इसमें प्रस्तुत दार्शनिक एवम् आध्यात्मिक विद्या के गूढ़ रहस्य विद्याव्यसनी और अगाध पाण्डित्य परिपूर्ण विद्वज्जनों के लिये भी बुद्धिविलास के लिये ही नहीं अपितु इसमें जीवन निर्माण की सामग्री सुलभ है। सत्यार्थप्रकाश के अध्येता को एक अन्तर्दृष्टि, विचार सरणि, चिन्तनकला का सहज ही बोध हो जाता है।

इन सारे गुणों को हृदयङ्गम करके आर्यजन इन्हें बच्चों, वृद्धों, महि-

लाओं तथा कम पढ़े-लिखे लोगों के लिये समय-समय पर बाल तथा लघु संस्करण प्रकाशित करते रहे हैं। इन संस्करणों की एक सूचना परोपकारी के 'सत्यार्थप्रकाश विशेषाङ्क' मई 1977 ई० में प्रकाशित हुई है। हम सधन्यवाद उसे यहाँ उद्धृत कर रहे हैं :

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
1,	बाल सत्यार्थप्रकाश	शिवशर्मा	शंकरदत्त शर्मा, मुरादाबाद	
2.	बाल सत्यार्थप्रकाश	शिवशर्मा	आर्य प्रेमी कार्यालय, अजमेर	
3,	बाल सत्यार्थप्रकाश	विश्वनाथ विद्यालंकार	आर्य पुस्तकालय, लाहौर	
4.	बाल सत्यार्थप्रकाश	विश्वनाथ विद्यालंकार	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली	
5.	लघु सत्यार्थप्रकाश (पूर्वार्द्ध)		हजारीलाल आर्य बुकसेलर, लखनऊ	1919 ई०
6,	महिला सत्यार्थप्रकाश	विश्वप्रकाश	कला प्रेस, प्रयाग	
7.	सत्यार्थप्रकाश संग्रह	गंगाप्रसाद तुलसीराम स्वामी, शिवशर्मा		
8.	लघु सत्यार्थप्रकाश	आर्य प्रतिनिधि सभा (सं० प्रा०)	घासीराम प्रकाशन विभाग	1964 वि०
9.	सत्यार्थ सार रीडर नं० 4		स्वामी प्रेस, मेरठ	
10.	बाल सत्यार्थप्रकाश		आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर	

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक विशेष	प्रकाशन काल
11.	बाल संक्षिप्त सत्यार्थप्रकाश	जगदीश्वरानन्द सरस्वती	दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली	2033 वि०
12.	सत्यार्थ-सुधा पूर्वार्द्ध	आचार्य जगदीश विद्यार्थी	आर्य कुमार सभा, किंग्स वे, दिल्ली	1970 ई०
13.	सत्यार्थ-सुधा उत्तरार्द्ध	आचार्य जगदीश विद्यार्थी	आर्य कुमार सभा, किंग्स वे, दिल्ली	1970 ई०
14.	संक्षिप्त सत्यार्थप्रकाश		दयानन्द संन्यासी वानप्रस्थ मण्डल, ज्वालापुर	1967 (द्वि० सं०)
15.	जगमगाते हीरे	हरिदेव आर्य	मधुर प्रकाशन, दिल्ली	1971 ई०
16.	गुरु-शिष्य संवाद	मित्रसेन आर्य	भारतवर्षीय वैदिक सिद्धान्त परिषद् अलीगढ़	1967-68 ई०
17.	सत्यार्थप्रकाश उपदेशामृत	चतुरसेन गुप्त	सत्यार्थप्रकाश धर्मार्थ ट्रस्ट, शामली	1965 ई०
18.	ज्ञान प्रकाश	हरिशरण सिद्धान्तालंकार दीनानाथ सिद्धान्तालंकार	जनज्ञान प्रकाशन, दिल्ली (विशेषांक)	1969 वि०
19.	कुमार सत्यार्थप्रकाश (गुजराती)	वल्लभदास रत्नसिंह मेहता	आर्यसमाज, बम्बई	1935 ई०

सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास अर्पें हैं।

सत्यार्थप्रकाश (पृथक् समुल्लाओं का प्रकाशन)

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
1.	सत्यार्थप्रकाश संग्रह	...... दुर्गाप्रसाद	डी० ए० वी० कालेज, लाहौर पुस्तक-६	1891 ई०
2.	आर्य सिद्धान्त दर्पण (दशम समुल्लास)	रामलाल, लुधियाना	लाहौर	1914 ई०
3.	सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुल्लास		दयानन्द संन्यासी वानप्रस्थ मण्डल ज्वालापुर	1974 ई०
4.	सत्यार्थप्रकाश प्रथम अंक		आर्यसमाज, सिलीगुड़ी	
5.	राजधर्म (षष्ठ समुल्लास)	लक्ष्मीदत्त दीक्षित	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली	1950 ई०
6.	राजधर्म प्रकाश		सार्वदेशिक प्रकाशन दिल्ली	2013 ई०
7.	आचार-अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य (दशम समुलास)	... ...	गोविन्द ब्रदर्स, अलीगढ़	1948 ई०

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
8.	सत्यार्थ प्रकाशस्य परीक्षोपयोगी दशम समुल्लासः		आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर	2006 वि०
9.	सत्यार्थप्रकाश का सारांश (प्रथम समुल्लास) श्यामस्वरूप		सत्यव्रत आर्य संघ, बरेली	1940 ई०
10.	सत्यार्थप्रकाश का 13वाँ समुल्लास		आर्योदय विशेषांक	1965 ई०
11.	सत्यार्थप्रकाश प्रथम व द्वितीय समुल्लास	रघुनन्दन सिंह 'निर्मल'	आर्य सत्संग सभा, दिल्ली	2010 वि
12.	सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास	रघुनन्दन सिंह 'निर्मल'	आर्य सत्संग सभा, दिल्ली	

सत्यार्थ प्रकाश के विभिन्न भाषाओं में अनुवादों की तालिका :

	पुस्तक का नाम	अनुवादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
	अंग्रेजी अनुवाद			
1.	Light of Truth	Dr. Chiranjiba Bharadwaj	Lahore	1906
2.	,,	,,	Arya Pratinidhi Sabha (U. P.)	1915
3.	,,	,,	Dr. Satya Kama Bharadwaja.	1924-27
4.	,,	,,	Arya Samaj Madras	1932
5.	,,	,,	Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha, New Delhi	1975
6	An English Translation of the Satyartha Prakash	Durga Prasad	Virjananda Press Lahore	1908
7.	,,	,,	Jangyan Prakashan, Delhi	1970-72
8.	Light of Truth	Ganga Prasap Upadhyaya.	Kala Press, Allahabad	1946
9.	Spot Light on Truth	Vande Matharam Ramchandra Rao	Udgeeth Prakashan, Hyderabad A.P.	1988

अंग्रेजी में विभिन्न समुल्लासों का पृथक्शः प्रकाशन :

	पुस्तक का नाम	अनुवादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
1.	Satyartha Prakash (First, Second. Third, Fifth chapters)	Tr. Charan Das	The Aryan Printing Publishing and General Trading Co., Lahore	1903 1904
2.	Satyarth Prakash (Seventh, Eighth, Ninth and Tenth Chapters)	Tr. Durga Prasad	Virjanda Press, Lahore	1903
3.	Satyarth Prakash (Eleventh Chapter)	Tr. Durga Prasad	Virjananda Press, Lahore	1903
4.	Satyarth Prakash Selections (The Niyoga doctrine of Arya Samaj)	Ruchi Ram Sahni	Punjab Economical Press, Lahore	1897

	पुस्तक नाम	अनुवादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
गुजराती अनुवाद :				
1.	सत्यार्थप्रकाश	मंछाशंकर जयशंकर द्विवेदी	जगदीश्वर प्रेस, बम्बई	1905 ई०
2.	सत्यार्थप्रकाश	मायाशंकर शर्मा	आर्य प्रतिनिधि सभा, बम्बई	1926 ई०
3,	सत्यार्थप्रकाश	मायाशंकर शर्मा	शूरजी वल्लभदास, बम्बई	1928 ई०
4.	सत्यार्थप्रकाश	मायाशंकर शर्मा	गुरुकुल सूपा (नवसारी)	2009 वि०
5.	सत्यार्थप्रकाश	डा० दिलीप वेदालंकार	चरोतर प्रदेश आर्यसमाज आनन्द	2032 वि०
मराठी अनुवाद :				
1.	सत्यार्थप्रकाश	श्रीपाद दामोदर सतावलेकर लक्ष्मण राव ओघले	आर्यसमाज कोल्हापुर	1904 ई०
बंगला अनुवाद :				
1.	सत्यार्थप्रकाश		वैदिक यन्त्रालय, अजमेर	1308 बंगाब्द
2.	सत्यार्थप्रकाश	पं० शंकरनाथ	आर्यसमाज कलकत्ता	1911 ई०, 1926 ई०

3.	सत्यार्थप्रकाश	पं० शंकरनाथ	बंग-आसाम आर्यप्रतिनिधि सभा, कलकत्ता	1947 ई०
4.	सत्यार्थप्रकाश	दीनबन्धु वेदशास्त्री	गोबिन्दराम, हासानन्द, कलकत्ता	1934 ई०
5.	सत्यार्थप्रकाश	प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण	वैदिक अनुसन्धान ट्रस्ट, आर्यसमाज कलकत्ता	1980 ई०
6.	सत्यार्थप्रकाश	प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण	वैदिक अनुसन्धान ट्रस्ट, आर्यसमाज कलकत्ता	1990 ई०

सिन्धी अनुवाद :

1.	सत्यार्थप्रकाश	जीवनलाल आर्य	गोविन्दराम हासानन्द	1912 ई०
2.	सत्यार्थप्रकाश	जीवनलाल आर्य	आर्यप्रतिनिधि सभा सिन्ध	1937 ई०
3.	सत्यार्थप्रकाश		हकीम बीरूमल आर्यप्रेमी, अजमेर	

पंजाबी अनुवाद :

1.	सत्यार्थप्रकाश	आत्माराम अमृतसरी	आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब अमृतसर	1912 ई० 1899 ई०

	पुस्तक नाम	अनुवादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
2.	सत्यार्थप्रकाश	आत्माराम अमृतसरी		
3.	सत्यार्थप्रकाश	आत्माराम अमृतसरी	वजीरसिंह प्रेस, अमृतसर प्रथम सं० द्वितीय सं०	1902 ई०
1.	सत्यार्थप्रकाश (उड़िया)	श्रीवत्स पण्डा बी० ए०	गोरक्षाश्रम तनरडा (गंजाम)	1917 ई०
2.	सत्यार्थप्रकाश (उड़िया)	लक्ष्मीनारायण शास्त्री	उत्कल साहित्य, संस्थान गुरुकुल आमसेना (बरियार रोड)	1975 ई०
3.	सत्यार्थप्रकाश तमिल	एम० आर० जम्बुनाथन	आर्यसमाज मद्रास 1925 ई०	1935 ई०
4.	सत्यार्थप्रकाश तेलुगू	सोमनाथ राव		1923 ई०
5.	सत्यार्थप्रकाश तेलुगू	सोमनाथ राव	आर्यसमाज बैंगलोर	1933 ई०
6.	सत्यार्थप्रकाश मलयालम		आर्यसमाज मिशन कालीकट	1933 ई०
7.	सत्यार्थप्रकाश मलयालम		आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा	
8.	सत्यार्थप्रकाश कन्नड़	भास्कर पन्त	आर्यसमाज बैंगलोर	1932 ई०
9.	सत्यार्थप्रकाश असमी	परमेश्वर कोती	आर्यसमाज गौहाटी	1975 ई०
10.	सत्यार्थप्रकाशः संस्कृतानुवादः	शंकरदेव पाठक	दयानन्दर्षि जन्मशताब्दी ग्रन्थमाला-1	1981 वि०

	पुस्तक नाम	अनुवादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
	उर्दू अनुवाद :			
1.	मुस्तनिद उर्दू सत्यार्थप्रकाश	आत्माराम अमृतसरी	आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब	1899 ई०
2.	मुस्तनिद उर्दू सत्यार्थप्रकाश	भक्त रैमल	राजपाल एण्ड सन्स लाहौर	1908 से 1930 तक 10 संस्करण
3.	अनवार हकीकत	पं० चमूपति	आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब	1939 ई०
4.	अनवार हकीकत	पं० चमूपति	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली	
5.	अनवार हकीकत	पं० चमूपति	मास्टर लक्ष्मण रामनगरी आर्योपदेशक	
6.	सत्यार्थप्रकाश	मेहता राधाकृष्ण		
7.	सत्यार्थप्रकाश	मेहता राधाकृष्ण	आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, लाहौर	1943 ई०
8.	सत्यार्थप्रकाश	लाजपत राय साहनी	,, ,,	
9.	सत्यार्थप्रकाश 11 वाँ समु०	जीवनदास पैंशनर	आर्य प्रतिनिधि सभा, लाहौर	1899 ई०
10.	सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (1875 ई०) का उर्दू अनुवाद	प्रकाशक	पं० धर्मपाल, लाहौर	

विभिन्न प्रकाशकों के प्रकाशन

सत्यार्थप्रकाश जैसे ग्रन्थरत्न की इतनी अधिक माँग थी कि कई प्रकाशकों ने इसके अनेकों संस्करण प्रकाशित किये। आर्यसमाज एक धर्मप्रचारक संस्था है। ज्यों-ज्यों आर्यसमाज का प्रचार बढ़ता गया, त्यों-त्यों सत्यार्थप्रकाश की माँग भी बढ़ती गई। साथ ही प्रकाशकों और प्रकाशनों की संख्या भी बढ़ती गई।

हमने इन प्रकाशनों को एकत्र संकलित करने का प्रयास किया है। हम सम्बन्धित प्रकाशकों के आभारी हैं। प्रकाशन प्रतियों की संख्या हमें कई जगह आनुमानिक रखनी पड़ी है। वहाँ हमने सुस्पष्ट आनुमानिक लिख दिया। शेष सूचनाएँ प्रामाणिक हैं। अतः भविष्य में ऐसे प्रयासों को कुछ सुविधा मिल सकेगी।

हम विभिन्न प्रकाशकों के विभिन्न प्रकाशनों की सूचना निम्न रूप में संकलित कर रहे हैं :

वैदिक पुस्तकालय, अजमेर

दयानन्द आश्रम, आर्यसमाज मार्ग, अजमेर

संस्करण	वर्ष	संख्या
1. पहला संस्करण	1875 ई०	
2. दूसरा ,,	1884 ई०	2000
3. तीसरा ,,	1887 ई०	2000
4. चौथा ,,	1890 ई०	5000
5. पाँचवाँ ,, (अजमेर)	1954 वि०	10,000
6. छठा ,,	1959 वि०	5000
7. सातवाँ ,,	1961 वि०	5000
8. आठवाँ ,,	1964 वि०	5000
9. नवाँ ,,		5000
10. दसवाँ ,,	1968 वि०	6000
11. ग्यारहवाँ ,,	1969 वि०	6000

	संस्करण	वर्ष	संख्या
12.	बारहवाँ संस्करण	1971 वि०	6000
13.	तेरहवाँ ,,		6000
14.	चौदहवाँ ,,		6000
15.	पन्द्रहवाँ ,,	1980 वि०	5000
16.	सोलहवाँ ,,	1981 वि०	5000
17.	सत्रहवाँ ,,	1981 वि०	5000
18.	अट्ठारहाँ ,,	1982 वि०	5000
19.	उन्नीससाँ ,,	1925 ई०	10,000
20.	बीसवाँ ,,	1927 ई०	20,000
21.	इक्कीसवाँ ,,	1928 ई०	20,000
22.	बाईसवाँ ,,	1929 ई०	25,000
23.	तेईसवाँ ,,	1934 ई०	20,000
24.	चौबीसवाँ ,,	1934 ई०	20,000
25.	पच्चीसवाँ ,,	1935 ई०	20,000
26.	छब्बीसवाँ ,,	1943 ई०	20,000
27.	सत्ताईसवाँ ,,	1944 ई०	20,000
28.	अट्ठाईसवाँ ,,	1945 ई०	20,000
29.	उन्तीसवाँ ,,	1947 ई०	25,000
30.	तीसवाँ ,,	1950 ई०	10,000
31.	इक्तीसवाँ ,,	1956 ई०	15,000
32.	बत्तीसवाँ ,,	1959 ई०	15,000
33.	तैंतीसवाँ ,,	1966 ई०	10,000
34.	चौतीसवाँ ,,	1972 ई०	11,000
35.	पैंतीसवाँ ,,	2028 वि०	20,000
36.	छत्तीसवाँ ,,	1983 ई०	5,000
37.	सैंतीसवाँ ,,	1990 ई०	5,000
			4,00,000

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

455, खारी बावली, दिल्ली-6

संस्करण संख्या		समय	संख्या
1. पहला	संस्करण	1966	5000
2. दूसरा	,,	अक्टू० 1967	5000
3. तीसरा	,,	सित० 2026 वि०	2200
4. चौथा	,,	1970	6000
5. पाँचवाँ	,,	1970	4400
6. छठा	,,	सित० 2028 वि०	5500
7. सातवाँ	,,	1972	6500
8. आठवाँ	,,	1972	6500
9. नवाँ	,,	अगस्त 1975	2200
10. दसवाँ	,,	जनवरी 1976	5500
11. ग्यारहवाँ	,,	अगस्त 1976	5500
12. बारहवाँ	,,	नवम्बर 1976	16500
13. तेरहवाँ	,,	अक्टू० 1976	22000
14. चौदहवाँ	,,	दिस० 1976	5500
15. पन्द्रहवाँ	,,	दिस० 1977	2200
16. सोलहवाँ	,,	दिस० 1977	17250
17. सत्रहवाँ	,,	मई 1979	12000
18. अट्ठारहवाँ	,,	सित० 1979	27300
19. उन्नीसवाँ	,,	,, 1979	7700
20. बीसवाँ	,,	फरवरी 1980	22000
21. इक्कीसवाँ	,,	मई 1980	5500
22. बाईसवाँ	,,	जुलाई 1980	22000
23. तेईसवाँ	,,	फरवरी 1981	7700
24. चौबीसवाँ	,,	जुलाई 1981	22000

संस्करण संख्या		समय	संख्या
25. पचीसवाँ	संस्करण	जुलाई 1981	22000
26. छब्बीसवाँ	,,	अक्टू० 1981	22000
27 सत्ताईसवाँ	,,	,, 1981	22000
28. अट्ठाईसवाँ	,,	मार्च 1982	4400
29. उन्तीसवाँ	,,	मार्च 1983	33000
30. तीसवाँ	,,	अक्टू० 1983	48000
31. इकतीसवाँ	,,	जनवरी 1985	45000
32. बत्तीसवाँ	,,	जनवरी 1985	5500
33. तैंतीसवाँ	,,	मार्च 1986	25000
34. चौतीसवाँ	,,	मई 1987	25000
35. पैंतीसवाँ	,,	जुलाई 1987	5500
36. छत्तीसवाँ	,,	मार्च 1988	51000
37. सैंतीसवाँ	,,	अप्रैल 1989	5500
		आजतक का योग	5,63,150

आर्य साहित्य मण्डल

श्रीनगर रोड, अजमेर

संस्करण	वर्ष	संख्या	मूल्य
प्रथम	1933 ई०	25000	चार आना
द्वितीय	1935 ई०	20,000	चार आना
तृतीय	1939 ई०	21,000	सात आना
चतुर्थ	1942 ई०	21,000	बारह आना
पञ्चम	1950 ई०	10,000	एक रुपया
षष्ठ	1955 ई०	12,000	डेढ़ रुपया
सप्तम	1960 ई०	10,000	दो रुपया
अष्टम	1967 ई०	8,000	ढ़ाई रुपया
नवम	सं० 2035 वि०	10,000 (आनुमानिक)	एक रुपया
		137,000	

विरजानन्द वैदिक संस्थान

गाजियाबाद (मेरठ)

प्रथम	सं० 2013 वि०	1,000
द्वितीय	सं० 2016 वि०	2,000
तृतीय	सं० 2018 वि०	3,000
चतुर्थ	सं० 2047 वि० प्रकाश्य	2,000
		8,000

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़ सोनीपत, हरयाणा

संस्करण	वर्ष	संख्या
प्रथम	1972	5000
द्वितीय	1972	1000
तृतीय	1975	2000
		8,000

गुरुकुल आमसेना

खरियार रोड, कालाहाण्डी, उड़ीसा

प्रथम	1975	2000
द्वितीय	1987	3000
		5000

हरयाणा साहित्य संस्थान

गुरुकुल झज्जर

1.	सिद्धान्तीजी का स्थूलाक्षरी संस्करण	सं० 2018 वि०	2000
	द्वितीय		2000
2.	ताम्रपत्रानुसारी संस्करण	सं० 2040 वि०	2000
			6,000

दयानन्द संस्थान

2286, आर्यसमाज मार्ग, करोलबाग, नई दिल्ली-5

हिन्दी में :

प्रथम	1970	10,000	
		10,000	लघु संस्करण
द्वितीय	1872 शिवरात्रि	10,000	
तृतीय	1972 मई	5,500	
चतुर्थ	1973 अगस्त	20,500	
पंचम	1974 जनवरी	20,500	
षष्ठ	1975 (i)	15,000	
	(ii)	15,000	
	(iii)	5500	
		1,12000	

अंग्रेजी में

1970	5000
1972	3300
1973	5500
1975	5500
1980	3300
	22,600

योग 1,34,600

गोविन्दराम हासानन्द

(सुबोध पाकेट बुक्स)

1. जन्म शताब्दी पर सस्ता संस्करण कलकत्ता से — 6,000
2. 1925-1950 तक के आंकड़े सत्यार्थ की सार्वभौमिकता में हैं। हम उन्हें प्राप्त न कर सके 1925 से 1963 } अनुमानतः 70,000

3. 1963 प० भगवदत्त संस्करण	3000
4. 1965	10,000
5. 1970	10,000
6. 1975	3,000
	10,2,000

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान. नई दिल्ली-2

हिन्दी	1975 से पूर्व	50,000
	1974-75	50,000
	1975 के पश्चात्	5,000
	3 संस्करण	5,000
उर्दू	3 संस्करण प्रत्येक 2000 करके	6,000
	मराठी	2,000
	कन्नड़	5,000
	तामिल	5,000
	उड़िया (3 संस्करण 1927-1937-1973 में)	5,000
अंग्रेजी	1975 तक	5,000
	पुनः 2000 × 3 संस्करण	6,000
	चीनी	4,000
	तेलुगू	10,000
	फ्रेन्च	2,000
	असमिया	1,000
		1,19 000
बंगला	प्रथम से चतुर्थ अनुमान	20 000
	पञ्चम	5,000
	षष्ठ	5,500
	सप्तम (आफसेट)	1,000
		81,500

स्फुट प्रकाशन जिनका वर्णन सम्भवतः पूर्व विवरण में छूटा हुआ प्रतीत हो रहा है :—

1.	उर्दू में प्रथम संस्करण	1899 ई०	7000	
	द्वितीय ,,	1901 ई०	5000	
	तृतीय ,,	1907 ई०	5000	
	पुनः 1923 से 61 तक 14 संस्करण	अनु०	70,000	
				87,000
2.	पंजाबी प्रथम संस्करण	1898 अनु०	5000	
	द्वितीय संस्करण	1912 अनु०	5000	
				10,000
3.	गुजराती 4 संस्करण अनुमानतः			20,000
4.	मराठी 4 ,, ,,			20,000
5.	सिन्धी 4 ,, ,,			20,000
6.	नेपाली 3 संस्करण 1931, 1936, 1963	अनु०		10,000
7.	तामिल 3 संस्करण (सार्वदेशिक के अतिरिक्त)	अनु०		15,000
8.	तेलुगू 4 संस्करण ,,	अनु०		20,000
9.	कन्नड़ 3 ,, ,,	अनु०		15,000
10.	मलयालम 2 ,, ,,	अनु०		10,000
13.	अंग्रेजी 12 ,, ,,	अनु०		50,000
14.	जर्मन 1 ,,			1,000
15.	वर्मी 1 ,,			1,000
16.	स्वाहिली 1 ,,			1,000
				2,80,000

विभिन्न प्रकाशनों का सर्वयोग :

1.	वैदिक पुस्तकालय	4,00,000
2.	आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट	5,63,000
3.	आर्यसाहित्य मण्डल	1,37,000
4,	विरजानन्द वैदिक संस्थान	8,000
5.	रामलाल कपूर ट्रस्ट	8,000
6.	गुरुकुल झामसेना	5,000
7.	हरयाणा साहित्य संस्थान	6,000
8.	दयानन्द संस्थान	1,34,000
9.	गोबिन्दराम हासानन्द	1,02,000
10.	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा	1,79,000
11.	बंगला संस्करण	31,000
12,	उर्दू	87,000
13.	पंजाबी	10,000
14,	स्फुट प्रकाशन	2,80,000
	सर्वयोग	20,50,000

हमने इस आकलन को एकत्र करने में यथाशक्ति पूरा प्रयास किया है कि आँकड़े ठीक हों। इस आकलन की कुछ सीमाएँ हैं। मैंने सर्वप्रथम 1975 ई० आर्यसमाज के दीवाने नेता पं० नरेन्द्रजी से कुछ सूचनाएँ, उनके हस्ताक्षर युक्त सत्य प्रमाणित प्रतिलिपि के रूप में, प्राप्त कीं। उस समय पं० नरेन्द्रजी स्थापना शताब्दी समारोह के संयोजक थे और मेरे पत्रों का उन्होंने ही सार्वदेशिक की ओर से उत्तर दिया था। कार्यान्तर में व्यस्त हो जाने के कारण उस समय यह कार्य न हो पाया। अब 15 वर्षों पश्चात् पुनः आंकड़े एकत्र करना आरम्भ किया। आंकड़ों में अन्तर अधिक नहीं आया है, फिर भी कुछ अन्तर तो है अवश्य। ऐसे सन्दर्भों में हमने पं० नरेन्द्रजी की सूचना को स्वीकार किया है।

अनेकत्र हमें प्रकाशन प्रतियों का जब कोई सन्धान न सूझ सका, तो हमने आगे-पीछे देखकर अनुमान लगा लिया और सुस्पष्ट अनुमान लिख दिया। प्रसिद्ध प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन की हमें सूचना न मिल सकी। सम्भवतः सूचना न देने की उनकी नीति भी हो सकती है। अन्य प्रकाशनों को देखते हुए सांख्यकी के आधार पर उनका भी औसत दो ढाई लाख का हो सकता है। कई और प्रकाशकों ने छापा होगा, जो मेरी पूरी चेष्टा के बावजूद भी, मेरे आकड़ों के आकलन में न आ सके। अस्तु, भाष्य, व्याख्या, लघु, शिशु एवं खण्ड संस्करणों को छोड़कर भी इस ग्रन्थरत्न की लगभग 20 लाख से अधिक प्रतियाँ 105 वर्षों में प्रकाशित हो गईं। यह ग्रन्थ की लोकप्रियता एवं उपयोगिता का निर्भ्रम प्रमाण है।

षष्ठ अध्याय

सत्यार्थप्रकाश वाङ्मय

सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन को लगभग 105 वर्ष हो रहे हैं। ग्रन्थ में सामयिक सन्दर्भों की प्रचुरता के बावजूद भी, सत्यार्थप्रकाश का शाश्वतिक महत्त्व है। इसमें विवेचित मानव-मन्तव्य, दार्शनिक ऊहापोह, जीवन के आदर्श, धार्मिक शिक्षाएँ, सत्यस्थापन की सुदृढ़ भित्ति, आदि का शाश्वत मूल्य है। सत्यार्थप्रकाश के अध्येता इन मूल्यों को समवेत स्वर में स्वीकार भी करते हैं। इस दृष्टि से इस कालजयी ग्रन्थ पर इसके भक्तों ने समय-समय पर भाष्य एवं टीका-टिप्पणियाँ करने का सत्प्रयास किया है। इन प्रयासों पर साधारण रूप से दृष्टिपात करने का प्रयास इस अध्याय में प्रस्तुत है।

भाष्य और टीका-टिप्पणियों के अतिरिक्त एक और भी इस वाङ्मय का आयाम है। इस ग्रन्थरत्न के खण्डन-मण्डन का भी एक अद्भुत आयाम है। सत्य के सेनानी के समर्थक अनुगामी हैं, तो "मम सत्यम्" के अनुगामी विरोधी भी कम नहीं हैं। इस प्रकार खण्डन-मण्डनात्मक साहित्य की भी अलग कथा है।

पूर्व अध्याय में हमने यह प्रयास किया कि सन् 1884 ई० से 1989-90 तक के वर्षों में इस ग्रन्थ की 20 लाख से ऊपर प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। यह एक तथ्यात्मक आकलन था। एक प्रमुख प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स के प्रकाशन का पता न लग सका। किन्तु कई प्रकाशक ऐसे भी हो सकते हैं जिनका पता ही मुझे नहीं है। तथ्यात्मक आकलन के इस अधूरेपन को कोई अन्य समानधर्मा विद्वान् महर्षिभक्त पूर्णता की ओर अग्रसर करेंगे।

भाष्य-व्याख्या-खण्डन-मण्डनात्मक साहित्य का आकलन भी तथ्यात्मक है। अपनी जानकारी के अनुसार मैंने सभी सम्भव स्रोतों को टटोलने का प्रयास किया है। फिर भी, यह सम्भव है कि कुछ छूट गया हो। अतः प्रयास करने का दावा तो हमारे सौभाग्य का अंश है, परिपूर्णता का दावा तो किसी अन्य सौभाग्यशाली का ही अंश होगा।

भाष्य-व्याख्या की आवश्यकता :

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश को हिन्दी में लिखा है। वह भी हिन्दी गद्य में लिखा है। ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य ही जनसाधरण को सत्य अर्थ का प्रकाश, मानव मन्तव्य की शिक्षा एवं हजारों वर्षों से विस्मृत एवं उपेक्षित आर्ष परम्पराओं का उद्धार करना था। अतएव आपाततः यह कुछ विचित्र-सा लगता है कि एक 'हिन्दी-गद्य-ग्रन्थ' जो साधारण जनता के लिये लिखा गया हो उसपर भाष्य, व्याख्या या टीका टिप्पणी की आवश्यकता भी हो सकती है। किन्तु जिन्होंने सत्यार्थप्रकाश का गम्भीर अध्ययन किया है, वे इसमें अतलस्पर्शी पाण्डित्य, दार्शनिक ऊहापोह और एक आर्ष ग्रन्थ की विशेषता पाते हैं। सत्यार्थप्रकाश में विषयों का ऐसा बाहुल्य है कि लेखक के विशाल अध्ययन और चिन्तन पर बरबस श्रद्धा उमड़ पड़ती है। इस ग्रन्थ में विद्या है, वेदों और ऋषियों की शिक्षा है, प्रसिद्ध षड्दर्शनों पर अभिनव आर्ष दृष्टिकोण है। इसके अध्येता को विश्वधर्म कोश का बोध तो होता ही है चिन्तन मनन की एक नूतन-सरणि का बोध भी होता है। समस्याओं को सोचने-समझने और उनका समाधान करने का एक नया दृष्टिकोण मिल जाता है। ऐसे विद्या प्रधान ग्रन्थ पर भाष्य, व्याख्या और टिप्पणियों की आवश्यकता इस ग्रन्थ के गम्भीर अध्येताओं को बहुत दिनों से होती रही है।

भाष्य :

आर्य प्रादेशिक सभा लाहौर द्वारा भारतवर्ष के विभाजन से पूर्व सत्यार्थप्रकाश पर भाष्य लिखने की एक योजना बनायी गयी थी।

प्रथम और द्वितीय समूल्लासों पर पं० वाचस्पति जी एम्० ए०, बी० एस-सी०, विद्यावाचस्पति ने **'सत्यार्थप्रकाश भाष्य'** शीर्षक देकर सचमुच विस्तृत, प्रमाणपुरस्सर भाष्य लिखा। यह भाष्य दयानन्दाब्द 110 में श्रीमती आर्य प्रादेशिक सभा लाहौर ने प्रकाशित किया। आगे इस योजना में सम्भवतः और कार्य न हो सका। अनुमान है कि द्वितीय विश्वयुद्ध, सन् 1942 की क्रान्ति, साम्प्रदायिक ज्वाला, सब मिलकर सत्यार्थप्रकाश के भाष्य जैसे गम्भीर कार्य में अवरोध उत्पन्न करने में सफल रहे।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास पर ही **'अष्टोत्तर-शत-नाममालिका व्याख्या सहित'** नामक व्याख्यात्मक भाष्य पं० विद्यासागर शास्त्री वेदालंकार साहित्यदर्शनाचार्य पञ्चतीर्थ नें लिखा। यह भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर से प्रकाशित हुआ। इसमें स्वामीजी द्वारा व्याख्यात परमेश्वर के 108 नामों की वैयाकरण व्याख्या और वेदमन्त्रों के प्रमाणों का संग्रह बड़ा उपयोगी कार्य हुआ है।

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास पर पं० श्री शिवपूजन सिंह कुशवाहा ने भाष्य लिखा। यह श्रीमद्दयानन्द वैदिक शोध संस्थान, कानपुर द्वारा सन् 1955 ई० में प्रकाशित हुआ।

सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास पर डॉ० भवानीलाल भारतीय ने एक शोधपूर्ण व्याख्या ग्रन्थ **'ज्ञान दर्शक'** शीर्षक से लिखा, जो दयानन्द संस्थान, नयी दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ पर विद्वान् लेखक को 'विद्यावती शारदा साहित्य पुरस्कार' से सम्मानित भी किया गया।

भाष्य-व्याख्या के नूतन प्रयास :

देश के विभाजन से पूर्व, आर्यप्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, लाहौर, ने सत्यार्थप्रकाश पर भाष्य लिखाने की एक योजना बनायी थी, और प्रथम दो समुल्लासों पर पं० वाचस्पति विद्यावाचस्पति ने विस्तृत भाष्य लिखा

था और वह प्रकाशित भी किया गया था। तब से विभिन्न विद्वानों ने स्फुट प्रयास किया है, जिसका यथोपलब्ध विवरण प्रस्तुत करने का हमने प्रयास किया है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ पर समन्वित भाष्य का अभाव बना ही रहा है।

(I) सार्वदेशिक की योजना :

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने इस अभाव का अनुभव किया और कई उच्चकोटि के विद्वानों को अलग-अलग समुल्लासों के भाष्य का कार्य सौंपा, किन्तु कुछ उल्लेखनीय सामने न आया। हमें इस योजना का ज्ञान था, अतः इस सम्बन्ध में कितनी प्रगति हुई है यह जानने के लिए हमने सार्वदेशिक को 23-6-1990 को पत्र लिखा। हमारे पत्र के उत्तर में सार्वदेशिक के प्रधान आदरणीय स्वामी आनन्दबोध सरस्वती ने आपने 3-7-1990 के पत्र में सूचित किया—"सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न विद्वानों से भाष्य लिखाने के लिए सभा ने कुछ वर्ष पूर्व प्रयास किया था। कुछ विद्वानों ने अपना भाष्य सभा को दिया था और कई लोगों ने नहीं दिया। इस कारण इस कार्य में हो रही प्रगति अवरुद्ध हो गई।"

एक अच्छा, अत्यन्त उपयोगी कार्य अवरुद्ध हो गया। हम तो सभा और सभा प्रधानजी से यही आग्रह करेंगे कि जितना भाष्य प्राप्त हो उतना हो प्रकाशित कर दिया जाय और शेष के लिए चेष्टा की जाती रहे। अन्यथा महत्त्वपूर्ण सामग्री के नष्ट हो जाने का भय रहता ही है।

(II) स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती का प्रयास :

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती उच्चतम कोटि के विद्वान्, चिन्तक, मनीषी एवं लेखक हैं। आपके कई मौलिक ग्रन्थ आपकी विद्या एवं विस्तृत स्वाध्याय के प्रमाण हैं। आपने महर्षि के वेदविषय ग्रन्थ 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' पर 'भूमिकाभास्कर' नामक विस्तृत ग्रन्थ व्याख्यात्मक रूप में लिखकर दो भागों में प्रकाशित कर दिया है। अब सम्भवतः

लगभग दो वर्षों से आदरणीय स्वामीजी सत्यार्थप्रकाश पर व्याख्यात्मक भाष्य लिखने में संलग्न हैं। यह कार्य पूर्ण हो जाने पर एक अद्भुत कार्य सम्पन्न हो जायगा। स्वामीजी की विद्या, स्वाध्याय, लेखन कला, सभी कुछ निर्भर योग्य है। हमें भरोसे का विश्वास है कि आदरणीय स्वामीजी शीघ्र ही इस व्याख्यात्मक भाष्य को पूर्ण करके प्रकाशित करने में पूर्णरूप से सफल हो जाँयगे।

टिप्पणियाँ :

सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न संस्करणों के प्रसङ्ग में हमने इस ग्रन्थ पर लिखित टिप्पणियों का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम विद्वद्वरेण्य स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने एक विस्तृत टिप्पणी लिखी है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से अधिक न कहकर म० म० श्री पं० युधिष्ठरजी मीमांसक की सम्मति उद्धृत करना उपयोगी समझते हैं—"जहाँ तक ऋषि के लेख की पुष्टि में तथा अन्य तत्सम्बन्धी उचित जानकारी के लिये नीचे जो सहस्रों टिप्पणियाँ दी हैं, वह बहुत उपयोगी कार्य हुआ है। यदि यह कहा जाय कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य को उनके सदृश बहुश्रुत विद्वान् एवं ऋषिभक्ति-लीन-मानस व्यक्ति ही कर सकता था, तो अत्युक्ति न होगी।"

पुनरालो पृ० ३१८

म० म० पं० युधिष्ठर जी मीमांसक ने सत्यार्थ प्रकाश पर प्रायः हर प्रश्न और समस्या पर टिप्पणी लिखी है। इन टिप्पणियों की संख्या लगभग 3000 से ऊपर कही जाती है। यह भी भाष्य जैसा अद्भुत कार्य हुआ है।

श्री पं० भगवद्दत्तजी बी० ए०, वैदिक रिसर्च स्कॉलर ने सत्यार्थ-प्रकाश के अपने संस्करण में यत्र-तत्र कुछ थोड़ी टिप्पणियाँ दी हैं। संख्या की दृष्टि से अल्प होने पर भी वैदुष्य की दृष्टि से इनका महत्त्व है।

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०, ने **'सत्यार्थप्रकाश एक अध्ययन'** पुस्तक लिखी, जो 1967 ई० में वैदिक प्रकाशन मन्दिर, 13 लखपतराय लेन, प्रयाग-3 द्वारा प्रकाशित हुई।

आचार्य पं० राजेन्द्रनाथ शास्त्री (पीछे स्वामी सच्चिदानन्दजी सरस्वती) ने **'सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा** अर्थात् ऋषि गाम्भीर्य का समर्थन' नामक पुस्तक लिखी, जो सन् 1969 ई० में आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुई।

'सत्यार्थप्रकाश के दार्शनिक विचार' नामक पुस्तक श्री भानुचरण आर्षेय दर्शनालंकार ने लिखी, जो आर्यग्रन्थ प्रकाशन, मडुआडीह, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुई।

खण्डन-मण्डन साहित्य

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध के चार समुल्लासों में तथाकथित सनातन पौराणिक मतों, जैन-बौद्ध मत, इस्लाम और ईसाइयत की समीक्षा की है। समीक्षा जहाँ पाण्डित्य परिपूर्ण है, वहीं एक सुधारक, सत्यान्वेषक, वेदभक्त एवं देशभक्त की लेखनी से निःसृत है। समीक्षा दोटूक है।[1] किन्तु स्वाभाविक ही स्वामीजी की इस समीक्षा से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी अपनी-अपनी जगह पर तिलमिला उठे और सत्यार्थप्रकाश के विरोध में कई पुस्तकें अपने-अपने मतों के समर्थन में उन-उन मतावलम्बी विद्वानों ने लिखीं। समय-समय पर इनका उत्तर आर्य विद्वानों ने भी दिया।

सत्यार्थप्रकाश के विरोध में बहुचर्चित पुस्तक **'दयानन्द तिमिर भास्कर'** मुरादाबाद के पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र विद्यावारिधि ने लिखी। यह पुस्तक श्री व्यैंकटेश्वर स्टीम यन्त्रालय, बम्बई से प्रकाशित हुई। पं० ज्वाला प्रसाद मिश्रजी ने अपने ग्रन्थ का नाम बड़ा चुभता हुआ रखा। नाम में जितनी तिममिलाहट है, ग्रन्थ में उससे अधिक खोखलापन है। पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने सत्यार्थप्रकाश के केवल ग्यारह समुल्लासों का खण्डन किया है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि बारहवें समुल्लास में जैनियों का मत विषय है, तेरहवें में ईसाइयों का और

1. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ में सत्यार्थप्रकाश की खण्डन पद्धति अध्याय 7

चौदहवें में कुरान मत की समीक्षा है। अतः ज्वाला प्रसादजी को रुचि ग्यारहवें समुल्लास तक ही स्वाभाविक है। किन्तु ग्रन्थ की विद्या, तर्क, प्रमाण सभी परम चिन्त्य हैं। सन्दर्भ-च्युति और आशय-विच्युति भी बहुत्र हुई है।

'दयानन्द तिमिर भास्कर' का उत्तर पं० तुलसीराम स्वामी ने **'भास्कर प्रकाश'** नामक ग्रन्थ द्वारा दिया। 'भास्कर प्रकाश' में जैसे नाम में शिष्टता है वैसे ही ग्रन्थ में विद्या, तर्क, प्रमाण सभी पाण्डित्य से परिपूर्ण हैं। 'भास्कर प्रकाश' के उत्तर में श्री ज्वाला प्रसाद मिश्रजी ने तो कुछ न लिखा। लगता है उनकी लेखनी बन्द हो गयी। किन्तु, ज्वाला प्रसादजी के अनुज पं० बलदेव मिश्रजी ने 'भास्कर प्रकाश' के उत्तर में 'धर्म-दिवाकर' नामक पुस्तक लिखी। पं० बलदेव जी ने केवल तीन समुल्लासों का प्रत्युत्तर दिया है। सम्भवतः बलदेवजी समझ चुके थे कि 'दयानन्द तिमिर भास्कर' का न समर्थन हो सकेगा और न 'भास्कर प्रकाश' का खण्डन ही सम्भव है। पं० श्री तुलसीराम स्वामी ने 'धर्म-दिवाकर' के उत्तर में **'दिवाकर प्रकाश'** नामक पुस्तक लिखी। यह भी स्वामी प्रेस, मेरठ द्वारा प्रकाशित हुई।

यह खण्डन मण्डन की कड़ी 'दिवाकर प्रकाश' पर आकर समाप्त हो जाती है, किन्तु इस सन्दर्भ में जो ध्यान देने योग्य बात है, वह यह कि, "निश्चय ही पं० तुलसीराम स्वामी के प्रखर पाण्डित्य तथा शास्त्रों के तलस्पर्शी अध्ययन का ही परिणाम था कि 'भास्कर प्रकाश' जैसा एक उत्कृष्ट ग्रन्थ अस्तित्व में आ सका। भास्कर प्रकाश का उर्दू अनुवाद श्री देवीदास डस्कवी ने 1913 ई० में किया था।"[1]

पं० कालूराम शास्त्री अमरौधा ने 'सत्यार्थप्रकाश की छीछालेदर' नामक एक पुस्तिका अमरौधा, जिला कानपुर से प्रकाशित की। इसका तर्कपूर्ण मुँहतोड़ उत्तर पं० रामदुलारे लाल आर्य ने **'सत्यार्थ-**

---

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार-आर्यसमाज का इतिहास भाग-5, पृष्ठ-65. ले०-डा० भवानीलाल भारतीय।

प्रकाश का चमत्कार' नामक पुस्तक द्वारा दिया। यह पुस्तक आर्य तर्कशालिनी सभा, आर्यसमाज चावड़ी बाजार, दिल्ली द्वारा 1930 ई० में प्रकाशित हुई थी।

पौराणिक दल के शास्त्रार्थों के प्रसिद्ध खिलाड़ी पं० श्री माधवाचार्य शास्त्री ने 'सत्यार्थप्रकाश की छीछालेदड़' एक दूसरी पुस्तिका लिखी, जो माधव पुस्तकालय, दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसका यथेष्ट मुँहतोड़ उत्तर कासगंज के प्रसिद्ध शास्त्रार्थी लेखक डॉ० श्रीराम आर्य ने **'सत्यार्थप्रकाश की छीछालेदड़ का उत्तर'** नामक पुस्तक द्वारा दिया। यह पुस्तक वैदिक साहित्य प्रकाशन, कासगञ्ज, जिला एटा द्वारा 1967 ई० में प्रकाशित हुई।

पं० कालूराम शास्त्री ने **'आर्यसमाज की मौत'** नामक ग्रन्थ लिखा जो 1931 ई० में प्रकाशित हुआ। इसका उत्तर पं० मनसारामजी शास्त्रार्थ महारथी वैदिक तोप ने **'पौराणिक पोल-प्रकाश'** नामक ग्रन्थ में दिया। यह ग्रन्थ आर्य साहित्य भवन, लाहौर द्वारा दो भागों में प्रकाशित हुआ था। सचमुच इसका जैसा नाम है वैसा ही इसका गुण है। इस ग्रन्थ ने पौराणिक पोल का ऐसा प्रकाश किया है कि पञ्जाब सरकार ने इसे जब्त कर लिया था।"[1] 'पौराणिक पोल प्रकाश' का पुनः प्रकाशन स्वामी जगदीश्वरानन्दजी ने 'भगवती प्रकाशन' द्वारा कर दिया है, जिससे यह स्वाध्यायशील लोगों को उपलब्ध हो गया है।

पं० कालूरामजी शास्त्री ने ही 'वैदिक सत्यार्थप्रकाश' उपनाम **'आर्यसमाज की अन्त्येष्टि'** लिखकर अमरौधा से प्रकाशित किया। "शास्त्रार्थ महारथी गुरुवर्य पं० जे० पी० चौधरीजी काव्यतीर्थ ने भी 'कालूराम का जनाजा' नामक ग्रन्थ में दिया जो धाराप्रवाही 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' मासिक पत्रिका वाराणसी में प्रकाशित होता रहा पर पूरा प्रकाशित नहीं हुआ। पं० जी परलोकवासी भी हो गये।

1. डॉ० शिवपूजन सिंह कुशवाह का लेख परोपकारी मई 1977 ई०

अब उनके एकमात्र सुपुत्र बाबू कुबेरसिंह जो हैं। उनके पास पाण्डुलिपि है। उनका पता चौधरी एण्ड सन्स पुस्तक प्रकाशक व विक्रेता बुलानाला, वाराणसी है।"[1]

सत्यार्थप्रकाश के खण्डन की आँधी में कुछ और भी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। पं० अखिलानन्द शर्मा कविरत्न ने 'सत्यार्थप्रकाशालोचन' और 'वैदिक सत्यार्थप्रकाश' दो पुस्तकें लिखीं। मुँशी जगन्नाथ दास मुरादाबाद ने 'सत्यार्थप्रकाश की समीक्षा' नामक पुस्तक लिखी। पं० कालूराम शास्त्री ने भास्कर प्रकाश के उत्तर में धर्म प्रकाश लिखा जिसमें प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ समुल्लासों से सम्बन्धित आलोचनाएँ हैं।

श्री अजीत कुमार जैन ने '**सत्यार्थ दर्पण**' नामक पुस्तक में द्वादश समुल्लास की आलोचना की है। इसका उत्तर श्री शिवपूजन सिंह कुशवाहा एम० ए०, साहित्यालंकार ने लिखा है, जो अभी तक अप्रकाशित है।

ज्ञानी दित्त सिंह ने सिखमत के दृष्टिकोण से सत्यार्थप्रकाश की आलोचना लिखी। पादरी जे० एल० ठाकुरदास ने तेरहवें समुल्लास के उत्तर में आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। मौलवी सनाउल्ला ने चौदहवें समुल्लास के उत्तर में '**हरप्रकाश**' नामक पुस्तक लिखी। सनाउल्ला की आक्षेपात्मक पुस्तक का उत्तर स्वामी दर्शनानन्दजी ने '**तकजीबे हक प्रकाश**' शीर्षक से दिया था।

सत्यार्थप्रकाश से सम्बन्धित भाष्य, व्याख्या, टिप्पणियाँ, खण्डन-मण्डन-साहित्य का आकलन करने पर कई सहस्र पृष्ठों का वाङ्मय बन जाता है। किसी ग्रन्थ से सम्बन्धित इतना विशाल साहित्य भी उस ग्रन्थ की विशेषताओं में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

खण्डन-मण्डन साहित्य पर विचार करते हुए एक और तथ्य हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। आर्यसमाज के इतिहास भाग 5 अध्याय 2 के

1. डॉ० शिवपूजन सिंह कुशवाह का लेख परोपकारी मई० 1977 ई०

लेखक डा० भवानीलाल भारतीयजी का अभिमत सार्वांशतः स्वीकरणीय है । डा० भारतीयजी लिखते हैं ।[1]

"एक अन्य बात भी विचारणीय है । जिन सम्प्रदायों के मन्तव्यों और सिद्धान्तों का सत्यार्थप्रकाश में सतर्क खण्डन किया गया है, उन मतों के आचार्यों तथा प्रवक्ताओं को इस ग्रन्थ में की गई आलोचना के आलोक में स्वमतों की दुर्बलताओं तथा त्रुटियों की ओर दृष्टिपात करने, परखने तथा सुधारने का अवसर भी मिला । यही कारण है कि सत्यार्थ-प्रकाशकृत आलोचना से ही प्रभावित होकर पुराणों के विभिन्न कथानकों और आख्यानों की भिन्न प्रकार से व्याख्याएँ की जाने लगी हैं । पुराणों में वर्णित चमत्कारपूर्ण कथाएँ, जो अब तक भावुक भक्तों को उसी रूप में स्वीकार्य थीं । अब युक्ति और तर्क की कसौटी पर कसी जाने लगी हैं । स्वयं इन मतों के अनुयायियों तथा सम्प्रदायाचार्यों ने भी अपने मान्य ग्रन्थों के अर्थ युगानुकूल करने आरम्भ कर दिये हैं । स्वर्ग और नरक की अलौकिक कल्पनाओं, देवता और दानवों के विचित्र कार्यकलापों तथा फरिश्तों और पैगम्बरों के नाम पर प्रचलित विचित्र कथाओं को आज नवीन बौद्धिक अर्थवत्ता प्रदान की जा रही । इसे यदि सत्यार्थप्रकाश का ही प्रभाव कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी ।"

सत्यार्थप्रकाश के काव्यानुवाद

सत्यार्थप्रकाश के भक्त प्रचारक कई प्रकार की प्रचार योजनाएँ बनाते रहते थे । इन योजनाओं में इस युगनिर्माता सुधारक ग्रन्थ के काव्यानुवाद का भी अपना स्थान है । इनमें श्री गदाधर प्रसाद वैद्य कृत **'सत्य सागर'** सत्यार्थप्रकाश का पद्यानुवाद दोहा-चौपाई की शैली पर प्रकाशित हुआ । हिन्दी प्रदेशों में गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरित मानस 'रामा हो रामा' की टेक और तान पर खूब गाया जाता था । उसी बानगी पर यह अनुवाद का प्रयास हुआ था ।

---

1. सत्यकेतु विद्यालकार सम्पादित आर्यसमाज का इतिहास भाग-5, पृ० 57; लेखक डा० भवानीलाल भारतीय ।

श्री रामलाल अग्निहोत्री ने प्रथम समुल्लास का पद्यानुवाद किया था। सत्यार्थप्रकाश कवितामृत श्री जयगोपालजी का और प्रथम समुल्लास का लावणी काव्य महाशय मथुरादास कृत उल्लेखनीय हैं।

सत्यार्थप्रकाश की महिमा और गौरव पर भी काव्यात्मक प्रयास हुए हैं। श्री रामप्रसाद वानप्रस्थी ने 'सत्यार्थप्रकाश महिमा' तथा श्री शीतल चन्द्र शर्मा शीतल ने 'सत्याप्रकाक्ष गौरव गान' का निर्माण किया। मनोहर सिंह आर्य भजनोपदेशक ने 'सत्यार्थप्रकाश पुष्पाञ्जली' लिखी।

भक्तों के हृदय में काव्यरस का उद्भव स्वान्तः करण की प्रेरणा से होता रहता है। सत्यार्थप्रकाश के भक्त भी इसके अपवाद नहीं हो सकते थे।

सत्यार्थप्रकाश के विशिष्ट संस्करण

सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्दजी का कालजयी सार्वजनीन ग्रन्थ है। इसका अध्ययन करने वाले को जहाँ बौद्धिक क्षमता, शास्त्रीय ज्ञान, सत्य के प्रति आग्रह की भावना, तर्क और चिन्तन की विलक्षण पद्धति आदि गुणों का वरदान मिलता है, वहीं ग्रन्थ के प्रति, स्वाभाविकतया ही, श्रद्धा-भक्ति भी बढ़ जाती है। अतः जिन लोगों को इस ग्रन्थ का विद्या-प्रसाद मिला है, जिनके जीवन-निर्माण में इससे अतुलनीय सहयोग मिला है, उनकी सहज चेष्टा रही है कि यह अद्भुत ग्रन्थ दूसरों के हाथों में भी पहुँचे। विद्वानों ने इस ग्रन्थ को सबके लिए सुबोध बनाने की चेष्टा में ग्रन्थ पर सहस्रों-सहस्र टिप्पणियाँ लिखीं। कई समुल्लासों पर भाष्य भी लिखे गये, अनेक अन्य समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे गये।

सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशकों ने भी अपने-अपने ढंग से सत्यार्थप्रकाश को साधारण जनता के हाथों में पहुँचाने के लिये यथाशक्ति प्रयास किया। कई संस्करणों की कथा का उल्लेख करना हम आवश्यक समझ रहे हैं।

I. गोविन्दराम हासानन्द का सस्ता संस्करण :

स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों का प्रकाशन, प्रचार, प्रसार आदि का भार

अपनी उत्तराधिकारिणी सभा श्रीमती परोपकारिणी सभा को सौंपा था। अतः ऋषि-ग्रन्थों के प्रकाशन का अधिकार परोपकारिणी सभा को ही था। स्वामीजी के देहान्त के पश्चात् जब प्रकाशन के अधिकार की अवधि समाप्त होने लगी तो अन्य प्रकाशकों ने सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न संस्करण निकाले। ऐसा एक आरम्भिक प्रयास कलकत्ता से श्री गोविन्दरामजी ने किया था। इस संस्करण की कथा आर्यसमाज कलकत्ता के इतिहास में निम्न प्रकार से अंकित है।[1]

"सन् 1925 ई० में मथुरा में श्रीमद्दयानन्द जन्म-शताब्दी महोत्सव मनाया जाने वाला था। आर्यजगत् के इतिहास में वह त्याग, बलिदान और उल्लास का युग था। उमंग और उत्साह से आर्य जनता झूम उठी थी। श्री गोविन्दरामजी उस समय आर्यसमाज कलकत्ता के पुस्तकाध्यक्ष थे और बिक्री विभाग के भी यही अध्यक्ष थे। इनके मस्तिष्क में महर्षि के प्रति एक दीवानापन समा गया था। ऋषि के अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' का एक सस्ता-सुन्दर संस्करण प्रकाशित करने के लिए ये ललक उठे। उस समय वैदिक यन्त्रालय ने सत्यार्थप्रकाश का मूल्य एक रुपया से बढ़ाकर ढ़ाई रुपये करने की घोषणा कर दी थी। उससे गोविन्दरामजी को और भी ठेस लगी। इन्होंने कलकत्ता में प्रकाशन की व्यवस्था पर विचार किया और इनके अनुमान से सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन व्यय बारह आने प्रति पुस्तक पड़ता था। अतः एक रुपया प्रति बेंचने में हानि की सम्भावना न थी। स्वामी श्रद्धानन्दजी की प्रेरणा से और उनके परामर्श से गोविन्दरामजी ने 6 हज़ार प्रतियाँ सत्यार्थप्रकाश की छपवा दीं और लागत मूल्य एक रुपया में बेच दिया। तीन महीने के स्वल्प काल में 6 हजार प्रतियों का बिकना एक परम उत्साह की बात थी। गोविन्द रामजी और उनकी कार्यस्थली आर्यसमाज कलकत्ता, सत्यार्थप्रकाश के प्रचार के इतिहास में इस दृष्टि से उस समय एक प्रचारात्मक भूमिका निभाते दिखाई पड़ रहे हैं। वैदिक यन्त्रालय ने भी सत्यार्थप्रकाश का

1. उमाकान्त उपाध्याय, आर्यसमाज कलकत्ता का इतिहास, पृ० 269

मूल्य एक रुपया कर दिया और फिर तो सस्ते संस्करणों की ऐसी बाढ़ आयी कि सम्भवतः चार आने प्रति के मूल्य में भी सत्यार्थप्रकाश का एक संस्करण निकला था। इन कार्यों के पीछे श्री गोविन्दरामजी और कलकत्ता आर्यसमाज की अपनी भूमिका अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है।"

इस संस्करण के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय श्री युधिष्ठिरजी मीमांसक ने लिखा हैं—कि इस संस्करण के सम्पादक पण्डित जयदेवजी विद्यालंकार थे। उन्होंने कई पाठों का सशोधन किया है। पुस्तक के आदि में विस्तृत विषय-सूची और अन्त में प्रमाण सूची दी गई है। उन आरम्भिक दिनों में ये दोनों कार्य अत्यन्त उपयोगी थे। परवर्ती संस्करणों में इन्हें निकाल दिया गया, यह अच्छा न हुआ।

इसी संस्करण का सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान् श्री पण्डित भगवतदत्तजी ने संवत् 2019 वि० में किया। कुछ पाठों का शोधन, त्रुटित पाठों को कोष्ठक देकर बढ़ाना तथा अनेक स्थानों पर उपयोगी टिप्पणियों का समावेश करना मुख्य विशेषताएँ हैं।

II. स्वामी वेदानन्दजी का स्थूलाक्षरी संस्करण :

स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ ने संवत् 2013 वि० में सत्यार्थप्रकाश का एक संस्करण मोटे अक्षरों में प्रकाशित किया। इस संस्करण में स्थूलाक्षर होने के कारण ग्रन्थ का आकार प्रकार बहुत भारी हो गया है, किन्तु स्थूलाक्षर की अपनी भी विशेषताएँ हैं। आँखों पर बल कम पड़ता है, वृद्धों के लिये ऐसे संस्करणों का अपना अलग ही महत्त्व है। इस संस्करण की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

(1) स्वामीजी की संक्षिप्त जीवनी :—स्वामी वेदानन्द अपने को 'दयानन्द तीर्थ' भी लिखते थे। उन्होंने स्वामीजी की सुललित जीवनी ग्रन्थ के आरम्भ में देना चाहा था, किन्तु यह जीवनी पूरी न हो सकी और स्वामी वेदानन्दजी का देहान्त हो गया।

(2) विभिन्न मतों पर ग्रन्थ का प्रभाव : स्वामी वेदानन्दजी का अध्ययन बड़ा विशाल था। सत्यार्थप्रकाश द्वारा अन्य मत-सम्प्रदायों की समीक्षा के फलस्वरूप उन-उन मतवादियों ने बहुत्र अपनी व्याख्याएँ बदल ली हैं। स्वामी वेदानन्दजी ने अपने संस्करण में यह बड़ा उपयोगी कार्य कर दिया था। इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण में प्रकाशकों ने इस अंश को निकाल कर इसे अलग से छपवा दिया है और प्रसिद्ध विद्वान् पं० उदयवीरजी शस्त्री की भूमिका बढ़ा दी है। इस अंश को ग्रन्थ के साथ छापते रहने से ग्रन्थ का गौरव बढ़ता ही।

(3) व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ : स्वामी वेदानन्द जी ने हज़ारों पाद टिप्पणियाँ दी हैं, जो बहुत उपयोगी हैं। सत्यार्थ-प्रकाश के श्रेष्ठ सम्पादक म० म० पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक अपने संस्करण के सम्पादकीय में लिखते हैं "ऋषि के लेख की पुष्टि में तथा अन्य तत्सम्बन्धी उचित जानकारी के लिये नीचे जो सहस्रों टिप्पणियाँ दी हैं, वह बहुत उपयोगी कार्य हुआ। यदि यह कहा जाय कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य को उनके सदृश बहुश्रुत विद्वान् एवं ऋषिभक्तिलीन-मानस व्यक्ति ही कर सकता था, तो अत्युक्ति न होगी।"[1]

पुन: पृ: 306

(4) पाठ परिवर्त्तन : स्वामी वेदानन्दजी ने सत्यार्थ-प्रकाश के पाठ में संशोधन के नाम पर अधिक स्वतन्त्रता का प्रयोग किया है। यह कई जगहों पर इसलिये और भी चिन्त्य हो गया है कि ऐसे परिवर्तनों का निर्देश स्वामी वेदानन्दजी ने नहीं किया है।

(5) विषय सूची और उद्धरण सूची : स्वामी वेदानन्दजी ने ग्रन्थ के अन्त में विस्तृत विषय-सूची और उद्धरण-सूची दी है। इन सूचियों के कारण इस संस्करण की उपयोगिता निश्चय ही बढ़ गयी है।

III. सिद्धान्तीजी का स्थूलाक्षर संस्करण :

पं० श्री जगदेव सिंह शास्त्री सिद्धान्ती ने एक अन्य संस्करण स्थूला-

---

4. सम्पादकीय वक्तव्य पृ० 20

क्षरों में प्रकाशित किया है। इस संस्करण में भी कई उपयोगी टिप्पणियाँ हैं जो संख्या में कम होने पर भी गुणग्राहकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

IV श्री मीमांसकजी का संस्करण :

म० म० पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने संवत् 2029 वि० में सत्यार्थ-प्रकाश का सम्पादन किया और रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत द्वारा इसे प्रकाशित किया। सं० 2032 वि० में आर्यसमाज स्थापना शताब्दी के अवसर पर इसका शताब्दी संस्करण प्रकाशित हुआ। श्री मीमांसकजी के संस्करण की अनेक विशेषताएँ हैं। "सत्यार्थ प्रकाश के पाठालोचन, पाठ-निर्धारण तथा इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाकर प्रकाशित करने का श्रेय स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के सुधी अध्येता पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक को है।"[1]

श्री मीमांसकजी के संस्करण की कई विशेषताएँ हैं। इनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं :

(1) विभिन्न संस्करणों की तुलनात्मक समीक्षा : अपने संस्करण के सम्पादकीय में श्री मीमांसकजी ने सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न सम्पादकों और संस्करणों की तुलनात्मक समीक्षा की है। गम्भीर अध्येताओं और परवर्ती सम्पादकों एवं प्रकाशकों के लिये यह बड़ा उपयोगी कार्य हुआ है।

(2) ग्रन्थ का ऐतिहासिक विवरण : श्री मीमांसक जी ने सत्यार्थप्रकाश का ऐतिहासिक विवरण लिखकर सत्यार्थ प्रकाश सम्बन्धी कई ऐतिहासिक प्रश्नों का निराकरण किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी बड़ा उपयोगी कार्य हुआ है।

(3) शुद्ध प्रामाणिक संस्करण : मीमांसकजी ने अपने विशाल अध्ययन, ऋषिभक्ति एवं सम्पादन-कला-प्रवणता का भरपूर जहाँ उपयोग करके इस संस्करण को शुद्ध, प्रामाणिक संस्करण बनाया

---

1. आर्यसमाज का इतिहास भाग 5 पृ०, 55।

है, वहीं उन्होंने संशोधन किया है, उसकी उचित टिप्पणियाँ भी दे दी हैं।

(4) **उपयोगी परिशिष्ट** : श्री युधिष्ठिर मीमांसकजी ने निम्नलिखित उपयोगी परिशिष्ट दिये हैं :

(1) संशोधन परिवर्त्तन परिवर्द्धन।

(2) चतुर्दश समुल्लास में उद्धृत कुरान की आयतों के भाषानुवाद के सम्बन्ध में।

(3) सत्यार्थ प्रकाश में व्याख्यात 108 ईश्वर नामों की वर्णानुक्रम से सूची।

(4) पठन पाठन में ग्राह्य तथा त्याज्य ग्रन्थ।

(5) सत्यार्थ प्रकाश में व्याख्यात पारिभाषिक वा विशिष्ट शब्दों की सूची तथा न्याय सुभाषित मुहावरे।

(6) सत्यार्थ प्रकाश में उद्धृत वा स्मृत ग्रन्थों की सूची।

(7) स० प्र० की टिप्पणियों में उद्धृत वा स्मृत ग्रन्थ-सूची।

(8) स० प्र० की टिप्पणियों में उद्धृत व्यक्ति वा स्मृत ग्रन्थ-सूची।

(9) स० प्र० में निर्दिष्ट व्यक्ति वा स्थानादि की नाम-सूची।

(10) सत्यार्थ प्रकाश में उद्धृत प्रमाणों की सूची।

(11) स० प्र० की टिप्पणियों में उद्धृत प्रमाणों की सूची।

(12) प्रमुख विषयों के विभागानुसार स० प्र० में वर्णित विषयों की सूची।

(13) स० प्र० प्रथम संस्करण (संवत् 1931) के कतिपय विशिष्ट स्थल।

(5) **पाद टिप्पणियाँ** : श्री मीमांसकजी ने सत्यार्थ प्रकाश जैसे विद्वतापूर्ण ग्रन्थ पर 3200 के लगभग पाद-टिप्पणियाँ दी हैं।[1] इन

1. आर्यसमाज का इतिहास भाग-5 पृ० 56

टिप्पणियों के कारण सत्यार्थप्रकाश जैसे विद्या परिपूर्ण ग्रन्थ को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

V. परोपकारिणी का ग्रन्थमाला-संस्करण :

परोपकारिणी सभा ने ऋषि की जन्म शताब्दी सन् 1925 ई० पर दयानन्द ग्रन्थमाला दो भागों में प्रकाशित की थी। इसमें सत्यार्थ-प्रकाश भी छपा था। इसमें स्वामी श्रद्धानन्दजी ने स्वामी दयानन्दजी की जीवनी लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्द की लेखनी से ऋषि की जीवनी अपने में एक अलग विशेषता है।

VI. आर्ष साहित्य प्रचार संस्करण :

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली के संस्थापक श्री दीपचन्दजी आर्य स्वामी दयानन्द के बड़े भक्त थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द के साहित्य को सस्ता व सुलभ बनाने की दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट ने सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन कई आकारों में किया है। आर्ष साहित्य प्रचार संस्करण के सम्पादक पं० सुदर्शन देव शास्त्री हैं। प्रकाशक की यह मान्यता है कि सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संस्करण ही स्वामी दयानन्द द्वारा मान्यता प्राप्त संस्करण है। इसी संस्करण को जैसे का तैसा छपना चाहिये।

इस सम्बन्ध में हम आर्यसमाज का इतिहास भाग 5 के लेखक डॉ० भवानीलाल जी भारतीय से सर्वथा सहमत हैं—"द्वितीय संस्करण की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस संस्करण में भी जो मुद्रण जन्य दोष रह गये थे तथा प्रमाणों के पते देने में जो भूलें हो गई थीं, जबतक उन्हें ठीक नहीं कर लिया जाय, तबतक द्वितीय संस्करण को यथावत् छापने का क्या औचित्य हो सकता है?"[1]

---

1. आर्यसमाज का इतिहास भाग 5 पृ० 55

VII. हरयाणा-साहित्य-संस्थान का ताम्रपत्रानुसारी संस्करण :

इस संस्करण की कथा अन्य प्रकार की है। यह भी स्थूलाक्षरी संस्करण है। स्वामी ओमानन्दजी सरस्वती (आचार्य भगवान् देवजी) ने सत्यार्थ प्रकाश को चिरस्थायी रखने के विचार से इसे ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराया। इस उत्कीर्ण ग्रन्थ के अनुसार उसके एक पन्ने को एक पृष्ठ का रूप देकर तदनुसारी संस्करण स्वामी दयानन्दजी की निर्वाण शताब्दी सं० 2040 वि० में प्रकाशित किया। इस संस्करण में विषय-सूची के 2 पृष्ठ, भूमिका के 5 पृ० और ग्रन्थ के 425 पृष्ठ हैं। इस संस्करण में प्रत्येक पृष्ठ पर ऊपर कोठा बनाकर सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ का नाम, ग्रन्थकार महर्षि दयानन्द सरस्वती का नाम, उनका जन्म संवत्, बलिदान संवत्, सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ की रचना का संवत्, समुल्लास की संख्या और पृष्ठ संख्या मुद्रित है। पृष्ठ के नीचे कोठा बनाकर ताम्रपत्र उत्कीर्ण करानेवाले दान दाता का नाम, स्थान औरउत्कीर्ण कराने का संवत् मुद्रित है। उदारणार्थ पृ० 304 पर ऊपर की ओर मुद्रित है :

"महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा विरचित सत्यार्थ प्रकाश द्वादश समुल्लास पृष्ठ 304, जन्म टंकारा 1881 वि० सं०, बलिदान अजमेर 1940 वि० सं० ग्रन्थ रचना 1931।"

नीचे भी कोठा बनाकर मुद्रित है।

"श्री लालमणिजी आर्य, जन सेवासंस्थान, हिसार (हरयाणा) के पवित्रदान से उत्कीर्ण 2040 विक्रम सम्वत्।"

इस संस्करण के सम्पादक श्री विरजानन्द दैवकरणि और सह-सम्पादक श्री यशपाल शास्त्री हैं।

सत्यार्थप्रकाश के हिन्दी काव्यानुवाद

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
1.	पद्यात्मक सत्यार्थप्रकाश		हजारीलाल शर्मा, शाहाबाद	1972 वि०
	(प्रथम समुल्लास)	रामलाल अग्निहोत्री	आर्य ग्रन्थमाला-1	1915 ई०
2.	सत्यसागर		आर्ष आदर्श ग्रन्थमाला, लखनऊ	1990 वि०
	(कथात्मक पद्यानुवाद)	गदाधर प्रसाद वैद्य (इष्ट)		(चतुर्थ संस्करण)
3.	सत्यार्थप्रकाश कवितामृत	जयगोपाल	सं० रामगोपाल शास्त्री	2003 वि०
4	प्रथम समुल्लास का लावणी काव्य	महाशय मथुरादास		
	(आ० स० इतिहास भाग-5 पृ० 66)			

सत्यार्थप्रकाश विषयक हिन्दी काव्य ग्रन्थ

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
1.	सत्यार्थप्रकाश महिमा	रामप्रसाद वानप्रस्थी		
2.	सत्यार्थप्रकाश गौरवगान	शीतलचन्द्र शर्मा 'शीतल'		
3,	सत्यार्थप्रकाश पुष्पाञ्जली	मोहरसिंह आर्य भजनोपदेशक		

सत्यार्थप्रकाश विषयक व्याख्या-ग्रन्थ

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
1.	सत्यार्थप्रकाश भाष्य (प्रथम समुल्लास)	वाचस्पति, आर्यप्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, लाहौर	आर्य साहित्य विभाग ग्रन्थमाला-8	1991 वि०
2.	सत्यार्थप्रकाश भाष्य (द्वितीय समु०)	वाचस्पति, आर्यप्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, लाहौर	आर्य साहित्य विभाग ग्रन्थमाला-14	1992 वि०
3.	सत्यार्थप्रकाश भाष्य (तृतीय समुल्लास)	शिवपूजन सिंह कुशवाहा	रुद्र ग्रन्थमाला-17	1955 ई०
4.	अष्टोत्तर शतनाम मालिका	विद्यासागर शास्त्री	प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर मामराज सिंह ग्रन्थमाला-3	1963 ई०
5	सत्यार्थप्रकाश चतुर्दश समुल्लास में उद्धृत कुर्आन की आयतों का देवनागरी में उल्था और अनुवाद	रामचन्द्र देहलवी	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली	1943 ई०

6.	सत्यार्थप्रकाश ग्यारहवाँ समुल्लास 'ज्ञानदर्शक'	डा० भवानीलाल भारतीय	दयानन्द संस्थान, दिल्ली	1977 ई०
7.	सत्यार्थप्रकाश कोष	शेरसिंह (सूरजनगर निवासी)	आर्यमित्र यन्त्रालय, मुरादाबाद	1901 ई०
8.	सत्यार्थप्रकाश का आधुनिक हिन्दी अनुवाद (प्रथम समु०)	भूदेव शास्त्री	आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर	1974 ई०
9.	ज्ञान दर्शक (11वें समु० की व्याख्या)	डा० भवानीलाल भारतीय	दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली	1977 ई०
10	महर्षि दयानन्द की तालीम (2, 3 समु० की उर्दू टीका)	राय ठाकुरदत्त धवन	आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब	1903 ई०

सत्यार्थप्रकाश विषयक आलोचनात्मक साहित्य

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
1.	भास्कर प्रकाश	तुलसीराम स्वामी	स्वामी प्रेस, मेरठ	1956 वि०
2.	दिवाकर प्रकाश	तुलसीराम स्वामी	स्वामी प्रेस, मेरठ	1972 वि०
3.	आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के सिद्धान्त	मुंशीराम जिज्ञासु	श्रद्धाञ्जलि ग्रन्थ-1	
4.	,,	,,	वेदवाणी विशेषांक	
5.	सत्यार्थप्रकाश की व्यापकता	महेशप्रसाद मौलवी	आलिम फाजिल बुक डिपो, इलाहाबाद	
6.	सत्यार्थप्रकाश विषयक भ्रम	महेशप्रसाद मौलवी	आलिम फाजिल बुक डिपो, इलाहाबाद	
7.	सत्यार्थप्रकाश पर विचार	महेशप्रसाद मौलवी	आलिम फाजिल बुक डिपो, इलाहाबाद	
8.	अमर सत्यार्थप्रकाश	महेशप्रसाद मौलवी	,, ,, ,,	
9.	सत्यार्थप्रकाश और उसकी रक्षा	सुधाकर	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली	1945 ई०

10	सत्यार्थप्रकाश की सार्वभौमता	धर्मदेव विद्यावाचस्पति	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली	
11.	सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव	वेदानन्द तीर्थ	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद	2016 वि० (1959 ई०)
12.	सत्यार्थप्रकाश की रक्षा का प्रयोजन	वेदानन्द तीर्थ	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद	
13.	सत्यार्थप्रकाश आन्दोलन का इतिहास	हितैषी अलावलपुरी	प्रकाश पुस्तकालय. दिल्ली	1946 ई०
14.	महर्षि दयानन्द और 14वाँ समुल्लास	पं० नरेन्द्र	आर्यसमाज सुलतान बाजार, हैदराबाद	2002 वि०
15.	सत्यार्थप्रकाश शंका-समाधान	पं० तुलसीराम स्वामी के भास्कर प्रकाश के आधार पर	गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली	2007 वि०

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
16	सत्यार्थप्रकाश का विरोध क्यों ?	कृष्णदत्त	आर्य प्रतिनिधि सभा, हैदराबाद	
17.	सत्यार्थप्रकाश का चमत्कार	रामदुलारेलाल चतुर्वेदी	आर्यसमाज चावड़ी बाजार, दिल्ली	1930 ई०
18.	सत्यार्थप्रकाश प्रश्नोत्तरी	मेहर सिंह		
19.	सत्यार्थप्रकाश की भूमिका	डा० जनार्दन प्रसाद सिन्हा	आर्य संस्थान, पटना-1	1975 ई०
20,	सत्यार्थप्रकाश एक मूल्याङ्कन	विनयकुमार पाठक	भारतवर्षीय वैदिक सिद्धान्त परिषद्, अलीगढ़	1969 ई०
21	आर्योदय के सत्यार्थप्रकाश विशेषांक पर समालोचना	सत्यपाल शास्त्री	आर्यसमाज करोलबाग, नई दिल्ली	1963 ई०
22.	सत्यार्थ विवेक निरीक्षणम्	सत्यव्रत शर्मा	सरस्वती यन्त्रालय, इटावा	1901 ई०

23	सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा	राजेन्द्रनाथ शास्त्री	आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली	1966 ई०
24.	सत्यार्थप्रकाश दार्शनिक विचार	भानुचरण आर्षेय	आर्ष ग्रन्थ प्रकाशन मण्डल काशी	

उर्दू ग्रन्थ :

1.	चौदहवीं का चाँद	पं० चमूपति	सन्नाउल्लाह के हकप्रकाश का उत्तर	
2.	गुमराही के समुद्र में रास्ती की किस्ती	पं० मनसाराम	'वैदिक तोप'	
3.	यथार्थ प्रकाश की हकीकत	यथार्थ प्रकाश का उत्तर	आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब, लाहौर	

सत्यार्थप्रकाश विषयक आलोचनात्मक अंग्रेजी ग्रन्थ

	पुस्तक का नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
1.	The Immortal Satyarth Prakash	Mahesh Prasad	Alim Fazil Book depot, Allahabad	1943
2	In defence of Satyartha Prakash	M. Sudhakar	Sarvedeshik Arya Pratinidhi Sabha, Delhi	1945
3.	The Sind Ban on Satyartha Prakash	C. Parameswaran	,,	,,
4.	The Leage assaults on Satyartha Prakash	C. Parameswaran	Lahore	
5.	Universality of Satyartha Prakash	Dharm Dev Vidya Vachaspati		

पुनः सूची

सत्यार्थप्रकाश पर विपक्ष के खण्डनात्मक ग्रन्थ

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
1.	सत्यार्थ विवेक	साधुसिंह		
2.	दयानन्द तिमिर भास्कर	ज्वाला प्रसाद मिश्र	क्षेमराज श्रीकृष्ण दास, बम्बई	
3.	धर्म दिवाकर	बलदेव प्रसाद मिश्र	(भास्कर प्रकाश का खण्डन)	
4.	भास्कराभास निवारण	लाला भवानी प्रसाद	ब्रह्म प्रेस, इटावा	
5.	सत्यार्थप्रकाश समीक्षा	लाला जगन्नाथ दास	ब्रह्म प्रेस, इटावा	
6.	सत्यार्थप्रकाशालोचन	अखिलानन्द शर्मा	अनूपशहर	
7.	सत्यार्थप्रकाश की छीछालेदर	कालूराम शास्त्री	अमरौंधा (कानपुर)	
8.	दयानन्द मत विद्रावण	भवानी प्रसाद	तन्त्र भास्कर प्रेस, मुरादाबाद	1900 ई०
9.	दयानन्द मत विद्रावण	भवानी प्रसाद	ब्रह्मदेव शर्मा, इटावा	1914 ई० III Ed,

	पुस्तक नाम	सम्पादक	प्रकाशक, विशेष	प्रकाशन काल
10.	महताब दिवाकर	यमुनादास शाण्डिल्य	क्षेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई	1895 ई०
11.	यथार्थ प्रकाश (3 भाग)	आनन्दस्वरूप (साहबजी महाराज)		
12.	सत्यार्थ दर्पण	अजितकुमार शास्त्री	चम्पावती जैन पुस्तक माला	
13.	सत्यार्थप्रकाश दर्पण उर्दू)	पादरी जे० एल० ठाकुर दास	नौलखा बाजार, लाहौर	
14.	हक प्रकाश	मौ० सनाउल्लाह अमृतसरी		
15.	सत्यार्थप्रकाश एजीटेशन पर तबसरा		कादियाँ (पंजाब) से प्रकाशित	
16.	A Refutation of the Satyartha Prakash of Pt. Dayanand Saraswati Part-I	Gulam Mahamad (Hazi Hanif Sadiq)	Surat (गुजराती से अनूदित)	1910

सत्यार्थप्रकाश के वाङ्मय का आकलन बहुत विस्तृत जानकारी की आकांक्षा रखता है। हमने डॉ० भवानीलाल भारतीय, डॉ० शिवपूजन सिंह कुशवाहा और प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु के लेखों से विशेष सहयोग लिया है। उनकी सूचनाओं के लिए हम उनके आभारी हैं।

सप्तम अध्याय

सत्यार्थ प्रकाश की खण्डन-पद्धति

स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश को चौदह समुल्लासों में लिखा है। इनमें प्रथम दश समुल्लास मण्डनात्मक, मानव-मन्तव्य निर्देशक हैं। इन्हें स्वामीजी ने पूर्वार्द्ध के रूप में लिखा है। उत्तरार्द्ध के चार समुल्लास विशेष रूप से मानव-अमन्तव्य की व्याख्या करते हैं। स्वाभाविक ही उत्तरार्द्ध के चार समुल्लास समालोचनात्मक, समीक्षात्मक, और खण्डनात्मक हैं। स्वामीजी के खण्डनों पर गहराई से विचार किया जाय तो उनमें हितैषी की खीझ और शुभचिन्तक की फटकार निष्ठुरता एवम् निष्करुणता तक पहुँच गयी है। वस्तुतः खण्डन की उग्र साधना या तो शुभचिन्तन की पराकाष्ठा के रूप में उभरती हैं या फिर रणारूढ़ प्रतिस्पर्द्धा में, चाहे वह बौद्धिक ही हो, प्रस्फुटित होती है। स्वामीजी में एक ओर सुधारक की अन्तर्वेदना, हृदयस्पर्शी स्तर तक पहुँची हुई है, तो दूसरी ओर, प्रतिद्विन्द्वियों के सम्मुख उनका रणारूढ़ रूप दर्प के स्तर तक चमक उठा है। वस्तुतः सत्य के सिपाही में मानवहित तो होता ही है, असत्य के विरुद्ध उसे मोर्चा भी लेना पड़ता है। प्रथम के दश समुल्लासों में खण्डन का अंश पर्याप्त कम है, क्योंकि सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध मन्तव्य विधायक है। इनमें समालोचना की बात, प्रसंगानुपात से, कहीं-कहीं ही आती है। उत्तरार्द्ध के चार समुल्लास अमन्तव्य निर्देशक हैं, अतः समालोचना का अंश उनमें अधिक है। एकादश समुल्लास वेदमूल के भारतीय मतों की समालोचना है। इसमें स्वामीजी ने वेद को प्रमाण मानकर, तर्क और इतिहास के सहारे समीक्षा की है। बौद्ध, जैन, ईसाई और मुसलमान वेदों

को प्रमाण नहीं मानते, अतः इन मतों की समीक्षा में तर्क ऐतिह्य और सृष्टि-विद्या का आधार लेकर समीक्षा की गई है ।

स्वामीजी की समीक्षा-पद्धति के कुछ अति सुस्पष्ट आधार हैं :

(1) सत्य और मनुष्य-धर्म पर आस्था :

सत्य के प्रति आस्था स्वामी दयानन्दजी का जन्मजात गुण है। स्वामीजी के जीवन को गहराई से परखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी किसी भी परिस्थिति में सत्य के साथ समझौता करने को तैयार न थे। शिवरात्रि व्रत के अवसर पर पिता के सहज-नेह और अनुशासन के विरुद्ध वे विद्रोही तो हो उठे, किन्तु सत्य को न छोड़ा। जीवन में एकाधिक बार लाखों की सम्पत्ति, मठाधीश बनने का प्रलोभन, राजा-महाराजाओं द्वारा समर्पित सम्मान, उन्होंने सब कुछ त्यागा, किन्तु हजार कष्ट सह कर, गालियाँ, अपमान सहकर, ज़हर खाकर भी स्वामीजी ने सत्य को न छोड़ा। अतः सत्य-अर्थ का प्रकाश, सत्य का समर्थन स्वामीजी के सिद्धान्त और मन्तव्य में नींव के उस पत्थर की तरह हैं, जिसपर उनके मन्तव्यों और मानव-धर्म का विशाल भवन खड़ा है। इस समबन्ध में स्वामीजी के शब्द कितने मार्मिक हैं, यह द्रष्टव्य है :

> "मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य, और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।"[1]

पक्षपाती मनुष्य अपने असत्य को भी सत्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं और यही 'मम सत्यम्' का आग्रह साम्प्रदायिक बैर-भाव को बढ़ावा देता है। स्वामीजी लिखते हैं "जो मनुष्य पक्षपाती होता है,

---

1. स० प्र० भूमिका पृष्ठ 5

वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मतवाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता।"[1]

स्वामीजी मनुष्य की सत्य के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति को स्वीकार करते थे। उन्होंने लिखा है :

> "मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य को जाननेवाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।"[2]

स्वामीजी आगे लिखते हैं :

> "इसीलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें। पश्चात् वे स्वयम् अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।"[3]

स्वामीजी की योजना में बौद्धिक स्तर पर भी जोर-ज़बरदस्ती के लिए कोई स्थान नहीं है।

स्वामीजी मानव-धर्म का अति सम्मान करते थे। उनकी दृष्टि में, यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। उन्होंने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' में लिखा है :

> "मनुष्य उसीको कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे, और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं,

---

1. स० प्र० पृ० 5-6
2. वही पृ० 6
3. वही पृ० 6

की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा उन्नति प्रियाचरण, और [अधर्मी] चाहे चक्रवर्ती सनाथ महा बलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहाँतक हो सके वहाँतक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्य रूप धर्म में पृथक् कभी न होवे।"[1]

इसी सत्य और मानव धर्म की रक्षा और उन्नति के लिए स्वामी दयानन्दजी ने आजीवन प्रयास किया। जो सत्य और धर्म की रक्षा करे उसीका प्रचार करना और जो सत्य एवं धर्म के विपरीत हो उसका विरोध हर मूल्य पर करना उसका आदर्श था।

2. **शुभचिन्तन की मार्मिक व्यग्रता**—भारतवर्ष की सर्वतोमुखी अवनति, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक पतन के कारण स्वामीजी अति दुःखी रहा करते थे। चौका-चूल्हा, छुआछूत के कारण देश का सामाजिक अधःपतन हो गया था। स्वामीजी बड़े कटु शब्दों में समालोचना करते हैं :

> "इसी मूढ़ता से उन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते, सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर, हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पका कर खावें। परन्तु ऐसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त्त देश में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है।"

स्वामीजी की दृढ़ धारणा थी कि मूर्त्तिपूजा के कारण, भाग्यवाद, अकर्मण्यता, पुरुषार्थहीनता को बढ़ावा मिला है। स्वामीजी ने सोमनाथ

---
1. स० प्र० पृ० 992

के मन्दिर पर महमूद ग़ज़नवी के निष्ठुर, सर्वनाशी आक्रमण के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त की है :

> "हाय, क्यों पत्थर की पूजा करके सत्यानाश को प्राप्त हुए। देखा, जितनी मूर्त्तियाँ हैं उनके स्थान पर शूर-वीरों की पूजा करते तो देश की कितनी रक्षा होती।"

भाग्यवाद की निष्कर्मण्यता पर निष्करुण फटकार देते हुए स्वामीजी ने लिखा है :

> "उनका पराजय होकर राज्य स्वातन्त्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीनता भटियारी के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रु के वश में होकर अनेक दुःख पाते हैं।"[1]

शुभचिन्तक की फटकार में आत्मीयता के कारण खण्डन में मार्मिकता एवं कुड़्आहट दोनों ही का अति हो जाना भी स्वाभाविक और सहज है।

3 मानव अधिकार के समर्थक :

स्वामी दयानन्द जिस युग में लिख रहे थे, उस युग में आज के युग की तरह मानव-अधिकारों की चर्चा न थी। किन्तु स्वामीजी ने जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की है उनसे मानव अधिकारों को बड़ा बल मिला है। ईश्वर एक है और मनुष्य-मात्र धर्म, जाति, देश, निर्विशेष रूप से उस एक ही परमेश्वर की सन्तान हैं। हिन्दू हों, मुसलमान हों, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव, शिया-सुन्नी, कैथोलिक-प्रोटेस्टेण्ट, यहूदी, हब्शी, सभी उसी परमेश्वर की सन्तान हैं। अतः सबका एक ही ईश्वर, एक ही धर्म और एक ही धर्म-ग्रन्थ होना दार्शनिक बाध्यता है। इस प्रकार (1) एक ही ईश्वर, (2) एक ही धर्म और (3) एक ही धर्मग्रन्थ मनुष्य-मात्र के लिए हैं। अनेक ईश्वर, गॉड, अल्लाह, उनके स्वरूप, निवास, शिक्षाएँ अलग-अलग नहीं हो सकते। अतः परमेश्वर ने सृष्टि की आदि में जो ग्रन्थ, जो धर्म दिया, वही ईश्वरीय है। शेष सब मतान्तरों का अपना साम्प्रदायिक स्वार्थ-साधनों का झमेला है।

---

1. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार कृत आर्यसमाज का इतिहास, भाग 4, पृ० 73

इन दार्शनिक आधार-भूत मान्यताओं का फल यह निकलता है कि सभी धर्मों में एक ही परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट धर्म होगा और एक ही परमेश्वर के उपदेशों से समन्वित धर्मग्रन्थ होगा और सभी व्यक्तियों को उस धर्म को स्वीकार करने और उस धर्मग्रन्थ को अपनाने-पढ़ने का भी अधिकार होगा। यह धर्माधिकार और धर्मग्रन्थ का अधिकार, स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों का आधार स्तम्भ है। स्वामीजी यह मानव-मात्र का अधिकार मानते हैं कि सभी वेद को पढ़ें और वेद-धर्म को स्वीकार करें, क्योंकि, जैसे जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य चन्द्रमा आदि को परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य मात्र के लिए दिया था, उसी प्रकार वेद भी मनुष्य मात्र को दिया था। अतः केवल वेद ही मनुष्य मात्र का धर्मग्रन्थ है। अन्य कुरान या, बाइबल या अन्य ग्रन्थ मनुष्यकृत हैं।

इतिहास का क्रम कुछ ऐसा बना कि इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर स्वामी दयानन्द वेद-धर्म और हिन्दुत्व के रणारूढ़ संन्यासी के रूप जाने गये और उनके अनुगामी आर्य विद्वान्, प्रचारक और नेता, इस रणारूढ़ वाहिनी के सैनिक स्वीकारे गये। किन्तु दार्शनिक भूमिका यह बताती है कि स्वामी दयानन्द एक ही मानव-धर्म और मानव-मात्र के लिए एक ही धर्मग्रन्थ का प्रचार कर रहे थे। इसीलिए जब उन्होंने मनुष्य-मात्र को वेद पढ़ने के अधिकार का समर्थन किया तब उनसे एक प्रश्न किया गया कि क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ सकते हैं—"स्त्री-शूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः अर्थात् यह श्रुति है कि स्त्री और शूद्र न पढ़ें।"

इस प्रश्न पर स्वामी दयानन्द का मानव-अधिकार समर्थक हृदय तिलमिला उठता है और वेदना की प्रबलता, खण्डन की उग्रता के चरम बिन्दु पर जा पहुँचती है। वे उत्तर देते हैं :

> "सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्य-मात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुँआ में पड़ो, और यह श्रुति तुम्हारी कपोल-कल्पना से हुई है। किसी प्रमाणिक ग्रन्थ की नहीं है। और सब मनुष्य के वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने के अधिकार यजुर्वेद के

छब्बीसवें अध्याय का दूसरा मन्त्र है : **यथेमां वाचं कल्याणीम्** इत्यादि।"[1]

कुरान और बाइबल भी ईश्वरीय उपदेश की इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

4. राष्ट्र-भक्ति और स्वदेशी की भावना : स्वामी दयानन्द धर्माधिकार और वेदाधिकार के ही समर्थक न थे, स्वराज्य, स्वतन्त्रता, स्वदेशी-प्रेम भी उनके खण्डन का आधार है। स्वराज्य की महिमा पर उनका निम्न लेख द्रष्टव्य है :

> "कोई कितना ही करे. परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[2]

यह एक स्वदेशी प्रेम भी ब्राह्म-समाज की समालोचना का एक बल-शाली मुद्दा बना। स्वामीजी लिखते हैं :

> "इन लोगों की स्वदेश-भक्ति न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं। खानपान, विवाह आदि के नियम बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा या पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके बदले पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई भी विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्ती सदा से मूर्ख चले आए हैं। इनकी उन्नति कभी नहीं हुई.........भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न-जल खाया-पिया, अब भी खाते-पीते हैं, अपने

1. स० प्र० पृ० 125
2. स० प्र० पृ० 354

माता-पिता-पितामहादि के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों को एतद् देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंग्लिश भाषा पढ़कर पण्डिताभिमानी होकर झटिति एकमत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और बुद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है ?''[1]

उस समय अंग्रेजी शासन और ईसाई धर्म समानार्थक हो रहे थे। संस्कृत के ग्रन्थों में असम्भव पुराण-कथाएँ अविश्वसनीय रूप से अन्ध विश्वास को बढ़ा रही थीं और सामाजिक और आर्थिक पतन का कारण बन रही थीं। लॉर्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन करते हुए कहा था कि योरोप के पुस्तकालयों में एक आलमारी की एक ताक पर जितना ज्ञान है, उतना सम्पूर्ण संस्कृत और अरबी के वाङ्मय में नहीं है। मैकाले ने असम्भव गप्पों को लक्ष्य करके कहा था कि क्या सार्वजनिक व्यय से हम वह सब कुछ पढ़ायें जिसे सुनकर स्कूल के विद्यार्थी हँस पड़ें या वह इतिहास पढ़ायें जिसमें तीस फीट ऊँचे और 30 हजार वर्ष राज्य करने वाले राजाओं का वर्णन हो या वह भूगोल पढ़ाएँ जिसमें मधु और नवनीत के समुद्रों का उल्लेख हो।[2]

अंग्रेजी की शिक्षा के बढ़ते हुए प्रवाह से शिक्षित व्यक्ति यह कल्पना करने लग गये थे कि हिन्दू धर्म के पुराने देवी-देवता शीघ्र ही समाप्त हो जायेंगे। पत्रों में खुले-आम चर्चा हो रही थी कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से हिन्दूधर्म और संस्कृति का लोप हो जायेगा।[3]

स्वामी दयानन्दजी इन परिस्थितियों की गम्भीरता से पूर्णतः परिचित थे। अतः पुराणों में जहाँ असम्भव, सृष्टि विपरीत आदि बातों का वर्णन है, वहाँ स्वामीजी की समालोचन विद्रोही हो उठती है :

---

3. स० प्र० पृ० 591-92
2, आर्यसमाज का इतिहास, भाग 4, पृ० 84
3. वही पृ० 85

"शोक है कि इन लोगों की रची हुई इस महा असम्भव लीला पर, जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रखा है। भला इन महा झूठ बातों को वे अन्धे पोप और बाहर-भीतर की फूटी आँखोंवाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं, वा अन्य कोई !!! इन भागवतादि पुराणों के बनानेहारे जन्मते ही क्यों न मर गये? क्योंकि इन पोपों से बचते, तो आर्यावर्त देश दुःखों से बच जाता।[1]

यह राष्ट्रभक्ति की भावना स्वदेश, स्वधर्म, स्वइतिहास की भक्ति की भावना भी स्वामीजी के लेखों और उनकी समालोचनाओं में मुख्य रूप से आधारभूत तत्त्व की तरह दृष्टिगोचर होती है।

5. ईसाई-मुसलमानों के तिरस्कार की प्रतिक्रिया :

स्वामीजी की समालोचनाओं में यह भाव भी दिखायी पड़ता है कि वे ईसाई और मुसलमानों द्वारा तिरस्कृत हिन्दुत्व के प्रति पर्याप्त संवेदनशील हो उठे थे। मुसलमानों ने तो लगभग 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पूर्व ही हिन्दू सभ्यता-संस्कृति पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था। यह आक्रमण बड़ा निर्मम, निष्ठुर, कटु और अपमानजनक था।[2]

स्वामीजी के ब्रिटिश राज और ईसाई मिशनरी विरोध के कुछ कारण सुस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। स्वामीजी ने अनुभव किया था—(1) ईसाई मिशनरी बड़े वेग से हिन्दूधर्म पर अति ओछे और कुत्सित आक्षेप कर रहे थे। उन्हें शासकीय सुरक्षा का भरोसा था और हिन्दू असहाय, निरीह और अपमानित बोध कर रहे थे।

(2) अंग्रेजों में, विजेता एवं शासक होने के कारण, जातीय अहंकार और गर्व की भावना बहुत बढ़ गयी थी। वे भारतीयों को असभ्य, जंगली, पशु-तुल्य समझते थे, भारतवर्ष को साँप और सँपेरों का देश कहते थे।

---

1. स० प्र० पृ० 521
2. इस साम्प्रदायिक प्रसंग को हम इसी पुस्तक में प्रशासनिक एवं साम्प्रदायिक आक्रमण शीर्षक से अन्यत्र अध्याय 4 में लिखा है।

यह जातीय अपमान स्वामीजी की सहनशक्ति से परे था। वे अंग्रेजों को उनके अनुरूप उत्तर देने के लिए निर्भयता से प्रस्तुत थे।

6. अंग्रेजी शासन भारतवर्ष का आर्थिक शोषण कर रहा था। स्वामीजी ने 1873 ई० में ही नमक कर का विरोध किया था। नमक कर, पौन-रोटी पर कर और कचहरी में कागजों पर जो कर अंग्रेजों ने लगाया था, इन सबका विरोध स्वामीजी ने किया था।

स्वामीजी ने तेरहवें समुल्लास में बाइबिल की समालोचना करते हुए व्यंग्यपूर्ण रीति से लिखा है :

"अनुमान होता है कि ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो, तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी बनाकर गोरे को छोड़ देते हैं। ऐसा ही ईसा के स्वर्ग का भी न्याय होगा।" पृ० 803

इस समालोचना में बाइबल की आलोचना तो है ही, अंग्रेजी राज की अन्धेरगर्दी का खुल्लमखुल्ला विरोध है। अंग्रेजों की न्यायपालिका की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा रही है। स्वामीजी उसी न्यायपालिका का इस रूप में विरोध कर रहे हैं और ईसाई न्यायाधीशों द्वारा ईसाई अपराधियों को बरी करने की भावना की भर्त्सना कर रहे हैं।

अंग्रेजों द्वारा भारत के शोषण पर स्वामीजी का व्यंग्य कितना तीखा है :

"वाह ! तभी तो ईसाई लोग परदेशियों के माल पर ऐसे झुकते हैं मानों प्यासा जल पर, भूखा धन पर।"

स्वामीजी की समालोचनाओं को देखने पर विद्वानों का ऐसा मत है कि "उनकी ईसाईयत की आलोचना, इस्लाम की आलोचना से कहीं अधिक उग्र एवम् कठोर है। इस कारण स्वामीजी के नवीनतम जीवनी लेखक जे० टी० एफ० जोर्डन्स ने तेरहवें समुल्लास की आलोचना को स्वामीजी के नवीन आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद (Militant nationalism) का प्रदर्शन माना है और यह कहा है कि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि

उनमें यह प्रवृत्ति पञ्जाब में उत्पन्न हुई जहाँ वे ईसाइयों द्वारा प्रचारित साहित्य के घनिष्ठ सम्पर्क में आये।"[1]

स्वामीजी की खण्डन-पद्धति के कई पक्षों पर हमने विचार किया किन्तु उनका मूल उद्देश्य सत्य का प्रचार और असत्य का विरोध करना है। सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में वे लिखते हैं : "सत्योपदेश के बिना, अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।" स्वामीजी चाहते थे कि विद्वान् लोग "पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र-सिद्धान्त अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से बरतें, बरतावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे।"[2]

अतः स्वामीजी की खण्डन-पद्धति सत्य, न्याय, सृष्टिक्रम के इतिहास एवम् राष्ट्रीय सम्मान की भावना पर आधारित है।

स्वामीजी की समालोचनाओं में तीव्रता है, शुभचिन्तक की खीझ और प्रतिद्वन्द्वी का दर्प भी है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी समालोचनाओं में शिष्टता, सभ्यता, शालीनता या मर्यादा का ध्यान नहीं रखा गया है। स्वामीजी ने कहीं भी शिष्ट-सभ्य-जनोचित सीमा का अतिक्रमण नहीं किया है। उदाहरण के लिए वे देखते थे कि पाखण्डों को सहारा तो धनी, निर्धन सभी से मिल जाता था किन्तु धनी इन पाखण्डों पर धन व्यय करके इनके प्रचार में अधिक सहायक सिद्ध हो रहे थे। ऐसी स्थिति में वे आलंकारिक भाषा का प्रयोग करके अपनी समालोचना को सभ्य-सीमा में भी रखते हैं, और खण्डन को अधिक मर्मस्पर्शी भी बना देते थे। वे 'मूर्ख-धनी' न कहकर "आँख का अन्धा और गांठ का पूरा" जैसे मुहाविरों का प्रयोग किया करते थे। इसी प्रकार सम्बन्ध एवं सन्दर्भ विच्युत उद्धरणों को स्वार्थवश एक साथ जोड़कर कुछ सिद्ध करने की चेष्टा पर स्वामीजी कहते थे :

---

1. डा० स० वि० कृत आर्यसमाज का इतिहास, भाग-1, पृ० 77

2, स० प्र० भूमिका पृ० 6

"कहीं का ईंट, कहीं का रोड़ा
भानुमती ने कुनबा जोड़ा"

स्वामीजी ने जगह-जगह पर मुहावरे, कहानियाँ, व्यास-पद्धति, विवाद पद्धति जैसी अनेक प्रकार की कलाओं को अपनी खण्डन-मण्डन-पद्धति में प्रयोग किया है।

स्वामीजी ने भारतीय मूल के मत-मतान्तरों की समालोचना की है। जैन, बौद्ध, ब्राह्म-समाजी, प्रार्थना-समाजी, दादू-पन्थी, कबीर-पन्थी आदि सभी पन्थों की समालोचना की है। ईसाई मत और इस्लाम मत की समालोचना के लिए उन्होंने अलग-अलग एक-एक समुल्लास लिखे हैं। ईसाइयों की समालोचना तेरहवें समुल्लास में और इस्लाम की समालोचना चौदहवें समुल्लास में की है।

स्वामी दयानन्द की आलोचना से ईसाई इसलिए नाराज थे कि स्वामीजी ने बाइबल के खण्डन के साथ ही अंग्रेजी राज का भी विरोध किया है। ईसाइयों का शासकीय मोर्चा तो स्वतन्त्रता आन्दोलन में निर्बल पड़ गया किन्तु उसके पहले ईसाइयो ने सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध पूरा युद्ध छेड़ रखा था जिसका कुछ दिग्दर्शन हमने इसी ग्रन्थ में अन्यत्र किया है।[1]

धार्मिक मोर्चे पर ईसाइयों की लड़ाई विज्ञान और विद्या के विस्तार के साथ हो रही थी। कार्लाइल के सम्बन्ध में कहा जाता है—"He (Cariyle) did not think it possible that educated honest men could even profess much longer to believe in Historical Chrischianity."

अर्थात् कार्लाइल को यह सम्भव नहीं दिखाई देता कि ईमानदार शिक्षित व्यक्ति ईसाई मत में अधिक दिन विश्वास कर सकेगा।

बर्मिंघम के डा० बिशप ने सितम्बर सन् 1934 में माडर्न चर्चमेन्स कांग्रेस में कहा था :

---

1. इसी ग्रन्थ में प्रशासनिक और साम्प्रदायिक आक्रमण, अध्याय 4

"The first chapter of Jenesis obviously cannot be harmonised with the scientific conclusions which naturally all English children now learn as a part of their education. Our modern out-look has created a background of thought against which we cannot maintain the traditional belief in the infallibility of scriptures."

अर्थात् बाईबिल के उत्पत्ति प्रकरण के प्रथम अध्याय को जो स्वाभाविक तौर पर सब अंग्रेज बालकों को स्कूलों में पढ़ाया जाता है, वैज्ञानिक निष्कर्षों के साथ संगति नहीं लगाई जा सकती। हम धर्म-ग्रन्थ बाईबल के निर्भ्रान्तता के सिद्धान्त को अब स्वीकार नहीं कर सकते।

कैम्ब्रिज के डिविनिटी के प्रोफेसर बेथून बेकर ने इसी सभा के सभापति पद से कहा था :

"Though in the past, the Church has treated all the New Testament as literally true, we cannot do so today. We know, it did not really happen always quite like that."

अर्थात् यद्यपि भूतकाल में ईसाई गिरिजाघरों में न्यु टेस्टामेण्ट को अक्षरशः सत्य माना जाता रहा है, आज हम वैसा नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि वस्तुतः इसकी उत्पत्ति और उसके पुनरुत्थान आदि का वृत्तान्त ठीक उस रूप में नहीं हुए जैसा कि बाइबिल में वर्णित है।[1]

[यह सम्पूर्ण अंश हमने 'श्रुति-सौरभ' से लिया है।] कर्ता का नाम)

इस प्रकार ईसाई मतवाले प्रचारक मिशनरी लोगों ने अपनी हार साम्राज्यवादी मोर्चे पर भी देख ली थीं तथा विद्या और तर्क के मोर्चे पर भी देख ली थी तथा विद्या और धर्म के मोर्चे पर भी देख ली थी। वे सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध आन्दोलन करने और प्रशासकीय व्यवस्था करने-कराने से विरत से हो गये। अतः, यद्यपि स्वामी दयानन्दजी ने

1. प० शिवकुमार शास्त्रोक्त 'श्रुति-सौरभ' पृ० 209

ईसाई मंत की समालोचना अधिक तीखी की है पर उनकी ओर से स्वामी दयानन्द और सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध प्रतिवाद समाप्त-सा हो गया।

मुसलमानों की स्थिति भिन्न है। मुसलमान मुल्ला-मौलवियों में कुछ लोग पाकिस्तान के समर्थक थे और वे हिन्दू-मुसलमानों में साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ाकर अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में वर्णित कुरान शरीफ के खण्डनों को खूब उछाला और स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के विरुद्ध पूरे जोर शोर से विष-वमन किया। किन्तु हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द अधिक शिष्ट, शालीन, सभ्यतापूर्ण समालोचना करने वाले हैं। अन्य सुधारकों और विद्वानों ने स्वामीजी से अधिक तीखी समालोचना की हैं। कबीरदास की समालोचना तो अक्खड़ उद्दण्डता तक पहुँच जाती है किन्तु सन्त कबीर दास बड़े प्रसिद्ध सुधारक कवि हुए हैं। उनका बड़ा प्रसिद्ध दोहा है :

कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाय।
ता ऊपर मुल्ला बाँग दे, क्या बहरा भया खुदाय।।

स्वामी दयानन्द अपने खण्डनों में ऐसी ठोकर नहीं मारते।

मुसलमान अपने को बुतपरस्त नहीं बुतशिक़न मानते हैं किन्तु किबला की तरफ मुँह करके नमाज पढ़ते हैं। स्वामीजी कहते हैं कि यह तो एक प्रकार से बुतपरस्ती ही है, बल्कि यह मूर्त्तिपूजा से बड़ी बुतपरस्ती है। स्वामी लिखते हैं :

"जबतक अपनी बड़ी बुतपरस्ती दूर न कर दो तब तक तुम्हें दूसरे छोटे बुतपरस्तों को तरदीद करने से शरमसार होकर पृथक् रहना चाहिए और अपनेको बुतपरस्ती से बाज रखकर पवित्र करना चाहिए।"

हज्ज के लिए जाने वाले हाजी लोग मस्जिद की परिक्रमा भी करते हैं, सिजदा भी करते हैं तो यह बुतपरस्ती से कम क्या हुआ ? श्री हितैषी अलावलपुरी ने 'शमसतबरीज' की कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं :

एक कौम बाज अख्तर कुजा दीर कुजाअसोद
माशूक हमी जासत आयद नायद
माशूक तो हमसामा तो दीवार तदीवार
देवादई सरमशता चरायद चरायद।

अर्थ :—ऐ हज को जानेवालो ! कहाँ हो कहाँ ? तुम्हारा प्यारा तो यहीं हैं। लौट जाओ, लौट जाओ। तुम्हारा प्यारा तो तुम्हारा पड़ोसी है। तुम्हारी उसकी दीवार मिली हुई है, तुम वीराना में क्यों भटक रहे हो ?

इसी प्रकार मौलाना अलताक हुसैन 'हम्ली', 'मद्दोजजर-इस्लाम में फ़रमाते है :

करें गैर बुत की पूजो तो काफिर
जो ईसा को माने खुदा पुत्र काफिर
मगर मोमिनों को कुशादा हैं राहें
करें शौक से जिसकी पूजा वुह चाहें
मजारों पे जा जा के नजरें चढ़ाएँ
शहीदों से जा जा के मांगें दुआएँ
न ईमान जाए न दीन इससे जाए
न इस्लामी तौहीद में फरक आए

इस प्रकार खण्डन करने वालों की श्रेणी में स्वामी दयानन्द जहाँ विद्या और तर्क का सहारा लेते हैं, वहीं वे अपनी आलोचनाओं को मर्यादित भी रखते हैं। सत्य और मानवहित की रक्षा उनके खण्डन के आधार स्तम्भ हैं।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

सत्यार्थप्रकाश कालजयी ग्रन्थ है। यह युगान्तरकारी-युगनिर्माता-युगविधाता ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करने वाले की जीवनधारा बदल जाती है, चिन्तनधारा और तर्कशैली में परिवर्तन हो जाता है। इस ग्रन्थ के पाठक के चिन्तन, मनन और आचरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। यह मानव-मन्तव्य का अनुपम, अद्वितीय ग्रन्थ है। विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्तव्य का बोध कराने वाला दूसरा कोई अन्य ग्रन्थ इसके समकक्ष दिखाई नहीं पड़ता। विश्व की प्रायः सभी प्रमुख धार्मिक मान्यताओं के सम्बन्ध में तर्कबुद्धिसंगत विचार इस ग्रन्थ में वर्णित हैं। वस्तुतः यह विश्वधर्म कोष है।

इस ग्रन्थ में वर्णित प्रायः सभी विषयों के अपने सन्दर्भ हैं। ये सन्दर्भ कहीं धार्मिक विषयों से सम्बन्धित हैं तो कहीं दार्शनिक, कहीं-कहीं सामाजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ भी हैं। आज से शताधिक वर्षों पूर्व इन सन्दर्भों पर प्रकाश डालने की उतनी आवश्यकता न थी, जितनी आज के परिवेश में है। वह अन्धकारमय, रूढ़िग्रस्त, साम्प्रदायिक संघर्षों से भरपूर युग था। अद्यतन विद्या, विज्ञान, यातायात की सुविधा, संसार-सम्पर्क, जनकल्याण की ओर रुझान, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी सूझ-बूझ, सबका अभाव था। सत्यार्थप्रकाश में वर्णित प्रसङ्गों के साथ बौद्धिक न्याय तभी हो सकता है जबकि उन प्रसङ्गों पर अपेक्षित सन्दर्भ प्रकाशित कर दिये जाँय। एकेश्वरवाद, कुमारभृत्या, संस्कृत-वाङ्मय का समन्वित पाठ्यक्रम, वर्णाश्रम कर्तव्य, ईश्वर-जीव-प्रकृति के सम्बन्ध में विवेचन, मतमतान्तरों की विचित्र मान्यताएँ, पौराणिक, नास्तिक बौद्ध-जैन, ईसाई, इस्लाम सभी मान्यताओं का सन्दर्भज्ञान प्रायः अपेक्षित है।

आज के उन्नत युग में, ज्ञान-विज्ञान की आशातीत उन्नति के साथ रूढ़िवादी मतमतान्तरों की मान्यताएँ बदलने लग गई हैं। धर्मग्रन्थों के अनुवाद, ज्ञान-विज्ञान के अभिनव परिवेश में, संशोधित एवं परिष्कृत होकर प्रकाश में आ रहे हैं। शतोधिक वर्षों पूर्व के सन्दर्भ इस युग में नूतन स्वरूप एवं नूतन आयाम पा रहे हैं। सत्यार्थप्रकाश जैसे युगान्तर-कारी-युगनिर्माता ग्रन्थरत्न के अध्येताओं के लिए अपेक्षित सन्दर्भज्ञान आवश्यक है। वर्त्तमान पीढ़ी के लिए और उससे भी अधिक भावी पीढ़ियों के लिए यह सन्दर्भज्ञान और ग्रन्थकर्त्ता के साथ न्याय कर पाना असम्भव हो जायगा। एक उदाहरण से हम अपनी बात स्पष्ट कर रहे हैं :

पौराणिक मान्यता थी कि पृथ्वी चटाई की तरह चपटी है, स्थिर गतिहीन है, बैल के सींग पर टिकी हुई है, शेषनाग के फण पर अवस्थित है, इत्यादि। स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार की विद्याविहीन सहस्रों-सहस्र मान्यताओं का निराकरण किया है। इस तरह की मान्यताएँ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, आस्तिक, नास्तिक सभी में प्रचुरता से पायी जाती थीं, अभी भी अनेकानेक मान्यताओं का साम्राज्य उतना ही प्रभावशाली है। अतः इन सन्दर्भों की चर्चा अपेक्षित हैं।

सन्दर्भों की और भी एक दिशा बनती है। स्वामीजी ने सत्यार्थ-प्रकाश में जो कुछ कहा है, उसके सन्दर्भ में बहुत-से विद्वानों, विचारकों साम्प्रदायिकों, राजनेताओं, समाज-सुधारकों ने भी बहुत कुछ कहा है, कभी पक्ष में, कभी विपक्ष में; कभी खण्डन में और कभी मण्डन में। यह सब अतिस्वाभाविक भी था। सत्यार्थप्रकाश, ग्रन्थ क्या, ग्रन्थरत्न है। यह युगान्तरकारी युग निर्माता हैं। यह भारतीय नव जागरण के अद्वितीय पुरोधा की अद्वितीय कृति है। प्रसिद्ध शिक्षाविद्, मूर्धन्य साहित्यकार विद्वान् विचारक डा॰ सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के निम्न विचार मननीय हैं।

"ऋषि दयानन्द ने जो कुछ कहा और लिखा उसे वे 'सत्यार्थ-प्रकाश' ग्रन्थ में लिखकर छोड़ गये हैं। उनके इस ग्रन्थ को पढ़कर मनुष्य आश्चर्य

में पड़ जाता है और सोचने लगता है कि इतना बृहत्काय ग्रन्थ और इतना प्रामाणिक ग्रन्थ अपने घटनापूर्ण और संक्षिप्त जीवन काल में कोई कैसे लिख सकता है ?

"ऋषि ने अपना यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कुल साढ़े तीन महीनों में लिखा था। इस ग्रन्थ में 373 ग्रन्थों का हवाला है तथा 1542 वेदमन्त्रों या श्लोकों का प्रमाणों सहित उद्धरण दिया गया है। चारों वेद, सभी ब्राह्मण ग्रन्थ, सभी उपनिषद, छहो दर्शन, सभी स्मृति, अठारह पुराण, सूत्र-ग्रन्थ, गृह्यसूत्र, जैन तथा बौद्धग्रन्थ, बाइबिल, कुरान—सबका उद्धरण ही नहीं, उनका रेफ़रेन्स भी इस ग्रन्थ में दिया गया है। किस ग्रन्थ में कौन-सा मन्त्र या श्लोक या वाक्य कहाँ है, उसकी संख्या क्या है, यह सब कुछ साढ़े तीन महीनों में लिखे गए ग्रन्थ में मिलता है। आज का कोई रिसर्च स्कॉलर अगर किसी विश्वविद्यालय की संस्कृत की अप-टू-डेट लायब्रेरी में, जहाँ सभी ग्रन्थ उपलब्ध हों, इतने रेफ़रेन्स वाला ग्रन्थ लिखना चाहे तो भी उसे सालों लग जायें। साधारण ग्रन्थ की बात दूसरी है। ऋषि दयानन्द का हर-एक ग्रन्थ मौलिक विचारों का खजाना है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसने समाज को एक सिरे से दूसरे सिरे तक झकझोर दिया है। जिन ग्रन्थों ने संसार को झकझोरा है उनके निर्माण में सालों लगे हैं। कार्ल मार्क्स ने 34 वर्ष इंगलैण्ड में बैठकर "कैपिटल" ग्रन्थ लिखा था जिसने विश्व में नवीन आर्थिक दृष्टिकोण को जन्म दिया। परन्तु 1889 की जून में चीन ने उसका फजीती कर दिया। कार्लमार्क्स का आर्थिक ढाँचा चीन में करोड़ों की लाशों पर खड़ा हो गया। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश साढ़े तीन महीनों में लिखा, जिसने नवीन सामाजिक दृष्टिकोण को जन्म दिया। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग था, मार्क्स के ग्रन्थ ने यूरोप का आर्थिक ढाँचा हिला दिया, ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ ने भारत का सांस्कृतिक तथा सामाजिक ढाँचा हिला दिया।

"सत्यार्थप्रकाश चुने हुए क्रान्तिकारी विचारों का खज़ाना है—ऐसे विचार जिन्हें उस युग में कोई सोच भी नहीं सकता था। समाज की

रचना "जन्म" के आधार पर न होकर "कर्म" के आधार पर होनी चाहिए। ऋषि दयानन्द का यही एक विचार इतना क्रान्तिकारी है कि इसके क्रिया में आने से हमारी 90 प्रतिशत समस्याएँ हल हो सकती हैं। ऐसे संगठन में "जन्म" से न कोई नीचा, न कोई ऊँचा, न कोई जन्म से गरीब, न कोई अमीर, जो कुछ हो कर्म से हो। ऐसी स्थिति में कौन सी समस्या है जो इस सूत्र से हल नहीं हो जाती ? शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का विचार ऋषि दयानन्द की ही देन है जिसे पकड़ कर उत्तर भारत में जगह-जगह गुरुकुलों का जाल बिछ गया था। आज भी हमारी शिक्षा-प्रणाली की जो छीछालेदर हो रही है उसका इलाज गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के सिद्धान्तों में ही निहित है। लोकमान्य तिलक ने कहा था—"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।" दादाभाई नौरोजी ने 'स्वराज्य" शब्द का प्रयोग किया था। इन सबसे पहले ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में लिखा था : "कोई कितना ही कहे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" अंग्रेजों के राज्य में कोई व्यक्ति यह लिखने का साहस कर सकता हो—यह जान कर आश्चर्य होता है।

"आज जिन समस्याओं को लेकर हम उलझे रहते हैं, हरिजनों की समस्या, गरीबों की समस्या, नियम तथा व्यवस्था की समस्या, शिक्षा की समस्या, देश-भाषा की समस्या, चुनाव की समस्या, गौ-रक्षा की समस्या, नसबन्दी की समस्या, नवयुवकों की समस्या, सबसे बढ़कर वेदार्थ की समस्या—कौन सी समस्या है जिसका हल ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में मौजूद नहीं है। और, कौन-सा हल है जो आज के राजनीतिज्ञों ने ढूँढ़ निकाला है जो ऋषि दयानन्द ने पहले से नहीं दिया।"[1]

ऐसे ग्रन्थ का जितना प्रचार हो, वह कम ही है। सत्यार्थप्रकाश को प्रकाशित हुए 105 वर्ष के करीब हो गये। सन् 1884 ई० में इसका संशोधित रूप प्रकाशित हुआ। आज सन् 1990 ई० में 106 वर्ष होने जा रहे हैं। इतने वर्षों में बीस लाख से ऊपर की संख्या में इसकी बिक्री हो

1. डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार—चतुर्वेदगंगा लहरी पृ० 358—359

चुकी। हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, देशी-विदेशी, सभी प्रकार के उच्च विचारकों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर गया है। अधिकतर विचारकों ने इसके महत्त्वपूर्ण अवदान के प्रति सहमति के भाव रखे हैं।

स्वामी दयानन्द सत्य के सेनानी थे। सत्य की रक्षा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने में उन्हें विन्दुमात्र की झिझक न थी। उनके जीवन का उद्घोष था[1] :

> "अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
> न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदन्न धीराः।"

सत्य के ऐसे सेनानी का पाखण्ड और रूढ़िवादी परम्पराओं के साथ समझौता असम्भव था। सभी मतमतान्तर वालों ने स्वामीजी के विरुद्ध लेखनी उठायी। यह बहुत अस्वाभाविक भी न था। किन्तु भक्तों, प्रशंसकों, समर्थकों की संख्या लाखों-करोड़ों में पहुँच गयी। जो आर्य-समाज के सदस्य हैं वे तो हैं ही ऋषि के भक्त-अनुयायी। साथ ही आर्य समाज से बाहर करोड़ों-करोड़ व्यक्ति ऋषि के विचारों के पूर्णतः या अंशतः समर्थक एवं प्रशंसक हैं। ऐसे व्यापक प्रभाव वाले ग्रन्थ ने प्रशंसा और सहानुभूति पायी है, तो खीझ और विरोध भी इसे कम नहीं मिला है।

ब्रिटिश सरकार के यहाँ शिकायत हुई कि यह ग्रन्थ सरकार का राज्य समाप्त कर भारतीयों के लिए स्वराज्य की शिक्षा देता है। यह शिकायत अपने में ठीक भी थी। क्रान्तिकारियों के भीष्मपितामह श्यामजी कृष्ण वर्मा इसीकी उपज थे। बलिदानियों के उग्रतम सेनानी अमर शहीद राम प्रसाद बिस्मिल का यह प्राणप्रिय ग्रन्थ था जिसे वे कालकोठरी में भी रखते थे। स्वातन्त्र्य संग्राम के अग्रगण्य सेनानी, पञ्जाब केसरी लाला लाजपतराय इस ग्रन्थ रत्न को अपना निर्माण करनेवाला ग्रन्थ मानते थे। कहा जाता है, कि लालाजी कहा करते थे, 'सत्यार्थप्रकाश मेरी माँ है।'

---

1. सत्यार्थप्रकाश का पृ० 952

इस ग्रन्थ पर सरकार के यहाँ मुक़दमे चले, कमीशन बैठे, राजनयिक सम्मतियाँ, नौकरशाही सम्मितियाँ, फौजी अफसरों की सम्मतियाँ—कितना विचार हुआ इस महाग्रन्थ पर। किसी ने ठीक ही लिखा है—

जिसने बदली दिशा जगत् की,
धरती और आकाश की
जय बोलो ऋषि दयानन्द की,
जय सत्यार्थप्रकाश की॥

किसी एक ग्रन्थ पर इतने मुक़दमे, कमीशन, कमीटियाँ, जाँच-पड़ताल, भारतवर्ष में तो सुनने में नहीं आता। और मज़े की बात यह कि इसके ऊपर कभी न कोई जुर्म सिद्ध हुआ, न कभी कोई प्रतिबन्ध लगा। यह कालजयी ग्रन्थ अपनी अडिग-अटल स्थिति बनाये ही रहा।

विरोधियों को, शिकायत करनेवालों को सदा ही मुँह की खानी पड़ी और सत्यार्थप्रकाश और इसके लेखक स्वामी दयानन्द सरस्वती का सम्मान बढ़ता रहा।

भारतीय सेना में आर्यसमाजी सिपाहियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। विशेष रूप से जाट रेजिमेण्ट में आर्यसमाज और सत्यार्थप्रकाश का ज़ोर था। इधर 1907 ई० में 1857 ई० के प्रथम स्वातन्त्र्य विद्रोह की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर सेना के देशभक्त जवानों की ओर से सेना के अधिकारियों का शंकालु हो उठना सहज रूप से ही समझ में आता है।

सेनाओं की गतिविधियों की रिपोर्टों में आर्यसमाज और एक दो बार सत्यार्थप्रकाश पर भी विचार हुआ है। इन सभी प्रसंगों का बड़ा सुन्दर और प्रामाणिक विवरण आर्यसमाज के सप्तखण्डीय इतिहास के चतुर्थ भाग अध्याय 12 में आया है। इस अध्याय के लेखक इतिहासविद् प्रो० हरिदत्त वेदालङ्कार एम० ए० हैं। स्वाभाविक है कि अंग्रेजी सेना के सिपाहियों में देशभक्ति, राष्ट्रीता, स्वतन्त्रता प्रेम आदि गुण आपत्तिजनक ही माने जाँयगे। फिर भी अंग्रेज सरकार ने कभी सत्यार्थप्रकाश को

प्रतिबन्धित करने का निर्णय नहीं लिया। यह प्रसङ्ग तो उठा है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में "लेफ्टीनेन्ट कर्नल हन्टर ने चार सिपाहियों को सत्यार्थप्रकाश रखने और मांस न खाने के आरोप में बर्खास्त कर दिया था।"[1]

लगभग 1906 से 1910 तक अनेक रिपोर्टें, निर्णय, आदेश आदि होते रहे हैं। जो व्यक्ति, चाहे साधारण नागरिक हो या सैनिक, सत्यार्थ-प्रकाश के सम्पर्क में आ जाता है, उसका व्यवहार, आचरण, कर्त्तव्यनिष्ठा सामान्य जनसाधारण की तुलना में स्पृहणीय एवं आदरणीय हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः व्यक्तिगत रूप में आर्यसमाजी दण्डनीय नहीं समझे गये। लेफ्टिनेन्ट कर्नल प्रेसी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है, "व्यक्तिगत रूप से मैं सत्यार्थप्रकाश में राजद्रोह की कोई बात नहीं ढूँढ़ सका हूँ।"[2]

उपर्युक्त सन्दर्भों की चर्चा करने से यह तो समझ में आता ही है कि पूर्वाग्रहग्रस्त या प्रशासनिक अथवा फिर सैनिक, सत्यार्थप्रकाश से कुछ लोग खीझे, कुछ क्षुब्ध हुए। किन्तु इस ग्रन्थरत्न का विस्तार बढ़ता ही गया। लाखोंलाख, 20 लाख से अधिक प्रतियाँ बिक गईं। प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में इसके अनुवाद हो गये।

वैसे तो सत्यार्थप्रकाश के कारण वैचारिक क्षेत्र में अतुलनीय क्रान्ति हुई है किन्तु साम्प्रदायिक क्षेत्र का क्षोभ और प्रतिक्रिया देखते ही बनती है। सत्यार्थप्रकाश के विरोध में कितने व्यक्तियों ने कितनी दिशाओं से लेखनी उठायी, कितने ग्रन्थ लिखे गये। पुनः सत्यार्थप्रकाश के समर्थन में भी प्रायः उन उन ग्रन्थों के उत्तर-प्रत्युत्तर लिखे गये। इतिहास की दृष्टि

---

1. प्रेसी की रिपोर्ट Home Political Dept. Procee (Secret) Part B Aug 1910 No. 22 आर्यसमाज का इतिहास भाग 4, पृ० 306
2. वही पृ० 307

से यह सब अद्भुत प्रयास है। हमने यथासाध्य यावत् उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री को सन्दर्भबद्ध बनाने की भरपूर चेष्टा की है।

स्वामी दयानन्दजी धर्म, देश, राष्ट्र, मनुष्यमात्र के कल्याण की कामना से कार्यरत थे। धार्मिक दृष्टि से उनका सामना भारतीय मूल के धर्मों (पौराणिक हिन्दू धर्म, जैन, बौद्ध आदि) से तो था ही, ईसाई और मुसलमानों से भी उनके तर्क-वितर्क, शास्त्रार्थ आदि होते रहते थे। अकेले स्वामी दयानन्द तीनों मोर्चों पर डटे थे। प्रसिद्ध साहित्यकार श्री रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है।[1]

> "अकेले ही, उन्होंने (स्वामी दयानन्द ने) तीन-तीन मोर्चों पर संघर्ष आरम्भ कर दिया। दो मोर्चे तो ईसाइत और इस्लाम थे, किन्तु, तीसरा मोर्चा सनातन धर्मी हिन्दुओं का था, जिनसे जूझने में स्वामीजी को अनेक अपमान, कुत्सा, कलंक और कष्ट झेलने पड़े। उनके प्रचण्ड शत्रु ईसाई और मुसलमान नहीं, सनातनी हिन्दू ही निकले और, कहते हैं, अन्त में इन्हीं हिन्दुओं के षड्यन्त्र से उनका प्राणान्त भी हुआ। दयानन्द ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलायी थी, उसका कोई जवाब नहीं था। वे जो कुछ कह रहे थे, उसका उत्तर न तो मुसलमान दे सकते थे, न ईसाई, न पुराणों पर चलनेवाले हिन्दू पण्डित और विद्वान्। हिन्दू-नवोत्थान अब पूरे प्रकाश में आ गया था और अनेक समझदार लोग, मन ही मन, यह अनुभव करने लगे थे कि, सच ही, पौराणिक धर्म में कोई सार नहीं है।"

रूप तो चाहे यह संघर्ष का ही बना, किन्तु स्वामी दयानन्द को

1. श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' संस्कृति के चार अध्याय पृ० 562-563,

संघर्ष नहीं अपितु, सत्य का प्रचार ही इष्ट था। 'सत्यार्थप्रकाश' ग्रन्थ को समाप्त करते समय उन्होंने लिखा है :

"और जो मतमतान्तर के परस्पर-विरुद्ध झगड़े हैं, उनको मैं प्रसन्न (पसन्द) नहीं करता। क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसाके परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट, सर्व-सत्य का प्रचार सबको ऐक्यमत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीति युक्त कराके, सबसे सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।"[1]

स्वामीजी का अभिप्राय तो चाहे भले ही सत्य का प्रचार और सबसे सबको सुखलाभ पहुँचाने का था। किन्तु, सत्य के प्रचार के लिए असत्य से लड़ना तो पड़ता ही है। भले ही यह लड़ाई तर्क की होती है, विचार-विनिमय की होती है, शास्त्रार्थ और बहस-मुबाहिसे की होती है; किन्तु इसमें भी लागडॉट, नोकझोंक, मनमुटाव सहज ही स्वाभाविक होता है। वैसे तो, स्वामीजी विचारों को भी बलात्, बलपूर्वक, किसी पर थोपना नहीं चाहते थे। वे लिखते हैं :

"और सत्याऽसत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने वा माने। किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता :"[2]

यह सब होते हुए भी, जिनकी समालोचनाएँ हुई हैं, जिनकी मान्यताओं को मिथ्या या अविद्याजन्य सिद्ध किया गया है, उनका तिलमिला

1. सत्यार्थप्रकाश पृ० 960
2. सत्यार्थप्रकाश पृ० 839

उठना भी सहज़ बोधगम्य है। किन्तु यदि चेहरे पर लगी कालिख दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाय, और कालिख-मुख व्यक्ति दर्पण पर ही क्रोध उतारने लगे, तो इसे साम्प्रदायिक हठधर्मिता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकेगा ? कविवर श्री उत्तमचन्द 'शरर' की एक कविता है :

आइना चेहरे का हर दाग दिखा देता है,
उसको फितरत का तकाजा है यह,
शिकवा कैसा ?
आप 'सत्यार्थ' को आलोचना से क्षुब्ध न हों,
अपने चेहरे को धो डालिए, गुस्सा कैसा ?

अपने चेहरे को धो डाले तो साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह और मतान्धता समाप्त हो जाती है। किन्तु अपनी मान्यताओं को सत्य प्रमाणित करने के लिए, अन्य मतावलम्बियों ने सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित कीं। पुनः इन विरोधी पुस्तकों के खण्डन और सत्यार्थप्रकाश के मण्डन में आर्यसमाज के विद्वानों ने भी बड़ी विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित भी कीं। यह खण्डन-मण्डन शृङ्खला कई बार कई लड़ियों में पिरोयी गई और प्रायः अन्तिम लड़ी, अन्तिम बाज़ी, आर्यसमाज के समर्थक विद्वानों के हाथ ही रही है। हाँ, उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी दो-तीन पुस्तकें अनुत्तरित रही हैं। संगठन और विद्वत्समाज दोनों के लिए, यह कोई प्रतिष्ठा की बात तो नहीं है, लेकिन इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि विरोधी लेखकों ने कोई ऐसे मुद्दे उठाये हैं या कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित कर दिये हैं, जिनका समाधान नहीं हो पाया है। वस्तुतः सत्यार्थप्रकाश के विरोध में विरोधी विद्वानों ने जितने प्रश्न उठाये हैं, उन सबका तर्क-प्रमाण-समन्वित यथेष्ट उत्तर ऋषि भक्त विद्वानों ने अति सफलता के साथ दे दिया है और तटस्थ निष्पक्ष अध्येताओं एवं विचारकों को यह सुस्पष्ट विश्वास हो गया है कि सत्यार्थप्रकाश अप्रतिम ग्रन्थ है एवं इसपर कोई उँगली नहीं उठा सकता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीवित होते तो इन विरोधी समालोचनाओं का क्या उत्तर देते, यह एक वैचारिक कल्पना का विषय है। स्वामीजी तो सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशन से पूर्व ही दिवंगत हो गये थे और इस प्रसङ्ग को हमने ग्रन्थ के इतिहास के प्रसङ्ग में विस्तार से लिखा है।[1] किन्तु उनके शिष्यों, भक्तों, अनुयायियों ने बड़ी योग्यता और पूर्ण सन्तोष के साथ सभी प्रश्नों एवं शंकाओं का समाधान किया है।

सत्यार्थप्रकाश को केन्द्र करके और स्वामी दयानन्द के आलोचना-पक्ष को लेकर एक मूल्याङ्कन श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने संस्कृति के चार अध्याय में निम्न रूप में उपस्थित किया है।[2]

"राममोहन और रानाडे ने हिन्दुत्व के पहले मोर्चे पर लड़ाई लड़ी थी, जो रक्षा या बचाव का मोर्चा था। स्वामी दयानन्द ने अक्रामकता का थोड़ा-बहुत श्रीगणेश कर दिया, क्योंकि वास्तविक रक्षा का उपाय तो आक्रमण की ही नीति है। सत्यार्थप्रकाश में जहाँ हिन्दुत्व के वैदिक रूप का गहन आख्यान है, वहाँ उसमें ईसाइयत और इस्लाम की आलोचना पर भी अलग-अलग दो समुल्लास हैं। अबतक हिन्दुत्व की निन्दा करने वाले लोग निश्चिन्त थे कि हिन्दू अपना सुधार भले करता हो, किन्तु, बदले में हमारी निन्दा करने का उसे साहस नहीं होगा। किन्तु इस मेधावी एवं योद्धा संन्यासी ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया। यही नहीं, प्रत्युत, जो बात राममोहन, केशवचन्द्र और रानाडे के ध्यान में भी नहीं आयी थी, उस बात को लेकर स्वामी दयानन्द के शिष्य आगे बढ़े और उन्होंने घोषणा कर दी कि धर्मच्युत हिन्दू प्रत्येक अवस्था में अपने धर्म में वापस आ सकता है एवं अहिन्दु भी यदि चाहें तो हिन्दू-धर्म में प्रवेश पा सकते हैं। यह केवल सुधार की वाणी नहीं थी, जाग्रत हिन्दूत्व का समरनाद था। और, सत्य ही, रणारूढ़ हिन्दुत्व के जैसे निर्भीक नेता स्वामी दयानन्द हुए, वैसा और कोई नहीं हुआ।

---

1. यही ग्रन्थ 'ऐतिहासिक सन्दर्भ' अध्याय 2
2. रामधारी सिंह दिनकर' सस्कृत के चार अध्याय पृ० 560-561
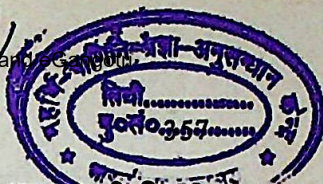
"इतिहास का क्रम कुछ ऐसा बना कि स्वामी दयानन्द की गिनती महाराणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्द को सरणी में की जाने लगी। किन्तु स्वामी दयानन्द मुसलमानों के विरोधी नहीं थे। स्वामीजी का जब स्वर्गवास हुआ, तब सुप्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ ने जो समवेदना और शोक प्रकट किया, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुस्लिम जनता के बीच भी स्वामीजी का यथेष्ट आदर था। स्वामीजी के बाद आर्यसमाज और मुस्लिम सम्प्रदाय के बीच का सम्बन्ध अच्छा नहीं रहा, यह सत्य है, किन्तु, स्वामीजी के जीवन-काल में ऐसी बात नहीं थी।

"सच पूछिये तो स्वामीजी केवल इस्लाम के ही आलोचक नहीं थे, वे ईसाइयत और हिन्दुत्व के भी अत्यन्त कड़े आलोचक हुए हैं। सत्यार्थ-प्रकाश के त्रयोदश समुल्लास में ईसाई मत की आलोचना है और चतुर्दश समुल्लास में इस्लाम की। किन्तु, ग्यारहवें और बारहवें समुल्लासों में तो केवल हिन्दुत्व के ही विभिन्न अंगों की बखिया उधेड़ी गयी है और कबीर, दादू. नानक, बुद्ध तथा चार्वाक एवं जैनों और हिन्दुओं के अनेक पूज्य पौराणिक देवताओं में से एक भी बेदाग नहीं छूटा है। वल्लभाचार्य और कबीर पर तो स्वामीजी इतना बरसे हैं कि उनकी आलोचना पढ़कर सहनशील लोगों की भी धीरता छूट जाती है। किन्तु, यह सब अवश्यंभावी था। यूरोप के बुद्धिवाद ने भारतवर्ष को इस प्रकार झकझोर डाला था कि हिन्दुत्व के बुद्धिसम्मत रूप को आगे लाये बिना कोई भी सुधारक भारतीय संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकता था। स्वामीजी ने बुद्धिवाद की कसौटी बनायी और उसे हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत पर निश्छलने भाव से लागू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक हिन्दुत्व तो इस कसौटी पर खण्ड-खण्ड हो ही गया, इस्लाम और ईसाइयत की भी सैकड़ों कमजोरियाँ लोगों के सामने आ गयीं।"

श्री दिनकरजी का दृष्टिकोण निश्चितरूप से एक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही कालक्रम का अध्ययन भी इस विचार-

धारा से अधिक भिन्न नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु स्वामी दयानन्द सत्य के सेनानी थे। 'सत्यार्थप्रकाश' तो है ही सत्य के अर्थ का प्रकाश करने वाला। सत्य का प्रकाश भी किसी को कष्ट पहुँचाने के लिए नहीं, अपितु, मानव समाज को सुख पहुँचाने के लिए, उसकी उन्नति करने के लिए ही स्वामीजी को यह अभीष्ट था। वे चतुर्दश समुल्लास की अनुभूमिका में लिखते हैं।[1]

> "सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंग जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है।"

स्वामी दयानन्द का सर्वधर्म-समभाव का दृष्टिकोण भी परम उदार तो है ही, साथ ही वास्तविक समभाव का सर्वग्राही आधार-स्तम्भ भी है। चतुर्दश समुल्लास का समापन करते हुए स्वामीजी ने लिखा है :[2]

> "हम तो यही मानते हैं कि सत्य भाषण, अहिंसा, दया आदि शुभगुण सब मतों में अच्छे हैं। और बाकी वाद-विवाद, ईर्ष्या-द्वेष, मिथ्या भाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं।"

मानव मात्र के कल्याण की ऐसी उदात्त भावनाएँ सर्वत्र सुलभ नहीं हैं। सत्यार्थप्रकाश के प्रचार के साथ ऐसी भावनाएँ संसार में प्रचलित हों यही मनुष्य मात्र का अभीष्ट होना चाहिए।

विजयताम् महर्षिर्दयानन्दः सरस्वती
विजयताम् सत्यार्थप्रकाशः।

● ●
●

1. सत्यार्थप्रकाश पृ० 139
2. सत्यार्थप्रकाश पृ० 959
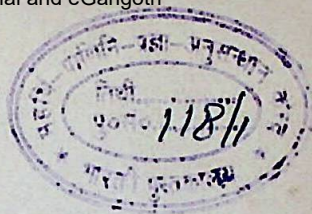
सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण—राजा जयकृष्ण दास प्रकाशित
2. सत्यार्थ प्रकाश— श्री युधिष्ठिर मीमांसक, शताब्दी संस्करण
3. ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक शताब्दी संस्करण
4. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली —सम्पा० प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु,
5. आर्यसमाज का इतिहास— डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार
6. The life of Ramkishna—Roman Rolland
7. सत्यार्थप्रकाश—स्वामी वेदानन्दजी का संस्करण
8. अष्टाध्यायी
9. सत्यार्थप्रकाश : आन्दोलन का इतिहास—हितैषी अलावलपुरी
10. चतुर्वेद गंगालहरी —डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
11. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह 'दिनकर'
12. श्रुति सौरभ—पं० शिवकुमार शास्त्री
13. विश्व धर्मकोश—डॉ० भवानीलाल भारतीय
14. परोपकारी का सत्यार्थप्रकाश विशेषांक मई १९७७ ई०

विशेष —इस ग्रन्थ में, अन्यथा निर्देश न रहने पर, सर्वत्र सत्यार्थ प्रकाश की पृष्ठ संख्या म० म० युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित शताब्दी संस्करण के अनुसार समझने की कृपा करें।
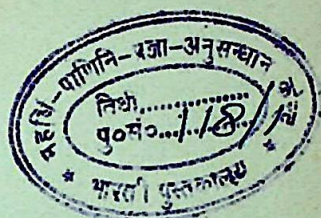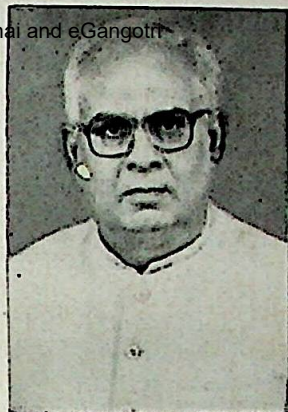
प्रो० उमाकान्त उपाध्याय (जन्म कार्तिक शु
चतुर्दशी सं० 1984 वि०) वृत्ति से अर्थशास्त्र
वरिष्ठ प्राध्यापक के पद पर तीन दशकों से
अधिक काल से सेठ आनन्दराम जयपुरिया काले
कलकत्ता, में प्रतिष्ठित हैं। प्रवृत्ति से आप मह
दयानन्द प्रतिपादित कल्याणपथ के सफल सा
एवं अथक प्रचारक हैं। पूज्य पितृचरण नागे
प्रसाद उपाध्याय एवं आचार्यचरण अग्रज रमाक
शास्त्री से जीवन साधना में प्रेरणा प्राप्तकर आप आ
समाज एवं महर्षि के लिए सर्वात्मना समर्पित है

प्रो० उपाध्याय आर्यसमाज कलकत्ता के मा
मुखपत्र 'आर्यसंसार' के विगत 33 वर्षों से सम्पा
के रूप में दर्जनों दुर्लभ ग्रन्थों का सम्पादन, सै
महत्त्वपूर्ण लेखों, दर्जनों लघु पुस्तकों एवं आर्यस
कलकत्ता के शतवर्षीय इतिहास लेखन के माध्य
साहित्य साधना में आत्मार्पित हैं।

आपने एक सफल व्याख्याता, प्रचारक
रूप में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित
है। 1978 ई० में केनिया की राजधानी नैरोब
एवं 1980 ई० में लण्डन में सम्पन्न होने वाले अ
र्राष्ट्रीय महासम्मेलनों में वैदिक धर्म का सफल प्र
निधित्व करने का श्रेय प्रो० उपाध्याय को प्राप्त

आपने 'युगनिर्माता सत्यार्थप्रकाश: सन्दर्भ
लिखकर साहित्य सेवा का एक नूतन अ
विस्तीर्ण किया है।

मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना, और [illegible] असत्य है उसको छोड़ना और [illegible]-वाना मुझको अभीष्ट है।

—स्वामी दयानन्द [illegible]

युगनिर्माता सत्यार्थप्रकाश

सन्दर्भ दर्पण

आर्यसमाज कलकत्ता